In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

व्यवसायिक खेती के लिए उपयुक्त

औषधीय एवं सुगंधीय पौधे

(द्वितीय संस्करण)

प्रकाशक
उद्यमिता विकास केन्द्र म.प्र. (सेडमैप) भोपाल

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

व्यावसायिक खेती के लिए उपयुक्त

औषधीय एवं सुगंधीय पौधे (द्वितीय संस्करण)

(62 औषधीय एवं सुगंधीय पौधों की कृषि तकनीक पर जानकारी प्रदान करने वाली पुस्तक)

Vaidyaraj Zandu Bhatji
National Ayurvedic Library
Punjabi Bagh, New Delhi
Call No...........................
Book No...........................
Acc. No...........................

स्व. कविराज गौरी लाल घानना
पूर्व सम्पादक एवं प्रधानमंत्री, अ.भा.आ. महासम्मेलन
के परिवार की ओर से
महासम्मेलन पुस्तकालय को सादर भेंट

प्रकाशक

उद्यमिता विकास केन्द्र मध्यप्रदेश (सेडमैप)

60, जेल रोड, जहांगीराबाद, भोपाल

फोन : 766437, 766461, 763514.

ई-मेल : cedmap@vsnl.com

वेबसाईट सम्पर्क : www.cedmapindia.com

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

32.	मरोड़फली (East Indian Screw Tree or Helicteres Isora)	118
33.	पपीते (Papaya) की खेती तथा पपेन का उत्पादन	119
34.	आंवला (Emblic Myrobalans) बागवानी एवं उससे लाभ	129
35.	बावची (Psoralea)	132
36.	स्ट्राबेरी (Strawberry) की खेती	133
37.	मेहन्दी (Lawsonia Inermis Linn) की व्यवसायिक खेती	137
38.	गुग्गुल (Commiphora Mukul) का कृषिकरण	141
39.	जोजोबा अथवा होहोबा (Jajoba)	144
40.	बहुपयोगी वृक्ष पोपुलर (Popular) की खेती	147
41.	बहुपयोगी वृक्ष - सिन्दूरी (Annato or Bixa Orellana)	149
42.	रतनजोत अथवा जेट्रोफा (Jatropha Curcas)	151
43.	अडूसा (Adhatoda Vasica)	155
44.	सेमल मूसली (Bombax Ceiba)	157
45.	लटजीरा (Achyranthes Aspera) अथवा अपामार्ग	159
46.	चन्द्रशूर (Common Cress or Lepidium Sativum)	161
47.	काली मूसली व काली हल्दी (Curculigo Orquaidis and Curcuma Ceasea)	163
48.	तुम्बा की खेती	165
49.	कौंच अथवा केवांच (Cowhage)	167
50.	केयोकन्द (Castus Spiosis)	171
51.	धतूरा (Datura)	173
52.	सदाबहार की खेती (Catherenthus Roseus)	175
53.	तगर अथवा जटामांसी (Valeriana Jatamansi Jones)	177
54.	तिलपुष्पी (फॉक्सग्लाव) की खेती (Foxglove)	179
55.	नागर मोथा (Cyperus Scariosus)	181
56.	तीखुर की कृषि तकनीक (Curcuma Angustifolia)	183
57.	शरपुंखा अथवा सरफोंका (Purple Tephrosia)	185
58.	खुरासानी अजवाइन (Egyption Henbane) की खेती	188
59.	गिलोय (Galo) - औषधीय उपयोग तथा कृषि प्रक्रियायें	191
60.	लहसुन (Garlic) की खेती	194
61	हल्दी (Curcuma Longa) की खेती तथा इससे लाभ	197
62.	अदरक (Ginger) की खेती	205
63.	बायबिडंग (Embelia Ribes Burm) का कृषिकरण	207
64.	ब्राम्ही (Centella Asiatica) की कृषि तकनीक	209
•	विभिन्न औषधीय/सुगंधीय पौधों की बिजाई हेतु लगने वाले बीजों/प्लांटिंग मेटेरियल के प्रमुख प्रदायकर्ता	211
•	विभिन्न जड़ी बूटियों तथा एसेन्शियल आयल्स के प्रमुख खरीददार	213
•	निर्यात हेतु प्रतिबंधित कुछ औषधीय पौधे	215
•	औषधीय उपयोग के कुछ अन्य पौधे तथा जड़ी-बूटियाँ	216

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्राक्कथन

वर्तमान समय में राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हर्बल उत्पादों एवं जड़ी-बूटियों की बढ़ती जा रही मांग, हर्बल उत्पादों के प्रति लोगों के पुर्नझुकाव तथा इनकी व्यवसायिक स्तर पर खेती के अत्यधिक लाभकारी होने जैसी विशेषताओं ने विशेष तौर पर ग्रामीण क्षेत्रों में जिस सर्वाधिक संभावना सम्पन्न व्यवसायिक क्षेत्र को जन्म दिया है वह है औषधीय पौधों की खेती तथा इनसे जुड़े व्यवसाय। समय-समय पर प्रस्तुत किये गये व्यवसायिक प्रतिवेदनों से यह स्पष्ट है कि गत दशक में इस क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय बाजार में प्रतिवर्ष 7% की दर से वृद्धि हुई है जिसके भविष्य में और अधिक बढ़ने की संभावना है, जोकि एक उत्साहवर्धक खबर है।

यह गर्व की बात है कि औषधीय महत्व की पाई जाने वाली अधिकांश जड़ी-बूटियां भारत में पाई जाती हैं। इस संदर्भ में मध्यप्रदेश अपेक्षाकृत ज्यादा सौभाग्यशाली है क्योंकि इनमें से ज़्यादातर प्रजातियां अकेले मध्यप्रदेश में पाई जाती हैं। परन्तु इसके साथ ही यह दुर्भाग्य की बात है कि एक तरफ जहां हमें इनमें से अधिकांश पौधों की व्यवसायिक महत्ता तथा उनके औषधीय गुणों की पहचान नहीं है वहीं इन जड़ी-बूटियों के अंधाधुंध विदोहन के कारण इनमें से अनेक जड़ी-बूटियां लुप्त होने की कगार पर हैं। परिणामत: शासन द्वारा इनमें से 40 से अधिक जड़ी-बूटियों को जंगल से एकत्रित करने पर प्रतिबंध लगाना पड़ा है। इन समस्त कारणों से यह आवश्यक हो गया है कि इन जड़ी-बूटियों की विधिवत खेती की जाए जिससे एक तरफ मांग के अनुसार गुणवत्तापूर्णक उत्पाद तैयार किए जा सकें, दूसरे इनके खरीददारों को इनकी निरंतर पूर्ति भी मिलती रहे।

यह चिन्ता की बात है कि एक तरफ जहां इनमें से अधिकांश पौधों की कृषि तकनीक की जानकारी जनसामान्य को उपलबध नहीं है वहीं इनकी पहचान करना भी एक समस्या है। इसके अभाव में हमारे आसपास, हमारे बगीचों तथा खेतों में पाए जाने के बावजूद हम इन पौधों को खरपतवार समझ कर नष्ट कर देते हैं। समय की इसी मांग को ध्यान में रखते हुये अत्यधिक व्यवसायिक महत्व के कई औषधीय पौधों की जनसामान्य को पहचान करवाने तथा इनकी स्थापित कृषि तकनीक की जानकारी प्रदाय करने का प्रयास उद्यमिता विकास केन्द्र मध्यप्रदेश (सेडमैप) द्वारा इस पुस्तक "व्यवसायिक खेती हेतु उपयुक्त औषधीय एवं सुगंधी पौधे" में किया गया है, जिसमें ऐसे 61 औषधीय एवं सुगंधीय पौधों के बारे में जानकारियां संकलित की गई हैं। सेडमैप के प्रयासों से गत तीन वर्षो में प्रदेश में लगभग 200 व्यक्तियों को जड़ी-बूटियों की खेती प्रारंभ करने के लिये प्रेरित किया जा चुका है। मुझे आशा है कि ऐसे ही अन्य उत्साही व्यक्तियों को इस संभावना सम्पन्न क्षेत्र में मार्गदर्शन प्रदान करने में यह पुस्तक एक मील का पत्थर साबित होगी।

(सन्दीप खन्ना)
प्रमुख सचिव,
वाणिज्य एवं उद्योग, मध्यप्रदेश शासन

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

उद्यमिता विकास केन्द्र मध्यप्रदेश (सेडमैप) पिछले लगभग एक दशक से विभिन्न क्षेत्रों में युवा वर्ग को स्वरोजगार और उद्यमिता की तरफ आकर्षित करने के लिए जागरुकता शिविरों, प्रशिक्षण कार्यक्रमों, गोष्ठियों तथा बैठकों आदि का आयोजन करता आ रहा है। इन सबके साथ ही अपने प्रकाशनों के माध्यम से स्वरोजगार और उद्यमिता की बात प्रभावी रूप से जनमानस तक पहुंचाने का कार्य भी संस्थान ने किया है। पिछले कई वर्षों में लोगों को रोजगार की बजाए स्वरोजगार की तरफ आकर्षित करने में संस्थान ने न केवल प्रयास किये हैं बल्कि लोगों को इस तरफ अपना कार्य क्षेत्र चुनने, उसे प्रारंभ करने और उसे सुचारु रूप से चलाने के लिए भी सहयोग प्रदान किया है। इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए संस्थान ने जहां अपनी मासिक व द्विमासिक पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारंभ किया है, वहीं दूसरी तरफ विभिन्न पुस्तकों का प्रकाशन भी किया है, जिससे विभिन्न क्षेत्रों में विस्तृत एवं सार्थक जानकारी पाठकों को दी जा सके। संस्थान द्वारा पूर्व में प्रकाशित की गई पुस्तकों व पत्र-पत्रिकाओं में पाठकों ने अत्यधिक रुचि दिखाई है और उन्होंने इन प्रकाशनों को अपने स्वरोज़गार प्रारंभ करने में काफी अधिक उपयोगी पाया है।

गत दो-तीन वर्षों से, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में, स्वरोज़गार के क्षेत्र में युवा वर्ग की ज्यादा से ज्यादा भागीदारी बढ़ाने के उद्देश्य से तथा स्थानीय संसाधनों के बेहतर उपयोग करने के उद्देश्य से सेडमैप द्वारा औषधीय एवं सुगंधीय पौधों की खेती तथा उनके प्रसंस्करण पर कई प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किये गये हैं। इन कार्यक्रमों के माध्यम से प्रशिक्षणार्थियों को औषधीय एवं सुगंधीय पौधों की खेती के बारे में विस्तृत जानकारियां दी जा सकीं। इस संदर्भ में देश के विभिन्न भागों से ऐसे विशेषज्ञों को आमंत्रित किया गया जिससे लोगों को विस्तृत और समुचित जानकारी उनकी आवश्यकतानुसार दी जा सके। इन प्रशिक्षण कार्यक्रमों का परिणाम यह रहा कि अभी तक पूरे प्रदेश में इन प्रशिक्षण कार्यक्रमों के माध्यम से लगभग 2000 व्यक्तियों को प्रशिक्षित किया जा चुका है जिनमें कृषक वर्ग, विभिन्न विभागों के प्रतिनिधियों एवं अन्य लोगों ने जिनकी औषधीय एवं सुगंधीय पौधों के संबंध में रूचि थी, भाग लिया है। इनमें से लगभग 300 व्यक्तियों ने विभिन्न स्तरों पर खेती या औषधीय एवं सुगंधीय पौधों के प्रसंस्करण के क्षेत्र में अपना कार्य सफलतापूर्वक प्रारंभ भी कर दिया है। इनके साथ-साथ इन प्रशिक्षण कार्यक्रमों में राजीव गांधी जलग्रहण मिशन, उद्यानिकी विभाग तथा कृषि एवं वन विभाग के अधिकारियों को जो प्रशिक्षण प्रदाय किया गया था उनके माध्यम से भी लगभग इतनी ही संख्या में और ज्यादा व्यक्तियों द्वारा विभिन्न पौधों की खेती व प्रसंस्करण के क्षेत्र में कार्य प्रारंभ किया गया है।

इसी परिप्रेक्ष्य में और अधिक अच्छी, अद्यतन, सरल तथा व्यवहारिक पाठ्य सामग्री पाठकों तक पहुंचाने के उद्देश्य से संस्थान ने पिछले वर्ष औषधीय एवं सुगंधीय पौधों की खेती से संबंधित एक पुस्तक संस्थान के संकाय सदस्य **डॉ. गुरपाल सिंह जरयाल** के समन्वयन में तैयार की थी, जिसका पाठकों पर बहुत अच्छा प्रभाव हुआ है। इस पुस्तक की उपयोगिता इस बात से स्वत: स्पष्ट होती है कि पुस्तक का प्रथम संस्करण एक वर्ष के अंदर ही समाप्त हो गया। फलत: डॉ. जरयाल द्वारा इस पुस्तक को पूरी तरह से संशोधित, नवीकृत एवं विस्तारित करके तथा इसमें लगभग 10 अतिरिक्त पौधों की खेती के बारे में जानकारी देकर इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण तैयार किया है। इस संस्करण को हम अपने पाठकों तक प्रेषित कर रहे हैं। भविष्य में पाठकों की प्रतिक्रियाओं, सुझावों आदि पर हम पुन: चर्चा एवं विचार करेंगे और उसको सम्मिलित कर आगे के संस्करणों में समायोजित करने का प्रयास करेंगे। हम अपने पाठकों, विशेषज्ञों और विभिन्न विभागों के अधिकारियों का धन्यवाद करते हैं जिन्होंने इस पुस्तक को इतना सराहा और हमारे प्रशिक्षकों को और अच्छी तरह से कार्य करने के लिए प्रेरित किया। हम पाठकों से पुन: अनुरोध करते हैं कि वे अपने विचारों से हमें अवश्य अवगत करायें जिससे हम इस सामग्री में आवश्यकतानुसार बदलाव एवं नवीनता ला सकें।

प. ना. मिश्र

(डॉ. पी.एन. मिश्र)
कार्यकारी संचालक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पुस्तक के पाठकों के लिए महत्वपूर्ण सूचना

1. जड़ी-बूटियों की खेती का क्षेत्र एक अपेक्षाकृत नया क्षेत्र होने के कारण इस पुस्तक में दी गई जानकारियों में कई विरोधाभास हो सकते हैं। उदाहरणार्थ ऐसा हो सकता है कि किसी फसल विशेष के संदर्भ में उपज की मात्रा किसी स्थान विशेष पर उतनी न निकले जितनी इस पुस्तक में दर्शाई गई हो। वैसे उपज की मात्रा अथवा फसल की गुणवत्ता अनेकों कारकों - जैसे बीज की गुणवत्ता, स्थानीय जलवायु, भूमि के उपजाऊपन, वातावरणीय दशाओं तथा इस संदर्भ में रखी गयी देख-रेख आदि पर निर्भर करेगी, परन्तु पाठकों से अनुरोध है कि किसी भी औषधीय अथवा सुगंधीय फसल की खेती करने से पूर्व सर्वप्रथम वे उस क्षेत्र का भ्रमण अवश्य करें जहां पर इस फसल की खेती की जा रही हो तथा इस बात को वे स्वयं सुनिश्चित करें कि क्या उनके क्षेत्र के लिए वह फसल उपयुक्त रहेगी अथवा नहीं।

2. क्योंकि अभी कई औषधीय फसलों की खेती से संबंधित प्रयोग केवल प्रयोगशाला स्तर तक ही सीमित हैं अत: जब इन्हें वृहद स्तर पर किया जाएगा तो इनके परिणामों में अन्तर आना स्वाभाविक है। अत: पाठक इस तथ्य का ध्यान अवश्य रखें कि प्रयोगशाला के आधार पर दिए गए विवरणों तथा वास्तविक रूप से खेती करने में इनके परिणामों में अंतर आ सकते हैं।

3. पुस्तक में दिए गए विभिन्न फसलों के बीज प्रदायकों के पते केवल पाठकों के मार्गदर्शन हेतु दिए गए हैं। ऐसा संभव है कि किसी बीज प्रदायक द्वारा प्रदाय किए गए बीज अथवा प्लांटिंग मेटेरियल का उगाव **(germination)** सही न हो, उगाव कम हो अथवा हो ही नहीं। ऐसा भूमि विशेष के प्रकार के कारण भी हो सकता है, जलवायु विविधता के कारण भी तथा संबंधित प्रदायकर्ता द्वारा प्रदाय किए गए बीजों की गुणवत्ता के कारण भी। अत: किसी भी बीज प्रदायकर्ता से बीज खरीदने से पूर्व पाठक अपनी भूमि / जलवायु के अनुसार इन बीजों / प्लांटिंग मेटेरियल की उपयुक्तता तथा संबंधित बीज प्रदायकर्ता के पूर्व कार्य निष्पादन का जायजा स्वयं लें तथा उसके उपरान्त ही उनसे बीज / प्लांटिंग मेटेरियल खरीदें। पुस्तक में बीज / प्लांटिंग मटेरियल प्रदायकर्ताओं के बारे में जानकारी केवल पाठकों के मार्गदर्शन हेतु दी गई है। किसी बीज / प्लांटिंग मेटेरयल प्रदायकर्ता द्वारा प्रदाय किए गए बीज / प्लांटिंग मेटेरियल के कम उगने अथवा बिल्कुल न उगने, उनके द्वारा अपेक्षाकृत ज्यादा कीमत लिए जाने अथवा उनके द्वारा प्रदाय किए जाने वाले बीजों / प्लांटिंग मेटेरियल से होने वाली किसी भी प्रकार की असुविधा अथवा हानि हेतु उद्यमिता विकास केन्द्र मध्यप्रदेश जिम्मेदार नहीं होगा।

4. कोई फसल विशेष किसी खेत के लिए उपयुक्त रहेगी अथवा नहीं, इसे सुनिश्चित करने के लिए संबंधित खेत की मिट्टी की जांच अवश्य कराएं।

5. पुस्तक में दिए गए विभिन्न जड़ी-बूटी क्रेताओं के पते तथा उनके द्वारा खरीदी जाने वाली जड़ी-बूटियों/ एसेन्शियल आयल्स की जानकारी पाठकों के महज मार्गदर्शन हेतु दी गई है। पाठकों के यह हित में होगा कि किसी भी क्रेता से व्यवहार करने से पूर्व वे उसके पूर्व व्यवहार, पूर्व निष्पादन, प्रतिष्ठा तथा व्यवसायिक व्यवहार की शर्तों के बारे में उनसे स्पष्ट चर्चा करें तथा उनके संदर्भ में विस्तृत जानकारी एकत्रित करें। तदुपरान्त ही आपस में व्यवसायिक व्यवहार करें।

संक्षेप में, इस पुस्तक में दी गई जानकारियाँ यहां केवल पाठकों के प्राथमिक मार्गदर्शन हेतु दी गई हैं तथा पाठकों से अनुरोध है कि इनसे संबंधित किसी भी प्रकार का निर्णय लेने से पूर्व वे उसके बारे में विस्तृत जानकारियाँ स्वयं एकत्रित करें। पुस्तक में दी गई जानकारियों के फलस्वरूप पाठकों को होने वाली किसी भी प्रकार की हानि अथवा असुविधा हेतु उद्यमिता विकास केन्द्र जिम्मेदार नहीं होगा।

❑ प्रकाशक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जड़ी-बूटियों की खेती करने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए

1. कुछ मार्गदर्शी सुझाव

अभी तक यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुका है कि परम्परागत फसलों की अपेक्षा जड़ी-बूटियों की खेती करना न केवल आर्थिक रुप से ज्यादा लाभकारी है बल्कि इसमें देश, समाज तथा मानव मात्र का हित भी निहित है। इसके साथ-साथ यदि प्राचीन भारतीय परम्पराओं, चिकित्सा पद्धतियों एवं संस्कारों को जीवित रखना है तब भी इनकी खेती की जाना अत्यावश्यक है- विशेष रुप से इसलिए भी क्योंकि अब इनकी प्राकृतिक स्त्रोतों से उपलब्धता काफी कम हो गई है। इसे मानव जाति के लिए एक अत्यंत शुभ लक्षण माना जा सकता है कि वर्तमान में समाज के प्रत्येक वर्ग- चाहे वह कृषक वर्ग हो, नौकरी पेशा व्यक्ति हों, महिलाएं हों अथवा युवा वर्ग, सभी का आकर्षण जड़ी-बूटियों की खेती की ओर बढ़ा है तथा आज अधिकांश व्यक्तियों की जुबान से आजीविका के मुख्य रुप से दो ही विकल्प सुनने को मिलते हैं - कम्प्यूटर अथवा सूचना प्रौद्योगिकी (Information Technology) का क्षेत्र तथा जड़ी-बूटियों की खेती का क्षेत्र। कहना अनुचित नहीं होगा कि आज शासन के प्रत्येक विभाग - चाहे वह कृषि विभाग हो अथवा उद्यानिकी विभाग, उद्योग विभाग हो अथवा वन विभाग, राजीव गांधी जलग्रहण मिशन के कार्यक्रम हों अथवा डब्लू.डब्लू.एफ के कार्यक्रम- सभी की आशाओं का केन्द्र जड़ी-बूटियों की खेती ही बनती जा रही है।

इस वस्तुस्थिति को और अधिक बल मिला है इस क्षेत्र में किसानों द्वारा अर्जित की गई प्रारंभिक सफलता से, जो यह दर्शाती है कि जड़ी-बूटियों की खेती न केवल ज्यादा लाभकारी है बल्कि इनके लिए बाजार की भी ज्यादा समस्या नहीं है। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि इस क्षेत्र में आज तक कोई व्यक्ति असफल हुआ ही नहीं । वस्तुत: इस क्षेत्र में भी जहां 10 व्यक्ति सफल रहे हैं तो 5 असफल भी रहे हैं। इन्हीं सफल तथा असफल व्यक्तियों के अनुभवों को प्रस्तुत करने का प्रयास है यह लेख जिसमें उन प्रमुख बिन्दुओं का उल्लेख किया गया है जिनका ध्यान रखते हुए यदि कोई व्यक्ति इस क्षेत्र में पर्दापण करे तो उसके असफल होने की संभावनायें अपेक्षाकृत कम हो जाएंगी। इस प्रकार जड़ी-बूटियों की खेती के क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित बिन्दुओं पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है -

1. सर्वप्रथम जड़ी-बूटियों की खेती से संबंधित आधारभूत तथा व्यवहारिक प्रशिक्षण अवश्य प्राप्त करें

जो भी व्यक्ति-चाहे वह किसान हो अथवा कोई ऐसा व्यक्ति जिसका खेती से कभी कोई वास्ता न रहा हो यदि जड़ी-बूटियों की खेती करना का इच्छुक है तो उसे सर्वप्रथम किसी ऐसी संस्था से इनकी खेती से संबंधित प्रशिक्षण अनिवार्यत: प्राप्त करना चाहिए जो इस क्षेत्र में व्यवहारिक जानकारी रखती हो, जहां इस क्षेत्र से संबंधित विशेषज्ञ उपलब्ध हों तथा जो आपको इन पौधों की रु-ब-रु जानकारी दिला सके। दुर्भाग्यवश अधिकांशत: किसान एवं व्यक्ति या तो यह सोच कर कि '' हमें कोई क्या सिखाएगा हमारी तो उम्र गुजर गई खेती करते-करते,'' अथवा समयाभाव के कारण अथवा किसी अन्य संकोचवश इस पहलू पर ज्यादा ध्यान नहीं देते तथा इसे अनावश्यक मान कर किसी प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त करना नहीं चाहते। ऐसे व्यक्तियों को बाद में जब परेशानियां आती हैं तो वे घबराने लगते हैं। वस्तुत: यह प्रशिक्षण केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए जरुरी नहीं होता जो पहली बार कृषि के क्षेत्र में पर्दापण कर रहे हों बल्कि उन किसानों को भी यह प्रशिक्षण अनिवार्यत: प्राप्त करना चाहिए जिनका पैतृक व्यवसाय ही कृषि हो, क्योंकि औषधीय पौधों की खेती करना तथा परम्परागत कृषि करने में काफी अंतर होता है, विशेषतया इस दृष्टिकोण से भी क्योंकि इसमें व्यवसायिकता का पुट मिश्रित होता है तथा इसके कई ऐसे पहलू भी होते हैं जो परम्परागत कृषि से पूर्णतया भिन्न होते हैं। उदाहरणार्थ आप गेहूं-सोयाबीन को तो कहीं भी बेच सकते हैं परन्तु इन जड़ी बूटियों को ऐसे नहीं बेचा जा सकता। इस संदर्भ में यह दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए कि ''सीखने की कोई उम्र नहीं होती'' तथा वैसे भी जो प्रगतिशील कृषक हैं वे सदैव ऐसे मौकों की तलाश में रहते हैं जहां उन्हें ''कुछ नया'' सीखने को मिल सके। खैर मोटी बात यह है कि क्योंकि औषधीय पौधों का क्षेत्र एक नया क्षेत्र है इसलिए इसमें विधिवत प्रशिक्षण प्राप्त करने के सिवाय दूसरा कोई विकल्प (शार्ट-कट) नहीं है। इन प्रशिक्षण कार्यक्रमों से व्यक्ति को प्रमुखतया तीन लाभ होते हैं -

1. प्रशिक्षण के दौरान विभिन्न विशेषज्ञों से जान-पहचान हो जाती हैं जिन्हें बाद में आवश्यकता पड़ने पर मार्गदर्शन हेतु संपर्क किया जा सकता है, 2. प्रशिक्षण में कई ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो पहले से इस प्रकार के कार्यों में लगे होते हैं उनके अनुभवों से भी सीखने को मिलता है तथा, 3. व्यक्ति को विभिन्न जड़ी-बूटियों के विभिन्न पहलुओं (खेती से लेकर मार्केटिंग तक) की जानकारी एक ही स्थान से प्राप्त हो जाती है।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि औषधीय पौधों के क्षेत्र में पर्दापण करने से पहले व्यक्ति को किसी अच्छी संस्था से प्रशिक्षण अनिवार्यत: प्राप्त कर लेना चाहिए।

2. जड़ी-बूटियों से संबंधित अधिक से अधिक जानकारियां तथा साहित्य इकट्ठा करें

नि:संदेह आधारभूत प्रशिक्षण का अपना महत्व है परन्तु एक बार प्रशिक्षण प्राप्त कर लेने का अर्थ यह नहीं कि आप इस

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

क्षेत्र मे पूर्णतया पारंगत हो गए हैं। समझदार व्यक्ति वही है जो अपनी जानकारियों को अद्यतन (Up-to- date) रखता है। अतः औषधीय पौधों से संबंधित जहां भी कोई चर्चा हो, संगोष्ठी हो, कार्यशाला हो, प्रदर्शनी हो, मेला हो अथवा ऐसा ही कोई मौका हो व्यक्ति को सदैव इसमें भाग लेना चाहिए तथा इसका लाभ उठाना चाहिए। जहां भी आपको पता चले कि किसी किसान ने किसी फसल विशेष के संदर्भ में कोई नया प्रयोग किया है तो तुरंत जाकर उसका अवलोकन करना चाहिए तथा ऐसे किसानों से विस्तृत चर्चा करने कर मौका नहीं गंवाना चाहिए। इस संदर्भ में कभी भूल कर भी यह धारणा न पालें कि ''हमें कोई क्या सिखाएगा ... हमें तो सब कुछ आता है'', क्योंकि यह सीखने की ललक ही होती है जो व्यक्ति को मानसिक एवं चिंतन स्तर पर ''कभी बूढ़ा नहीं होने देती।''

इसके साथ-साथ सर्वाधिक महत्वपूर्ण है साहित्य। यदि आपको औषधीय पौधों के क्षेत्र में निरंतर प्रगति करते रहना है तो आपके पास में वह प्रत्येक पुस्तक अथवा पत्रिका होनी चाहिए जिसका शीर्षक ''औषधीय पौधों'' अथवा ''आयुर्वेद'' से प्रारंभ तथा समाप्त होता है। इस संदर्भ में वर्तमान में ऐसी अनेको पत्रिकायें तथा पुस्तकें हैं जिनका प्रत्येक अंक खरीदना यदि आपके लिए संभव न भी हो तो भी कम से कम वह अंक तो आपके पास होना ही चाहिए जिसमें आपके क्षेत्र से संबंधित विवरण दिए हुए हों। उदाहरणार्थ **कृषक जगत, कृषक दुनिया, फफाई जर्नल, सीमेप न्यूज लैटर, उद्यमिता समाचार पत्र, विश्व कृषि संचार, अहिंसक खेती, आरोग्य धाम, निरोग धाम आदि कुछ ऐसी पत्रिकाएं हैं जिनकी सदस्यता ग्रहण करना आपके लिए लाभकारी हो सकता है।** यह सभी जानते हैं कि आयुर्वेद के हमारे पुराने ग्रन्थ ज्ञान का विशाल भण्डार है अतः आयुर्वेद पर जो भी नई पुरानी पुस्तकें हैं उनको संग्रहित करने का प्रयास करें। इस प्रकार औषधीय पौधों की खेती के इच्छुक अथवा इस क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्ति को इस क्षेत्र से संबंधित अधिक से अधिक जानकारियां तथा साहित्य संकलित करने की दिशा में निरंतर कार्य करते रहना चाहिए।

3. सदैव छोटे स्तर से कार्य प्रारंभ करें

औषधीय पौधों के क्षेत्र में जो भी लोग सफल रहे हैं उनकी यदि जीवनी देखी जाए तो पता चलता है कि उन्होंने अपना कार्य काफी छोटे स्तर से प्रारंभ किया था - संभवतया उनकी सफलता का यही मूल मंत्र रहा है। औषधीय पौधों की खेती करने के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को हमारा यही सुझाव रहता है कि वे एकदम करोड़पति बनने का न सोचें बल्कि धीरे-धीरे आगे बढ़ें। क्योंकि यह एक नया क्षेत्र है अतः जब तक व्यक्ति को इस क्षेत्र में पर्याप्त अनुभव प्राप्त न हो जाए, उसे बड़े स्तर पर नहीं जाना चाहिए। हमारे इस सुझाव की प्रमुख वजह यह है कि - 1. यह सभी जानते हैं कि कोई भी नया कार्य करने में व्यक्ति को प्रारंभ में परेशानियां तथा कठिनाइयां तो आती ही हैं। व्यक्ति छोटे स्तर से कार्य प्रारंभ करे तो पहले वर्ष में उसे इन सब कठिनाईयों/ परेशानियों, मार्केट की स्थिति, इस क्षेत्र के रीति रिवाजों तथा अन्य पहलुओं की व्यवहारिक जानकारियां प्राप्त हो जाएंगी तथा जब वह इस कार्य को बढ़ाएगा तो उसे इन परेशानियों/कठिनाइयों का पूर्वाभास रहेगा तथा इनके समाधान हेतु एक्शन प्लान भी उसके दिमाग में पहले से ही रहेगा जिससे उसकी असफलता की संभावनायें स्वतः ही कम हो जाएंगी, 2. अधिकांश औषधीय पौधे ऐसे हैं जिनके बीज/ प्लांटिंग मेटेरियल बहुत जल्दी ''मल्टीप्लाई'' होते हैं। उदाहरणार्थ यदि आपने इस वर्ष एक एकड़ के क्षेत्र में मेंथा की खेती की थी तो अगले वर्ष आपके अपने पास भी इतना प्लांटिंग मेटेरियल उपलब्ध हो जाएगा कि आप उसे आसानी से 25-30 एकड़ मे मल्टीप्लाई कर सकते हैं। यही बात लेमनग्रास, सिट्रोनेला, सफेद मूसली तथा कई अन्य औषधीय फसलों के संदर्भ में भी लागू होती है। इससे सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि आपको प्लांटिंग मेटेरियल पर होने वाले आवश्यक खर्च से छुटकारा मिल जाता है तथा प्लांटिंग मेटेरियल आपका स्वयं का ही तैयार हो जाता है, 3. क्योंकि अधिकांश औषधीय पौधो की खेती की विधियां अभी अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही हैं अत यदि व्यक्ति पहले वर्ष में छोटे स्तर से ही कार्य करे तो इसमे जो भी गलतियां होंगी वह आगामी फसलों में उनमें सुधार ला सकता है। अतः **प्रथम वर्ष में किसी भी स्थिति में 1/4 एकड़ से अधिक के क्षेत्र में सफेद मूसली, एक एकड़ से अधिक के क्षेत्र में मेन्था, एक एकड़ से अधिक के क्षेत्र में लेमनग्रास, 1/2 एकड़ से अधिक के क्षेत्र में कलिहारी लगाने की सलाह हम किसी को नहीं देंगे।**

4. परामर्शदाताओं के चक्कर में न पड़ें

किसी भी विषय पर किसी विषय विशेषज्ञ अथवा परामर्शदाता से सलाह लेने में कोई बुराई नहीं है- विशेष रुप से प्रोजैक्ट रिपोर्ट बनाने जैसे तकनीकी विषयों पर तो परामर्शदाताओं की सेवायें अवश्य ही ली जानी चाहिएं परन्तु हमारे देश का दुर्भाग्य यह है कि यहां परामर्शदाता संस्कृति (Consultant Culture) ठीक से पनप नहीं पाई है- विशेष रूप से हमारे यहां औषधीय पौधों के क्षेत्र में सही परामर्शदाता मिलना तो उतना ही दुर्लभ है जितना ''कस्तूरी मृग''। यह देखकर और भी कोफ्त होती है जब हम यह पाते हैं कि ऐसे-ऐसे व्यक्ति परामर्श देने (Consultancy) का कार्य कर रहे हैं जिन्होंने वह पौधा कभी देखा तक नहीं होता। इस संदर्भ में एक दृष्टांत का उल्लेख करना सामयिक होगा। अभी कुछ ही दिन पूर्व हमारे कार्यालय में एक औषधीय पौधों के परामर्शदाता आए तथा हमारी टेबल पर रखी हुई सतावर की जड़ों के गुच्छे को देखकर बोले ''डॉ. साहब यह ''मूसली'' आप कहां से लाए''? मैंने कहा ''श्रीमान यह मूसली नही सतावर है।'' तो वे बोले ''आपको पता नहीं हमारे आदिवासी क्षेत्र में इसी को मूसली बोलते हैं''। ऐसे परामर्शदाताओं का एक प्रमुख तकिया कलाम होता है ''बहुत बड़ा मार्केट है'', ''एक्सपोर्ट मार्केट है'', ''टन का मार्केट है'' आदि, परन्तु यदि इन्हें यह पूछा जाए कि किसी ऐसी पार्टी का नाम तो बताओ जो इन चीजों को खरीदती हो तो वे बगलें झांकने लगते हैं। वैसे भी कहा जाता है कि परामर्शदाता वह व्यक्ति होता है जो आपकी घड़ी में देखकर आपको समय बताता है तथा समय बताने की फीस के रूप मे आपकी घड़ी ले जाता है (Consultant is a person who tells

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

you time by looking at your watch and takes away your watch in return.) अतः किसान भाइयो! भूल कर भी ऐसे परामर्शदाताओं के चक्कर में न पड़ें। इससे बेहतर यह होगा कि आप किसी ऐसे किसान / व्यक्ति की शरण में चले जाए जो उस पौधे की खेती कर रहा हो, जिसमें आपकी रुचि हो। उसकी आप थोड़ी सी भक्ति करेंगे तो वह आपको पूरा ''गुरुमंत्र'' दे देगा तथा वह भी बिना किसी शुल्क के।

5. किसी एक विशिष्ट पौधों के विशेषज्ञ के रूप में अपनी पहचान बनाएं

यद्यपि प्रारंभ मे आप छोटे स्तर पर 4-5 पौधो की खेती से कार्य प्रारंभ करें, बाद में भी आप एक से ज्यादा पौधो की खेती पर ''कन्सन्ट्रेट'' कर सकते है परन्तु अंततः आपकी पहचान किसी एक ऐसे पौधे के ''मास्टर'' (विशेषज्ञ) के रूप में बननी चाहिए जिसके प्रत्येक पक्ष पर आपकी ''मास्टरी'' हो। यह तभी संभव हो सकेगा जब आप इसके प्रत्येक पक्ष पर गहराई से कार्य करेंगे। इसी से आगे आपका नाम चलेगा। आप जानते ही होंगे कि **सफेद मूसली का नाम आते ही श्री जी.डी.मित्तल का नाम सबसे पहले आता है (वैसे म.प्र. में भी कई लोग अपने आपको मिनी मित्तल कहने लगे है), सोनामुखी की खेती के मामले में आज श्री नारायण दास प्रजापति का कोई सानी नहीं तथा मध्यप्रदेश में मेन्था की खेती के मामले में श्री डी.के.व्यास जी ने अपनी अलग पहचान बनाई है।** इसी प्रकार आप भी कोई उपयुक्त पौधा ढूंढ कर उसके विशेषज्ञ के रुप में अपनी पहचान बना सकते हैं। यदि आप ऐसा कर पाए तो इससे आपको वित्तीय लाभ तो होगा ही साथ ही प्रदेश-देश तथा हो सकता है विदेश में भी इससे आपकी विशिष्ट पहचान बन जाए, जोकि संभवतया आपके जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि होगी।

6. जिन स्थानों पर इन पौधों की खेती हो रही हो, उनका भ्रमण अवश्य करें

यह सभी जानते है कि किसी पौधे के बारे मे कक्षा में भाषण सुनना अलग बात होती है, तथा उसका चित्र देखना अलग बात है परन्तु जब तक आप इसे विधिवत खेत में (बड़े स्तर पर) लगा हुआ नहीं देख लेतें तब तक आपको उसकी खेती की सही-सही जानकारी नहीं मिल पाती। व्यवहारिक रुप से किस प्रकार की भूमि अमुक फसल के लिए उपयुक्त रहेगी, इसकी तैयारी कैसे की जानी होगी, बैड्स कैसे बनाने होंगे आदि जैसे पहलू जब तक आप स्वयं क्षेत्र मे जाकर नहीं देख लेते तब तक आप इनके व्यवहारिक पक्ष से परिचित नहीं हो पायेंगे। उदाहरणार्थ हमने अभी-अभी भोपाल के एक कृषक श्री दीवान सिंह का खेत देखा जिसमें लेमनग्रास लगी हुई थी। पूर्व में हमारा विचार था कि लेमनग्रास की खेती के लिए ज्यादा उपयुक्त भूमि वह रहेगी जो ''प्लेन'' हो, परन्तु श्री दीवान सिंह का खेत देखकर लगा कि ऊबड़-खाबड़ तथा ऊंची-नीची जगहों पर भी लेमनग्रास की खेती काफी अच्छी प्रकार से हो सकती है यदि सिंचाई की सही व्यवस्था हो सके। अतः विभिन्न प्रकार की फसलो की व्यवहारिक जानकारी लेने के उद्देश्य से यथासंभव अधिक से अधिक स्थानों का भ्रमण करना चाहिए तथा विभिन्न ''सिचुएशनस'' मे लगाई गई फसल तथा उसके परिणामों का अवलोकन किया जाना चाहिए। आप पायेंगे कि किन्हीं किसानों ने अपने स्वयं के विचारों से किसी फसल विशेष के संदर्भ में इतनी अधिक नवीनता तथा विविधता लाई है जिसका तथाकथित कृषि विशेषज्ञों ने ख्वाब तक भी न देखा हो।

7. असफल लोगों से भी चर्चा करें

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे असफल एवं सफल दोनो प्रकार के व्यक्ति हमें मिल जाते है। औषधीय पौधों के क्षेत्र में असफल हुए व्यक्तियों की भी कमी नहीं। प्रायः जब भी आप इस प्रकार का कार्य प्रारंभ करेंगे तो अधिकांशतः आपको इन्हीं व्यक्तियो के बारे में सुनने को मिलेगा तथा अधिकतर लोग, विशेषतया विघ्नसंतोषी लोग यही कह कर आपको हतोत्साहित करेंगे ''यह काम नही चल सकता'' ''. देखो तो वह भी इस क्षेत्र में असफल हो गया।'' परन्तु किसी व्यक्ति विशेष के असफल होने की क्या वजह थी यह कोई जानने का प्रयास नही करता। उदाहरणार्थ **मध्यप्रदेश में जिन श्री आर.के.शुक्ला ने मेंथा की खेती सर्वप्रथम प्रारंभ की थी उन्हें किन्हीं कारणो के चलते कुछ समय के लिए यह कार्य बंद करना पड़ा। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मध्यप्रदेश में मेंथा की फसल सफल नहीं है क्योंकि अभी भी जो लोग मेंथा उगा रहे हैं वे काफी सफल हैं।** अतः यह निष्कर्ष निकालने से पूर्व कि अमुक व्यक्ति इस क्षेत्र में क्यो असफल हो गया उससे साक्षात्कार करना भी उपयोगी होगा। उदाहरणार्थ **श्री शुक्ला जी के संदर्भ में उनकी परेशानी का प्रमुख कारण यह था कि उनके स्वयं के पास भूमि नहीं थी तथा जिस भी व्यक्ति पर उन्होंने भरोसा किया उसने उन्हें धोखा दिया जिससे अंततः उन्हें अपना यह कार्य कुछ समय के लिए बंद करना पड़ा।** अतः इस क्षेत्र मे पदार्पण करने के इच्छुक व्यक्तियो को उन लोगों से भी मिलना चाहिए जो किसी कारण मे असफल हो गए हों अथवा परेशान हों। इससे आप उन कारणो को दूर कर सकते है जो इस प्रकार के कार्य में बाधक हो सकते है।

8. जड़ी-बूटियों की दरों में होने वाले उतार-चढ़ावों से विचलित न हों

औषधीय पौधों की खेती प्रारंभ करने वाले व्यक्ति को इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि अन्य कृषि उत्पादो की तरह इस क्षेत्र में भी दरों मे काफी उतार-चढ़ाव हो सकते है तथा ज्यादा फसल आ जाने पर दरो मे उतार होना अवश्यम्भावी है। उदाहरणार्थ मेन्था की फसल के सदर्भ में यह समस्या कुछ ज्यादा ही विकराल है। परन्तु इससे घबराने की कतई जरुरत नहीं है क्योंकि यदि आपको किसी जड़ी-बूटी की न्यूनतम दरें भी मिलती है तब भी यह परम्परागत फसलो से ज्यादा ही लाभकारी होगी। वैसे भी जब आप इस क्षेत्र मे पदार्पण करने जा रहे हैं तो आपको ज्यादा से ज्यादा खरीददारों से ''व्यक्तिगत संबंध'' बनाने चाहिएं जिससे आपको अपने उत्पाद के विपणन में परेशानी न हो। इसके साथ-साथ जड़ी-बूटियों के नए-नए उपयोगों पर भी नजर रखें जिससे आपको अतिरिक्त आय हो सकती है। उदाहरणार्थ अभी तक **अश्वगंधा की केवल जड़ों**

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

की ही मांग थी परन्तु अब इसके पत्तों की भी काफी अच्छी दरें मिलने लगी हैं। इसी प्रकार लेमनग्रास के तेल के साथ-साथ उसके पत्तों की भी अच्छी मांग आने लगी है। अत: औषधीय पौधों की खेती कर रहे किसानों को इन समस्त पहलुओं पर नजर रखनी चाहिए तथा उतार-चढ़ाव से विचलित नहीं होना चाहिए।

9. औषधीय पौधों की खेती में सफल होने के लिए यह जरूरी नहीं कि आप पैदायशी रूप से कृषक ही हों

यद्यपि औषधीय पौधों की खेती की ओर प्रत्येक वर्ग के लोगों का आकर्षण बढ़ता जा रहा है परन्तु कई ऐसे लोग जिनकी पृष्ठभूमि खेती की नहीं रही हो, प्रारंभ में यह सोचकर घबराने लगते हैं कि उनके परिवार में तो कभी किसी ने खेती की ही नहीं। इसी डर के चलते कई व्यक्ति चाह कर भी इस क्षेत्र में नही आ पाते। परन्तु अनुभव यह बताते हैं कि जड़ी-बूटियों की खेती में सफल होने के लिए खेती की पृष्ठभूमि कोई जरुरी नहीं होती- केवल आपका रुझान मात्र इस ओर होना चाहिए।

10. मार्केटिंग की व्यवस्था पहले से सुनिश्चित कर लें

जिस भी औषधीय पौधे की खेती करने का आपने विचार किया हो उसके बाजार की संभावनाओं की जानकारी पहले से ही एकत्रित कर लें। कई बार आपको सुनने को मिलेगा ''इसका बहुत बड़ा बाजार है'', ''इसके बहुत खरीददार हैं''- ये समस्त बातें बड़ी आधारहीन तथा गुमराह करने वाली (Misleading) होती हैं। अत: इस प्रकार की ''जनरलाइज्ड'' बातों पर विश्वास करने की बजाए किसान को उन खरीददारों से स्वयं यह बात करनी चाहिए जो इन वस्तुओं को खरीदते हैं। **अकरकरहा तथा ग्वारपाठा की मार्केटिंग के संदर्भ में कई किसानों को ये दिक्कतें आई हैं। कई किसानों ने किन्हीं परामर्शदाताओं के कहने पर काफी बड़े क्षेत्र में इन पौधों की खेती तो कर ली परन्तु इसके लिए उन्हें एक भी खरीददार नहीं मिल पाया जिससे उन्हें बहुत अधिक घाटा उठाना पड़ा है।** हालांकि यह इतना आसान नहीं (असंभव भी नहीं) होता कि आपका पहले से ही ''मार्केट टाई अप'' हो जाए क्योंकि खरीददार माल खरीदने हेतु सहमति प्रदान करने से पूर्व ''सैम्पल'' मांगता है। परन्तु फिर भी यह पता तो लगाया जा ही सकता है कि इस पौधे अथवा जड़ी-बूटी के खरीददार हैं भी या नहीं।

11. खरीददारों को गुमराह न करें

पिछले कुछ वर्षों से औषधीय पौधों की मार्केटिंग से संबंधित एक अजीब सा प्रचलन (Trend) देखने को मिल रहा है। संभवतया यह सेडमैप की गलती थी कि उसने औषधीय पौधों की एक विपणन निर्देशिका का प्रकाशन किया जिसमें उन समस्त खरीददारों के पते दिए जो जड़ी-बूटियां क्रय करते हैं। संभवतया यह जानने के लिए कि ये लोग जड़ी-बूटियां खरीदते भी हैं या नहीं, आज प्रत्येक व्यक्ति इस निर्देशिका में दिए गए पतों के आधार पर इन खरीददारों को पत्र डाल देता है जिनमें प्राय: यह लिखा होता है कि ''हमारे पास ...... टन माल तैयार है आप इसे किस भाव में खरीदेंगे?'' इसके प्रत्युतर में ये खरीददार संबंधित वस्तु का ''सैम्पल'' भेजने को कहते हैं। 95 प्रतिशत व्यक्ति तो इसी स्तर पर ही खरीददारों को वापिस जवाब नहीं देते (क्योंकि उनके पास वह माल होता ही नहीं), शेष 5 प्रतिशत कहीं न कहीं से ''जुगाड़'' करके सेम्पल तो भिजवा देते हैं परन्तु आदेश प्राप्त हो जाने पर माल नहीं भिजवा पाते क्योंकि उनके पास माल होता ही नहीं है। इससे इन खरीददारों (विशेषतया ऐसे व्यक्ति जो निर्यात में संलग्न हैं) का ऐसे सभी पत्र वाचकों पर से विश्वास उठ गया है तथा अब वे वास्तविक उत्पादकों अथवा विक्रेताओं के पत्रों का जवाब भी नहीं देते। इससे इन खरीददारों की नजरों में ऐसे पत्र वाचकों की क्या ''इमेज'' बनती होगी इसका अंदाजा सहज ही लगाया जा सकता है। अत: यदि आप खरीददारों से अच्छे तथा दीर्घगामी संबंध बनाना चाहते हैं तो अपने पत्र व्यवहार में ऐसी बातें न लिखें जिससे ये खरीददार गुमराह हों।

12. प्रतिबंधित पौधों की खेती पर ज्यादा ध्यान दें

अंधाधुंध विदोहन तथा कई अन्य कारणों से कई औषधीय पौधे लुप्त होने की कगार पर हैं जिसके फलस्वरुप शासन द्वारा किन्हीं औषधीय पौधों को जंगलों से लेने पर पूर्ण प्रतिबंध लगा दिया गया है। जाहिर है कि जब इन्हें हम जंगलों से नहीं ले पायेंगे तो इनकी आपूर्ति का एक ही साधन बचेगा- इनकी खेती। एक प्रकार से यह प्रतिबंध किसानों के हित में ही है क्योंकि जो चीज जंगलों से लगभग मुफ्त मिल जाती थी अब उसके भाव स्वत: ही कई गुना बढ़ जायेंगे जिससे इन पौधों की खेती करने वाले किसानों के लाभ की मात्रा भी बढ़ जाएगी। औषधीय पौधों की खेती के क्षेत्र में पर्दापण करने से इच्छुक व्यक्तियों को इस अवसर का लाभ उठाना चाहिए तथा **उन पौधों की खेती पर ज्यादा ध्यान देना चाहिए जिन्हें जंगलों से लेने पर प्रतिबंध है अथवा जो निर्यात हेतु प्रतिबंधित हैं जैसे कलिहारी, गुग्गुल, सर्पगंधा, बच, जटामांसी आदि, क्योंकि इनके भाव निरंतर बढ़ते ही जाना हैं।**

13. पटवारी से एन्ट्री करवाना न भूलें

आप जिस भी औषधीय पौधे की खेती कर रहे हों, उसके संदर्भ में एन्ट्री/ रिकार्ड पटवारी के कागजों / खसरा खतौनी में अनिवार्य रुप से दर्ज करवा दें तथा पटवारी से एक प्रमाण पत्र अवश्य प्राप्त कर लें कि इस वर्ष खसरा क्रमांक .... पर ..... क्षेत्र में .... पौधे की खेती की गई है। इसके कई लाभ होते हैं- (i) सरकार के पास एक रिकार्ड दर्ज हो जाता है कि कितने क्षेत्र में औषधीय पौधों की खेती हो रही है, (ii) यदि आपको किसी पौधे के संदर्भ में ट्रांज़िट पास (टी.पी.) बनवाने की आवश्यकता होगी तो उस समय यह रिकार्ड सहायक होगा, तथा (iii) यदि आप किसी प्रतिबंधित पौधे का व्यापार करना चाहेंगे तो उस समय भी इस रिकार्ड की आवश्यकता होगी अन्यथा आप इसे वैध रुप से बेच नहीं पायेंगे। अत: संबंधित फसल (विशेष रुप से जब यह कोई औषधीय फसल हो तो) की एन्ट्री अपने क्षेत्र के पटवारी के कागजों में करवाना प्रत्येक दृष्टि से लाभकारी होगा।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

14. लम्बी तथा छोटी अवधि की फसलों में संतुलन बनाए रखें

कौन-कौन से औषधीय पौधे लगाए जाएं यह निर्णय ले पाना एक कठिन कार्य हो सकता है परन्तु यदि कोई व्यक्ति दीर्घकालीन योजना (Long term Planning) के रुप में औषधीय पौधों की खेती प्रारंभ कर रहा है तो उसे ऐसी योजना बनानी चाहिए कि वह कुछ तो ऐसे पौधे लगाए जिनसे उसे 4-6 महीने में ''रिटर्न'' आना शुरु हो जाएं जैसे कौंच अथवा कलिहारी आदि, कुछ ऐसे पौधों हों जिनकी फसल वर्षात तक तैयार हो जाए जैसे सफेद मूसली आदि, जबकि कुछ ऐसे पौधे भी हों जो रिटर्न देने तो 4-5 वर्ष से प्रारंभ करें परन्तु जिनकी ''लाइफ'' 40-50 वर्ष हो जैसे आंवला, गुग्गुल, सिन्दूरी आदि। इस प्रकार फसल का चुनाव सोच विचार करके करना चाहिए तथा इसमें भिन्न-भिन्न अवधियों में रिटर्न देने वाली फसलों का संतुलित रुप से चयन करना चाहिए। औषधीय पौधों की खेती से अधिक से अधिक लाभ लेने के उद्देश्य से सही अंर्तवर्तीय फसलों का चयन करना भी एक महत्वपूर्ण कला है। उदाहरणार्थ आंवला की खेती के साथ-साथ कौंच, मुश्कदाना, कालमेघ आदि जैसी फसलें सफलतापूर्वक ली जा सकती हैं। इसी प्रकार आंवला, आम अथवा अमरुद के बगीचों के बीच हल्दी अथवा अदरक की फसल भी सफलतापूर्वक ली जा सकती हैं।

15. बीज/प्लांटिंग मेटेरियल उचित व्यक्ति से ही खरीदें

औषधीय पौधों के क्षेत्र में कई लोगों का केवल धंधा ही बीज अथवा प्लाटिंग मेटेरियल बेचना हो गया है। ऐसे व्यक्तियों से सावधान रहें तथा यथासंभव बीज/प्लाटिंग मेटेरियल उसी व्यक्ति से लें जो स्वयं खेती कर रहा हो अथवा इनका प्रतिष्ठित डीलर हो। बीजों/प्लांटिंग मेटेरियल की दरों का भी सही आकंलन करें तथा खरीदने से पूर्व 4-5 प्रदायकर्ताओं से इनकी दरों का जायजा ले लें। उदाहरणार्थ अश्वगंधा के बीज की दरें 30 से 50 रुपये प्रति किलोग्राम तक तो वाजिब हैं परन्तु यदि कोई व्यक्ति इससे अधिक दामों पर इन्हें बेच रहा है तो इसका अर्थ है कि वह आपकी अज्ञानता का लाभ उठा रहा है। विशेष रूप से मूसली के बीजों/प्लाटिंग मेटेरियल की दरों के संदर्भ में कई लोग धोखा खा रहे हैं तथा 400 से 800 रुपये प्रति किलोग्राम तक की दर में मूसली का प्लांटिंग मेटेरियल खरीद रहे हैं। ऐसे में व्यक्ति को ध्यान रखना चाहिए कि इसमें अंततः उसको घाटा ही होना है क्योंकि वह जितनी भी अच्छी क्वालिटी की मूसली पैदा कर लें, वह इसे बाजार में 1000/- रुपये प्रति किलोग्राम से अधिक की दर पर नहीं बेच पाएगा। अतः उसे बीज की खरीदी पर न्यूनतम खर्च करना चाहिए।

16. निरन्तर नए-नए प्रयोग करते रहें

कृषि का क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें कभी भी कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि मैं तो ''परफेक्ट'' हो गया, क्योंकि इसमें ''कुछ नया'' करने की इतनी अधिक संभावनायें हैं कि एक-एक पौधे पर कई-कई शोध किए जा सकते हैं। इस संदर्भ में जड़ी-बूटियों के क्षेत्र में तो नए-नए प्रयोग करने की संभावनायें और भी ज्यादा हैं। अतः व्यक्ति को निरंतर नए-नए प्रयोग करते रहना चाहिए जिससे वह अपने आपको जीवंत तो महसूस करेगा ही, हो सकता है इसी प्रक्रिया में उसके हाथ में कुछ ऐसी नई चीज़ लग जाए तो उस पौधे से संबंधित; सारी धारणायें ही बदल दे। इससे आपको जो प्रसिद्धि मिलेगी वह रुपयों में नहीं तोली जा सकती। इस प्रकार भूमि की तैयारी से संबंधित; खाद के प्रकारों, खाद की मात्रा तथा खाद देने के समय से संबंधित; बिजाई के साधन, बिजाई की विधि, बिजाई के माध्यम, बिजाई के समय आदि से संबंधित पौधों की देखभाल तथा प्लांट प्रोटैक्शन से संबंधित; कीड़े-मकोड़ों तथा फफूंद आदि के नियन्त्रण से संबंधित; फसल की हारवेस्टिंग तथा स्टोरेज आदि से संबंधित ऐसे अनेक विषय हैं जिन पर आपको निरंतर नए-नए प्रयोग करते रहना चाहिए तथा इनके अच्छे परिणामों को जन सामान्य के लाभार्थ उपलब्ध करवाते रहना चाहिए।

उपरोक्तानुसार वर्णित बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए यदि आप औषधीय पौधों के क्षेत्र में कार्य करेंगे तो आपकी सफलता की संभावनायें स्वतः ही बढ़ जाएंगी। एक अन्य प्रमुख बात जिसका ध्यान इस क्षेत्र में कार्य करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को सदैव रखना चाहिए वह यह है कि आप यह कार्य केवल आर्थिक लाभ के लिए नहीं कर रहे बल्कि इसमें सम्पूर्ण मानव जाति का हित निहित है तथा इससे हमारे प्राचीन संस्कार तथा परम्परायें भी जुड़े हुए हैं। अतः स्वकल्याण के साथ-साथ यह कार्य लोक कल्याण का भी है तथा यह सभी जानते हैं कि जब हम स्वार्थ भाव को छोड़ करके परामार्थभाव अथवा लोक कल्याण के उद्देश्य से कोई कार्य करते हैं तो प्रकृति भी हमारा साथ देती है। अतः यदि आप लोक कल्याण के उद्देश्य को सर्वोच्च प्राथमिकता देते हुए (आर्थिक लाभ को गौण रखते हुए) औषधीय पौधों की खेती के क्षेत्र में पर्दापण करेंगे तो आपकी सफलता निश्चित है।

मुकेश सीड्स

हाईब्रीड अरंडी, अश्वगंधा, मुश्कदाना तथा अन्य औषधीय फसलों, नीमखली/नीमखाद, विभिन्न बायोफर्टीलाइज़र्स तथा बागवानी के समस्त उपकरण मिलने का एकमात्र स्थान - मुकेश सीड्स, ओल्ड सैफिया कॉलेज के सामने, भोपाल (म.प्र.) फोन : (0755) 749559.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

2. मध्य भारत में खेती के लिए उपयुक्त कुछ औषधीय एवं सुगंधीय पौधे

भारतवर्ष सदैव ही जड़ी-बूटियों का गढ़ रहा है। एक अनुमान के अनुसार भारतीय उपमहाद्वीप में जड़ी-बूटियों की लगभग 1500 ऐसी प्रजातियां पाई जाती हैं जिन्हें विश्व भर में विभिन्न दवाइयों के निर्माण हेतु प्रयुक्त किया जाता है। यहां तक कि ब्रिटिश फार्माकोपिया में वर्णित विभिन्न दवाइयों के निर्माण हेतु लगने वाली जड़ी-बूटियों में से 50 प्रतिशत जड़ी-बूटियां दक्षिणी हिमालय क्षेत्र में पाई जाती हैं। विश्व संरक्षण संघ (World Conservation Union) के अनुसार विश्व भर में प्रति वर्ष लगभग 800 बिलियन डॉलर मूल्य की जड़ी-बूटियों का व्यापार होता है जिसमें से कुल यूरोपीय मांग के लगभग 12 % की आपूर्ति भारतीय उपमहाद्वीप से होती है। जो जड़ी-बूटियां भारत से वर्तमान में निर्यात हो रही हैं, उनमें प्रमुख हैं -

भारतीय बाजारों में ब्रिक्रित होने प्रमुख औषधीय पौधे और उनसे प्रतिवर्ष प्राप्त आय

निर्यात के साथ-साथ भारतीय बाज़ारों में भी किन्ही औषधीय पौधों की काफी अधिक मांग है तथा विभिन्न हर्बल एवं आयुर्वेदिक उत्पादों की तरफ लोगों के बढ़ते जा रहे रुझान के कारण इस मांग में निरंतर वृद्धि होती जा रही है। इस संदर्भ में जिन जड़ी-बूटियों तथा उनके उत्पादों का व्यापार हमारे देश में बहुतायत में हो रहा है, उनमें प्रमुख है -

1	आंवला	20 से 25 करोड़ रुपये
2	अश्वगंधा	10 से 12 करोड़ रुपये
3	ससुन	07 से 08 करोड़ रुपये
4	कुटकी	02 से 03 करोड़ रुपये
5	गुडुची	02 से 03 करोड़ रुपये
6	तुलसी	02 से 05 करोड़ रुपये
7	सोंठ	05 से 06 करोड़ रुपये
8	नीम	06 से 07 करोड़ रुपये
9	शंखपुष्पी	02 से 03 करोड़ रुपये
10	शतावरी	04 से 06 करोड़ रुपये
11	गुग्गुल	06 से 08 करोड़ रुपये
12	वत्संभ	1.5 से 2 करोड़ रुपये
13	कोकुम	1 से 1.5 करोड़ रुपये

(स्रोत : एग्रीकल्चर एण्ड इंडस्ट्री सर्वे, नवम्बर 1999)

उपरोक्तानुसार देखा जा सकता है कि भारतीय उप महाद्वीप में ऐसे अनेकों औषधीय पौधे होते हैं जिनकी न केवल विदेशी बाजारों में पर्याप्त मांग है बल्कि जिसका देशीय बाजारों में भी काफी बड़ी मात्रा में व्यापार हो रहा है।

यह सभी जानते है कि अभी तक उपरोक्त सभी औषधीय पौधे प्राकृतिक रूप से जंगलों में पाए जाते थे जहां से इन्हे प्राप्त करके औषधीय उपयोग में लाया जाता था अथवा बाजारो में बिक्रित किया जाता था। दुर्भाग्यवश अंधाधुंध एवं अवैज्ञानिक विदोहन के कारण इनकी जंगलों से उपलब्धता काफी कम हो गई है तथा इनमें से कई पौधे तो लुप्त होने की कगार पर है जिसके कारण इनके कृषिकरण की आवश्यकता महसूस हुई है।

परन्तु सभी पौधे सभी प्रकार की परिस्थितियों में नही उगाए जा सकते। इस संदर्भ में मध्यभारत (मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, उड़ीसा, बिहार, हरयाणा आदि) की जलवायु के अनुसार उपजाए जा सकने वाले कुछ प्रमुख औषधीय पौधे निम्नानुसार हैं -

1. मेन्था (Mentha Arvensis)
2. लेमनग्रास (Lemongrass)
3. जावा सिट्रोनेला (Java Citronella)
4. पामारोजा (Palmarosa)
5. सफेद मूसली (Chlorophytum Borivillianum)
6. कलिहारी (Gloriosa Superba)
7. कौंच (Kewanch)
8. अश्वगंधा (Withania Somnifera)
9. सर्पगंधा (Roulfia Serpentina)
10. मुश्कदाना (Muskdana)
11. सतावर (Asparagus Racemosus)
12. बच (Acorous Calamus)
13. पपीता (Papaya)
14. आंवला (Aonla)
15. गुग्गुल (Guggul)
16. सिन्दूरी (Annato or Bixa Orlena)
17. चन्द्रशूर (Chandrasur)
18. लहसुन (Garlic)
19. हल्दी (Turmeric)
20. अदरक (Ginger)
21. बायबिडंग (Biabidang) आदि।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

3. जापानी पोदीने की खेती

यूं तो शायद ही कोई ऐसा घर होगा जिसमें चटनी आदि के रूप में पोदीने का उपयोग न किया जाता हो, परन्तु काफी कम लोग यह जानते होंगे कि चटनी के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले पोदीने के अतिरिक्त पोदीने की कई अन्य प्रजातियां भी होती हैं जो इस पोदीने से न केवल अपेक्षाकृत ज्यादा उपयोगी होती हैं बल्कि इनकी व्यवसायिक उपयोगिता भी काफी अधिक है तथा इनकी व्यवसायिक स्तर पर खेती की जाना भी काफी अधिक लाभकारी है।

पोदीना अथवा मेन्था शब्द सुगन्धित पौधों के उस समूह की ओर संकेत करता है जिसमें मेन्था की कई प्रजातियां आती हैं। इन प्रजातियों को जापानी पोदीना (मेन्था अरवेन्सिस), बर्गामोट पोदीना (मेन्था सिट्रेटा), स्पीयर मिन्ट (मेन्था स्पाईकाटा), स्कॉच स्पीयरमिन्ट (मेन्था ग्रेसिलिस) एवं पिपरमिन्ट या काला पोदीना (मेन्था पिपरेटा) के नाम से जाना जाता है। मेन्था की सभी प्रजातियों के उपयोग एवं पहचान बिल्कुल अलग है क्योंकि उनमें पाये जाने वाले अवयव एक दूसरी प्रजाति से भिन्न-भिन्न होते हैं। इन प्रजातियों के आसवन से प्राप्त सुगन्धित तेल संसार भर में विभिन्न उद्योगों जैसे पान मसाला, सर्दी-खांसी की दवाइयों, कन्फैक्शनरी, सुवास एवं फार्मास्युटिकल्स आदि में बड़े पैमाने पर प्रयुक्त किया जा रहा है। संसार भर में मेन्था के तेल की खुशबू एवं अवयव उपयोग की दृष्टि से तीसरे स्थान पर आते हैं जबकि प्रथम एवं द्वितीय स्थान क्रमशः वैनीला एवं सिट्रस का है। यद्यपि विश्व में मेन्था की उपरोक्त सभी प्रजातियों की खेती बड़े पैमाने पर की जा रही है किन्तु **जापानी पोदीना सर्वाधिक लोकप्रिय है एवं यह सर्वाधिक क्षेत्रफल में उगाया जा रहा है।** इसका प्रमुख कारण यह है कि इसके तेल से प्राप्त होने वाले विभिन्न अवयव जैसे- मेन्थॉल, मिथाइल एसीटेट एवं मेन्थॉन विभिन्न प्रकार की औषधियों, च्युईंग गम, टॉफी एवं कैंडी आदि बनाने में प्रयुक्त होते हैं।

भारत में मेन्था की खेती की शुरूआत सन् 1954 में क्षेत्रीय अनुसंधान प्रयोगशाला, जम्मू द्वारा की गयी थी एवं धीरे-धीरे इसकी खेती का विस्तार देश के अन्य राज्यों में होने लगा। क्षेत्रफल एवं उत्पादन की दृष्टि से मेन्था के उत्पादन में वर्तमान में उत्तर प्रदेश देशभर में सबसे आगे है।

दैनिक उपयोग की विभिन्न वस्तुएं जिनमें पोदीने के तेल का उपयोग किया जाता है

वर्तमान स्थिति

अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में मेन्था के तेल एवं इसके अवयवों की काफी अच्छी मांग है जिन्हें विभिन्न उद्योगों में प्रयोग

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

किया जा रहा है। पिछले कई वर्षों से मेन्था तेल के उत्पादन एवं अन्तर्राष्ट्रीय बाजार पर चीन का वर्चस्व रहा है। मेन्था उत्पादन की दृष्टि से सन् 1995 तक तो चीन प्रथम स्थान पर रहा और वह प्रतिस्पर्धा में सबसे आगे रहा। लेकिन सन् 1996-97 में भारत ने मेन्था का रिकार्ड उत्पादन कर चीन को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा से पीछे कर दिया और विश्व मानचित्र पर भारत मेन्था तेल उत्पादन करने वाले देशों में सबसे आगे हो गया। सन् 1995 में सम्पूर्ण विश्व में मेन्था तेल का कुल उत्पादन लगभग 17000 टन रहा जिसमें अकेले चीन ने 9000 टन से अधिक का उत्पादन कर विश्व में प्रथम स्थान हासिल किया था। किन्तु सन् 1996 में स्थिति एकदम बदल गयी और भारत ने 10000 टन से भी अधिक का उत्पादन कर अन्तर्राष्ट्रीय बाजार पर कब्ज़ा जमा लिया। वर्तमान में भारत मेन्था उत्पादन एवं निर्यात की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय बाजार पर अपना कब्ज़ा एवं दबदबा बनाये हुए है। भारत तथा चीन के अतिरिक्त मेन्था उत्पादक देशों में अन्य प्रमुख देश हैं—ब्राजील, जापान एवं थाइलैंड।

पिपरमिन्ट मेन्था की एक अन्य प्रजाति है जोकि उत्पादन एवं क्षेत्रफल की दृष्टि से दूसरे स्थान पर आती है। संयुक्त राज्य अमेरिका पिपरमिन्ट तेल का मुख्य उत्पादक देश है। विश्व में होने वाले इसके कुल उत्पादन (लगभग 4000 टन) का 90 प्रतिशत भाग अकेले अमेरिका पैदा करता है। भारत में पिपरमिन्ट के तेल का उत्पादन मात्र 150-200 टन प्रतिवर्ष है। मेन्था की एक अन्य प्रजाति स्पीयर मिन्ट का सम्पूर्ण विश्व में लगभग 2000-2200 टन प्रतिवर्ष तेल का उत्पादन होता है। इस तेल के उत्पादन में भी अमेरिका का प्रथम स्थान है।

उपरोक्तानुसार मेन्था की विभिन्न प्रजातियों के उत्पादन के आंकड़ों को देखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जापानी पोदीने के साथ-साथ पिपरमिन्ट एवं स्पीयर मिन्ट के उत्पादन की भी अच्छी सम्भावनाएं हैं क्योंकि वर्तमान में हम अमेरिका या अन्य देशों से इन प्रजातियों के तेल आयात करके घरेलू उद्योग की मांग की पूर्ति करते हैं। विशेष रूप से जापानी पोदीने अथवा मेन्थॉल मिन्ट-अथवा मेन्था ऑरवेन्सिस के प्रमुख घटक ''मेन्थॉल'' के लिए पर्याप्त देशीय एवं अंतर्राष्ट्रीय बाजार उपलब्ध होने तथा इसकी व्यापक मांग होने के कारण प्रस्तुत लेख में जापानी पोदीने की कृषि तकनीक से संबंधित विवरण दिए जा रहे हैं।

जापानी पोदीने की खेती से संबंधित कृषि क्रियाएं, उपयुक्त भूमि एवं जलवायु

जापानी पोदीना मुख्य रूप से मध्यम से लेकर भारी मृदाओं (जिनमें कार्बनिक पदार्थ प्रचुर मात्रा में हों) उगाया जा सकता है। भारत में मेन्था उत्पादन के सभी वर्तमान क्षेत्रों में मुख्यतः बलुई, बलुई दोमट एवं हल्की चिकनी मृदाओं की बहुलता है। भारी एवं चिकनी मृदाओं में मेन्था के पौधे का अच्छा विकास नहीं हो पाता। मेन्था उत्तरप्रदेश की आलू उगाये जाने वाली मृदाओं में जिनका पी.एच. स्तर 6-7.5 तक है, अच्छी तरह से उगाया जा रहा है। ऐसी मृदाएं जिनमें लम्बे समय तक जलभराव की सम्भावना हो, मेन्था की खेती नहीं की जानी चाहिए।

मेन्था का पौधा ऊष्ण एवं उपोष्ण जलवायु, जहां पर अपेक्षाकृत हल्के जाड़े एवं ग्रीष्म ऋतु गर्म हो, में आसानी से उगाया जा सकता है। ऐसे क्षेत्र, खास तौर से पहाड़ी इलाके जहां पर शीत ऋतु में पाला एवं बर्फ पड़ने की सम्भावनाएं हों, मेन्था की खेती के लिए उपयुक्त नहीं समझे जाते क्योंकि जलवायु के अत्यधिक ठंडा हो जाने पर मेन्था के पौधों की पत्तियों में तेल एवं मेन्थॉल का संस्लेषण प्रभावित होता है तथा पौधों की बढ़वार भी कम होती है।

जापानी पोदीने की विभिन्न प्रजातियाँ

जापानी पोदीने की अनेकों प्रजातियां प्रचलन में हैं जिनमें प्रमुख हैं—एम.ए.एस-1, एच.वाई-77 शिवालिक, हिमालय आदि. इस संदर्भ में यद्यपि 70% किसानों द्वारा शिवालिक प्रजाति अपनाई जा रही है परन्तु वर्तमान में **जापानी पोदीने की हिमालयन प्रजाति मेन्थॉल उत्पादन की दृष्टि से तथा ''मेन्थाल कन्टेन्ट'' की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ मानी जा रही है।**

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मेन्था की बिजाई हेतु खेत की तैयारी

मेन्था की बिजाई के पूर्व खेत की विधिवत तैयारी की जाना आवश्यक होगी। इसके लिए सर्वप्रथम मिट्टी पलटने वाले हल से या हैरो से आड़ा-तिरछा (क्रास) जुताई की जाती है ताकि मिट्टी अच्छी तरह भुरभुरी हो जाए। तदुपरान्त अंतिम जुताई के समय इस भूमि में 5% बी.एच.सी. पावडर 25 कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर की दर से खेत में मिला दिया जाता है ताकि दीमक आदि की समस्या दूर की जा सके। इसके उपरान्त खेत को समतल कर दिया जाता है।

मेन्था की बिजाई की विधि

मेन्था की बिजाई दो प्रकार से की जा सकती है—(क) सीधे सकर्स की बुवाई करके तथा (ख) पहले पौध तैयार करके फिर बिजाई करना। इन दोनों विधियों के विवरण निम्नानुसार हैं—

(क) सीधे सकर्स से बिजाई करना : यह विधि उन परिस्थितियों के लिए ज्यादा उपयोगी है जहां रबी की फसल न ली गई हो अथवा मेन्था की खेती पहली बार ली जा रही हो। इस विधि में उन क्षेत्रों से मेन्था के सकर्स (एक प्रकार की जड़ें) प्राप्त किए जाते हैं अथवा खरीदे जाते हैं जहां इनकी पहले से खेती की जा रही हो। तदुपरान्त इन सकर्स को सीधे खेत में 60 से 75 से.मी. की दूरी पर लगा दिया जाता है। मेन्था की बिजाई में पौधे से पौधे के मध्य की दूरी का ध्यान रखा जाना अत्यधिक महत्वपूर्ण है जोकि भूमि के उपजाऊपन तथा बुवाई के समय पर ज्यादा निर्भर करता है। यदि बिजाई जनवरी-फरवरी माह में की जा रही हो तथा उस खेत से तीन कटाइयां ली जाना हों तो पौधों के मध्य की दूरी अपेक्षाकृत ज्यादा (75 से.मी. तक) हो सकती है। परन्तु यदि बिजाई देर से (अप्रैल-मई महीनों में) की जा रही हो तो यह दूरी कम रखी जानी चाहिए। क्योंकि धीरे-धीरे ये पौधे घने होना शुरु हो जाते हैं अत: यदि प्रारंभ से ही पर्याप्त दूरी रखी जाए तो उचित होगा। यथासंभव बिजाई देशी हल से की जानी चाहिए क्योंकि इससे एक तो सही दूरी मेन्टेन की जा सकती है, दूसरे बीज ज्यादा गहरे नहीं जाते जिससे उनके उगने की समस्या नहीं आती। सकर्स जमीन में 5 से.मी. से ज्यादा गहरे नहीं जाने चाहिएं। सकर्स लगाने के उपरान्त खेत की सिंचाई कर दी जानी चाहिए। इस विधि से बिजाई करने में प्रति हेक्टेयर लगभग 3-4 क्विंटल सकर्स की जरूरत पड़ती है। जनवरी-फरवरी माह में लगाई गई सकर्स का जमाव 2 से 3 सप्ताह में होना शुरु हो जाता है। वैसे इस प्रक्रिया से मेन्था की बिजाई करने का सर्वाधिक उपयुक्त समय 15 जनवरी से 15 फरवरी के मध्य का है।

पोदीने की बिजाई हेतु प्रयुक्त किए जाने वाले सकर्स तथा पोदीना का पौधा

(ख) पौध लगाकर बिजाई करना : मेन्था बिजाई की यह विधि उन क्षेत्रों के लिए ज्यादा उपयोगी है जहां पहले रबी की फसल ली जा रही हो। इस विधि में सर्वप्रथम पौधों की नर्सरी तैयार की जाती है। एक एकड़ क्षेत्रफल में मेन्था लगाने के लिए लगभग 500 वर्गफीट की नर्सरी पर्याप्त रहती

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है जिसके लिए 100 कि.ग्रा. मेन्था सकर्स को छोटे-छोटे टुकड़ों में [प्रत्येक टुकड़े में कम से कम एक आंख (नोड) रहनी चाहिए], काटकर नर्सरी में पानी भर कर इन टुकड़ों को इस नर्सरी में बिखेर दिया जाता है। इस नर्सरी को झाड़ू से पीट देते हैं ताकि नर्सरी का पानी मटमैला हो जाए तथा जब यह पानी सूख जाए तो इसके ऊपर गोबर की सड़ी हुई खाद अथवा अन्य पुलवार आदि बिछा दी जाती है। लगभग 30-40 दिन में इस नर्सरी में पौधे इतने बड़े हो जाते हैं कि इन्हें बड़े खेत में ट्रांसप्लांट किया जा सके। मार्च-अप्रैल के माह में नर्सरी के इन पौधों को बड़े खेत में प्रत्यारोपित कर दिया जाता है। इन पौधों की बड़े खेत में रोपाई धान की रोपाई की तरह से ही की जाती है।

यद्यपि उपरोक्तानुसार मेन्था की बिजाई की दोनों विधियां प्रचलन में हैं तथा वस्तुस्थिति एवं आवश्यकता को देखते हुये किसान भाई इनमें से अपने लिए ज्यादा उपयुक्त विधि का उपयोग कर सकते हैं। इस संदर्भ में मध्यप्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में हुए प्रयोग यह दर्शाते हैं कि उपरोक्त दोनों विधियों में से सीधे सकर्स लगाकर मेन्था की बिजाई करने के अपेक्षाकृत ज्यादा अच्छे परिणाम मिले हैं।

संक्षेप में मेन्था की बिजाई करते समय निम्नलिखित बिन्दुओं का ध्यान रखा जाना ज्यादा हितकर होगा—

- यथा संभव बिजाई हेतु देशी हल का ही उपयोग करें।
- यथा संभव सीधे सकर्स से ही बिजाई करें।
- यह ध्यान रखें कि बीज (सकर्स) ज्यादा गहराई में न जाएं।
- बिजाई करते समय पौधे से पौधे की दूरी का पूरा ध्यान रखें।
- बिजाई करने से पूर्व सकर्स को कुछ देर के लिए गौमूत्र में डुबोकर रखें। इससे पौधों के उगने (germination) पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।
- यदि इस फसल से सही लाभ कमाना हो तो बिजाई के समय का सही ध्यान रखा जाना अत्यावश्यक होगा। अत: प्रथम फसल की बिजाई जनवरी-फरवरी में कर दी जानी चाहिए ताकि फसल की पहली कटाई मई माह में, दूसरी अगस्त माह में तथा तीसरी नवम्बर माह से पूर्व ली जा सके।

सिंचाई

मेन्था की फसल घनी पत्तियों से युक्त एवं रसीली होने के कारण यह काफी मात्रा में मृदा जल एवं पोषक तत्वों का शोषण करती है। इसलिए खेत में नमी बनाये रखने के लिए तथा पौधों की सही बढ़त के लिए मार्च-अप्रैल में 15-20 दिन के अन्तराल से एवं ग्रीष्म ऋतु में 8-10 दिन के अन्तराल से पानी देना आवश्यक होता है। मेन्था की फसल के कुल जीवन काल में लगभग 12-15 सिंचाईयों की आवश्यकता पड़ती है। खेत में नमी की कमी होने से फसल की वृद्धि प्रभावित हो सकती है।

खाद एवं उर्वरक

खाद एवं उर्वरक की मात्राएं मुख्यतया पूर्व में बोई गई फसल पर काफी हद तक निर्भर करती हैं। यदि खेत में आलू की फसल की खुदाई के बाद मेन्था बोया जा रहा हो तो दिये जाने वाले खाद एवं उर्वरकों की मात्राएं कम हो सकती हैं क्योंकि आलू में भरपूर मात्रा में उर्वरकों का प्रयोग किया जाता है। फसल में नाइट्रोजन की पूर्ति यूरिया या डी.ए.पी. के द्वारा तथा फॉस्फोरस एवं पोटाश की पूर्ति सुपर फॉस्फेट एवं म्यूरेट ऑफ पोटाश द्वारा की जाती है। सामान्यत: फसल में 150 कि.ग्रा. नाइट्रोजन, 70 कि.ग्रा. फॉस्फोरस एवं 40 कि.ग्रा. पोटाश देने की संस्तुति की जाती है। नाइट्रोजन की आधी मात्रा एवं अन्य पोषक तत्वों की कुल मात्रा को बुवाई से एक दिन पूर्व खेत में मिला दिया जाता है। नाइट्रोजन की शेष मात्रा को 2-3 बार में खड़ी फसल में देना उचित रहता है। उर्वरकों की संतुलित मात्रा देना ही उपयुक्त रहता है क्योंकि यदि नाइट्रोजन का अधिक मात्रा में प्रयोग किया जाए तो फसल पर कीट पतंगों के प्रकोप की सम्भावना बढ़ जाती है। वैसे यदि खेत में रासायनिक खाद के स्थान पर गोबर की खाद का प्रयोग किया जाए तो यह सबसे अच्छा रहेगा। इस संदर्भ में मेन्था की खेती में प्रति एकड़ 5 ट्राली गोबर की खाद डालने की संतुति की जाती है। गोबर अथवा कम्पोस्ट खाद के अतिरिक्त बायोफर्टीलाइज़र्स का उपयोग भी किया जा सकता है।

टॉनिक

मेन्था की अच्छी बढ़त के लिए सौरभ इण्डस्ट्रीज जलगाँव द्वारा उत्पादित जैविक टानिक **''जीवदान ग्रेनुअल्स''** का भी 8 कि.ग्रा. प्रति एकड़ की दर से उपयोग किया जा सकता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मेन्था की बिजाई हेतु खेत की तैयारी

मेन्था की बिजाई के पूर्व खेत की विधिवत तैयारी की जाना आवश्यक होगी। इसके लिए सर्वप्रथम मिट्टी पलटने वाले हल से या हैरो से आड़ा-तिरछा (क्रास) जुताई की जाती है ताकि मिट्टी अच्छी तरह भुरभुरी हो जाए। तदुपरान्त अंतिम जुताई के समय इस भूमि में 5% बी.एच.सी. पावडर 25 कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर की दर से खेत में मिला दिया जाता है ताकि दीमक आदि की समस्या दूर की जा सके। इसके उपरान्त खेत को समतल कर दिया जाता है।

मेन्था की बिजाई की विधि

मेन्था की बिजाई दो प्रकार से की जा सकती है—(क) सीधे सकर्स की बुवाई करके तथा (ख) पहले पौध तैयार करके फिर बिजाई करना। इन दोनों विधियों के विवरण निम्नानुसार हैं—

(क) सीधे सकर्स से बिजाई करना : यह विधि उन परिस्थितियों के लिए ज्यादा उपयोगी है जहां रबी की फसल न ली गई हो अथवा मेन्था की खेती पहली बार ली जा रही हो। इस विधि में उन क्षेत्रों से मेन्था के सकर्स (एक प्रकार की जड़ें) प्राप्त किए जाते हैं अथवा खरीदे जाते हैं जहां इनकी पहले से खेती की जा रही हो। तदुपरान्त इन सकर्स को सीधे खेत में 60 से 75 से.मी. की दूरी पर लगा दिया जाता है। मेन्था की बिजाई में पौधे से पौधे के मध्य की दूरी का ध्यान रखा जाना अत्यधिक महत्वपूर्ण है जोकि भूमि के उपजाऊपन तथा बुवाई के समय पर ज्यादा निर्भर करता है। यदि बिजाई जनवरी-फरवरी माह में की जा रही हो तथा उस खेत से तीन कटाइयां ली जाना हों तो पौधों के मध्य की दूरी अपेक्षाकृत ज्यादा (75 से.मी. तक) हो सकती है। परन्तु यदि बिजाई देर से (अप्रैल-मई महीनों में) की जा रही हो तो यह दूरी कम रखी जानी चाहिए। क्योंकि धीरे-धीरे ये पौधे घने होना शुरु हो जाते हैं अत: यदि प्रारंभ से ही पर्याप्त दूरी रखी जाए तो उचित होगा। यथासंभव बिजाई देशी हल से की जानी चाहिए क्योंकि इससे एक तो सही दूरी मेन्टेन की जा सकती है, दूसरे बीज ज्यादा गहरे नहीं जाते जिससे उनके उगने की समस्या नहीं आती। सकर्स जमीन में 5 से.मी. से ज्यादा गहरे नहीं जाने चाहिएं। सकर्स लगाने के उपरान्त खेत की सिंचाई कर दी जानी चाहिए। इस विधि से बिजाई करने में प्रति हेक्टेयर लगभग 3-4 क्विंटल सकर्स की जरूरत पड़ती है। जनवरी-फरवरी माह में लगाई गई सकर्स का जमाव 2 से 3 सप्ताह में होना शुरु हो जाता है। वैसे इस प्रक्रिया से मेन्था की बिजाई करने का सर्वाधिक उपयुक्त समय 15 जनवरी से 15 फरवरी के मध्य का है।

पोदीने की बिजाई हेतु प्रयुक्त किए जाने वाले सकर्स तथा पोदीना का पौधा

(ख) पौध लगाकर बिजाई करना : मेन्था बिजाई की यह विधि उन क्षेत्रों के लिए ज्यादा उपयोगी है जहां पहले रबी की फसल ली जा रही हो। इस विधि में सर्वप्रथम पौधों की नर्सरी तैयार की जाती है। एक एकड़ क्षेत्रफल में मेन्था लगाने के लिए लगभग 500 वर्गफीट की नर्सरी पर्याप्त रहती

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है जिसके लिए 100 कि.ग्रा. मेन्था सकर्स को छोटे-छोटे टुकड़ों में [प्रत्येक टुकड़े में कम से कम एक आंख (नोड) रहनी चाहिए], काटकर नर्सरी में पानी भर कर इन टुकड़ों को इस नर्सरी में बिखेर दिया जाता है। इस नर्सरी को झाड़ू से पीट देते हैं ताकि नर्सरी का पानी मटमैला हो जाए तथा जब यह पानी सूख जाए तो इसके ऊपर गोबर की सड़ी हुई खाद अथवा अन्य पुलवार आदि बिछा दी जाती है। लगभग 30-40 दिन में इस नर्सरी में पौधे इतने बड़े हो जाते हैं कि इन्हें बड़े खेत में ट्रांसप्लांट किया जा सके। मार्च-अप्रैल के माह में नर्सरी के इन पौधों को बड़े खेत में प्रत्यारोपित कर दिया जाता है। इन पौधों की बड़े खेत में रोपाई धान की रोपाई की तरह से ही की जाती है।

यद्यपि उपरोक्तानुसार मेन्था की बिजाई की दोनों विधियां प्रचलन में हैं तथा वस्तुस्थिति एवं आवश्यकता को देखते हुये किसान भाई इनमें से अपने लिए ज्यादा उपयुक्त विधि का उपयोग कर सकते हैं। इस संदर्भ में मध्यप्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में हुए प्रयोग यह दर्शाते हैं कि उपरोक्त दोनों विधियों में से सीधे सकर्स लगाकर मेन्था की बिजाई करने के अपेक्षाकृत ज्यादा अच्छे परिणाम मिले हैं।

संक्षेप में मेन्था की बिजाई करते समय निम्नलिखित बिन्दुओं का ध्यान रखा जाना ज्यादा हितकर होगा—

- यथा संभव बिजाई हेतु देशी हल का ही उपयोग करें।
- यथा संभव सीधे सकर्स से ही बिजाई करें।
- यह ध्यान रखें कि बीज (सकर्स) ज्यादा गहराई में न जाएं।
- बिजाई करते समय पौधे से पौधे की दूरी का पूरा ध्यान रखें।
- बिजाई करने से पूर्व सकर्स को कुछ देर के लिए गौमूत्र में डुबोकर रखें। इससे पौधों के उगने (germination) पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।
- यदि इस फसल से सही लाभ कमाना हो तो बिजाई के समय का सही ध्यान रखा जाना अत्यावश्यक होगा। अत: प्रथम फसल की बिजाई जनवरी-फरवरी में कर दी जानी चाहिए ताकि फसल की पहली कटाई मई माह में, दूसरी अगस्त माह में तथा तीसरी नवम्बर माह से पूर्व ली जा सके।

सिंचाई

मेन्था की फसल घनी पत्तियों से युक्त एवं रसीली होने के कारण यह काफी मात्रा में मृदा जल एवं पोषक तत्वों का शोषण करती है। इसलिए खेत में नमी बनाये रखने के लिए तथा पौधों की सही बढ़त के लिए मार्च-अप्रैल में 15-20 दिन के अन्तराल से एवं ग्रीष्म ऋतु में 8-10 दिन के अन्तराल से पानी देना आवश्यक होता है। मेन्था की फसल के कुल जीवन काल में लगभग 12-15 सिंचाईयों की आवश्यकता पड़ती है। खेत में नमी की कमी होने से फसल की वृद्धि प्रभावित हो सकती है।

खाद एवं उर्वरक

खाद एवं उर्वरक की मात्राएं मुख्यतया पूर्व में बोई गई फसल पर काफी हद तक निर्भर करती हैं। यदि खेत में आलू की फसल की खुदाई के बाद मेन्था बोया जा रहा हो तो दिये जाने वाले खाद एवं उर्वरकों की मात्राएं कम हो सकती हैं क्योंकि आलू में भरपूर मात्रा में उर्वरकों का प्रयोग किया जाता है। फसल में नाइट्रोजन की पूर्ति यूरिया या डी.ए.पी. के द्वारा तथा फॉस्फोरस एवं पोटाश की पूर्ति सुपर फॉस्फेट एवं म्यूरेट ऑफ पोटाश द्वारा की जाती है। सामान्यत: फसल में 150 कि.ग्रा. नाइट्रोजन, 70 कि.ग्रा. फॉस्फोरस एवं 40 कि.ग्रा. पोटाश देने की संस्तुति की जाती है। नाइट्रोजन की आधी मात्रा एवं अन्य पोषक तत्वों की कुल मात्रा को बुवाई से एक दिन पूर्व खेत में मिला दिया जाता है। नाइट्रोजन की शेष मात्रा को 2-3 बार में खड़ी फसल में देना उचित रहता है। उर्वरकों की संतुलित मात्रा देना ही उपयुक्त रहता है क्योंकि यदि नाइट्रोजन का अधिक मात्रा में प्रयोग किया जाए तो फसल पर कीट पतंगों के प्रकोप की सम्भावना बढ़ जाती है। वैसे यदि खेत में रासायनिक खाद के स्थान पर गोबर की खाद का प्रयोग किया जाए तो यह सबसे अच्छा रहेगा। इस संदर्भ में मेन्था की खेती में प्रति एकड़ 5 ट्राली गोबर की खाद डालने की संतुति की जाती है। गोबर अथवा कम्पोस्ट खाद के अतिरिक्त बायोफर्टीलाइज़र्स का उपयोग भी किया जा सकता है।

टॉनिक

मेन्था की अच्छी बढ़त के लिए सौरभ इण्डस्ट्रीज जलगाँव द्वारा उत्पादित जैविक टानिक **''जीवदान ग्रेनुअल्स''** का भी 8 कि.ग्रा. प्रति एकड़ की दर से उपयोग किया जा सकता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

खरपतवार नियंत्रण

मेन्था की फसल पर बुवाई से लेकर 40-45 दिनों तक खरपतवारों का प्रकोप अपेक्षाकृत ज्यादा रहता है। इस स्थिति से निबटने के लिए प्रभावी कदम उठाना आवश्यक होता है। यदि खरपतवारों का नियंत्रण समय रहते न किया जाए तो फसल की उपज में लगभग 35-40 प्रतिशत तक की हानि हो जाती है। कभी-कभी खरपतवार इतनी तीव्र वृद्धि करते हैं कि उन्हें समाप्त करना मुश्किल हो जाता है। इसके अतिरिक्त कटाई के समय यही खरपतवार फसल के साथ मिल जाते हैं तथा आसवन के समय मेन्था में मिल जाने के कारण तेल में एक अनैच्छिक बदबू पैदा करते हैं जिससे तेल की गुणवत्ता प्रभावित हो सकती है। अत: खरपतवारों की रोकथाम के लिए खेत को 15-20 दिन एवं 40-45 दिन के अन्तराल के बाद हाथ की खुर्पी से निराईयां देना आवश्यक होता है। रासायनिक विधि से खरपतवार नियंत्रण के लिए ऑक्सीफ्लुओरफेन (गोल) शाकनाशी की 0.75 लीटर मात्रा को 20-30 कि.ग्रा. बालू में मिलाकर खेत में छिटक दिया जाता है।

फसल पद्धति

सामान्य तौर पर यह देखा गया है कि किसी भी एक फसल को लगातार एक ही खेत में उगाते रहने से खेत की उर्वरा शक्ति का ह्रास होता है। मृदा की उर्वरा शक्ति के स्तर को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न फसलों को इस पद्धति से खेतों में चक्रीय क्रम में लगाया जाए जिससे मृदा की उर्वरा शक्ति का ह्रास न हो। फसलों को चक्रीय क्रम में लगाने से खरपतवारों का भी विनाश होता है। जापानी पोदीने को चावल, सरसों, लाही, आलू आदि के साथ फसल चक्र बनाकर उगाया जाना उपयुक्त पाया गया है। इसके अलावा मेन्था को गन्ने, लहसुन एवं प्याज के साथ अन्त: सस्यन के रूप में भी उगाया जा सकता है।

फसल की कटाई

एक बार लगा देने के उपरान्त मेन्था की फसल की साल भर में दो से तीन तक कटाइयां ली जा सकती हैं। अकेले मेन्था ही नहीं बल्कि सभी फसलों से गुणवत्ता युक्त तेल

कटाई हेतु तैयार मेन्था की फसल

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्राप्त करने के लिए फसल की कटाई एक महत्वपूर्ण कारक होती है। बुवाई के लगभग 120 दिन के बाद यह फसल कटाई के योग्य हो जाती है। फसल की द्वितीय कटाई प्रथम कटाई के 70-80 दिन बाद ली जा सकती है। फसल के पूर्ण रूप से पक जाने पर पौधों में फूल आ जाते हैं, इनकी पत्तियां हल्की पीली पड़ जाती हैं तथा पत्तियों को छूने पर वे सख्त एवं खरखरी लगती हैं। जब पौधों की यह स्थिति आ जाए तो इसका अर्थ है कि फसल कटने के लिए तैयार हो गई है। फसल की कटाई करते समय निम्नलिखित सावधानियाँ बरती जानी चाहिएं—

1. फसल को हमेशा चमकीली धूप में ही काटना चाहिए। सुबह लगभग 10 बजे के बाद ही फसल को काटें। इस तरीके से काटी गई फसल के आसवन से प्राप्त तेल का रंग अपेक्षाकृत चमकीला होता है।
2. फसल की कटाई के बाद उसे 4-5 घंटे तक खेत में ही पड़े रहने देना चाहिए। ऐसा करने से फसल की पत्तियों में उपस्थित नमी समाप्त हो जाती है।
3. कटाई से 8-10 दिन पूर्व फसल की सिंचाई बंद कर देनी चाहिए।
4. फसल की कटाई के बाद यदि आसवन करने में देरी हो रही हो तो फसल को खुला एवं फैले रहने देना चाहिए अन्यथा पत्तियों में सड़न हो सकती है।
5. फसल की कटाई धारदार हंसिए से करनी चाहिए ताकि पौधों के उखड़ने का भय न रहे।

मेन्था की फसल को हानि पहुंचाने वाले प्रमुख कीट

मेन्था की फसल पर कई प्रकार के कीट पतंगों का प्रकोप हो सकता है जिनकी समय रहते रोकथाम अत्यावश्यक होती है अन्यथा ये फसल को काफी नुकसान पहुंचा सकते हैं। इस संदर्भ में कुछ प्रमुख कीट जो मेन्था की फसल को हानि पहुंचा सकते हैं, निम्नानुसार हैं—

1. ट्राइक्लोसिया स्पी. का प्रकोप— पोदीने की पत्तियों पर काफी अधिक संख्या में ट्राइक्लोसिया स्पी. (Tricholusia Sp.) नामक कीट अंडे देता है जिससे निकलने वाली इल्लियां बड़ी शीघ्रता से पत्तों को नुकसान पहुंचाती हैं। इनके प्रकोप से ग्रसित पत्तियों का केवल ढांचा मात्र दिखाई देता है। इसकी रोकथाम के लिए यह आवश्यक है कि जैसे ही इस कीट का प्रकोप एक-दो पत्तियों पर दिखाई दे, उसी समय 20% फॉलीडाल पावडर को भुरक दिया जाना चाहिए। इस पावडर का भुरकाव अथवा छिड़काव प्रात: काल अथवा सायंकाल में करना चाहिए जब कीट इकट्ठे रहते हैं। इसकी रोकथाम हेतु 5% मेटासिस्टाक्स नामक कीटनाशक का सम्पूर्ण खेत में छिड़काव करना भी प्रभावकारी पाया गया है।

मेन्था की फसल को हानि पहुंचाने वाले प्रमुख कीट

2. रोयेंदार सुण्डी— मेन्था के पौधों पर पीले भूरे रंग की रोयेंदार सुन्डी का आक्रमण काफी स्थानों पर देखा गया है। इस सुण्डी की लम्बाई 2.5 से 3 से.मी. तक होती है। जिन पौधों पर इसका प्रकोप देखा जाता है उनके पत्ते कागज की तरह जालीदार हो जाते हैं जिससे फसल पर सीधा प्रभाव

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

खरपतवार नियंत्रण

मेन्था की फसल पर बुवाई से लेकर 40-45 दिनों तक खरपतवारों का प्रकोप अपेक्षाकृत ज्यादा रहता है। इस स्थिति से निबटने के लिए प्रभावी कदम उठाना आवश्यक होता है। यदि खरपतवारों का नियंत्रण समय रहते न किया जाए तो फसल की उपज में लगभग 35-40 प्रतिशत तक की हानि हो जाती है। कभी-कभी खरपतवार इतनी तीव्र वृद्धि करते हैं कि उन्हें समाप्त करना मुश्किल हो जाता है। इसके अतिरिक्त कटाई के समय यही खरपतवार फसल के साथ मिल जाते हैं तथा आसवन के समय मेन्था में मिल जाने के कारण तेल में एक अनैच्छिक बदबू पैदा करते हैं जिससे तेल की गुणवत्ता प्रभावित हो सकती है। अत: खरपतवारों की रोकथाम के लिए खेत को 15-20 दिन एवं 40-45 दिन के अन्तराल के बाद हाथ की खुर्पी से निराईयां देना आवश्यक होता है। रासायनिक विधि से खरपतवार नियंत्रण के लिए ऑक्सीफ्लुओरफेन (गोल) शाकनाशी की 0.75 लीटर मात्रा को 20-30 कि.ग्रा. बालू में मिलाकर खेत में छिटक दिया जाता है।

फसल पद्धति

सामान्य तौर पर यह देखा गया है कि किसी भी एक फसल को लगातार एक ही खेत में उगाते रहने से खेत की उर्वरा शक्ति का ह्रास होता है। मृदा की उर्वरा शक्ति के स्तर को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न फसलों को इस पद्धति से खेतों में चक्रीय क्रम में लगाया जाए जिससे मृदा की उर्वरा शक्ति का ह्रास न हो। फसलों को चक्रीय क्रम में लगाने से खरपतवारों का भी विनाश होता है। जापानी पोदीने को चावल, सरसों, लाही, आलू आदि के साथ फसल चक्र बनाकर उगाया जाना उपयुक्त पाया गया है। इसके अलावा मेन्था को गन्ने, लहसुन एवं प्याज के साथ अन्त: सस्यन के रूप में भी उगाया जा सकता है।

फसल की कटाई

एक बार लगा देने के उपरान्त मेन्था की फसल की साल भर में दो से तीन तक कटाइयां ली जा सकती हैं। अकेले मेन्था ही नहीं बल्कि सभी फसलों से गुणवत्ता युक्त तेल

कटाई हेतु तैयार मेन्था की फसल

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्राप्त करने के लिए फसल की कटाई एक महत्वपूर्ण कारक होती है। बुवाई के लगभग 120 दिन के बाद यह फसल कटाई के योग्य हो जाती है। फसल की द्वितीय कटाई प्रथम कटाई के 70-80 दिन बाद ली जा सकती है। फसल के पूर्ण रूप से पक जाने पर पौधों में फूल आ जाते हैं, इनकी पत्तियां हल्की पीली पड़ जाती हैं तथा पत्तियों को छूने पर वे सख्त एवं खरखरी लगती हैं। जब पौधों की यह स्थिति आ जाए तो इसका अर्थ है कि फसल कटने के लिए तैयार हो गई है। फसल की कटाई करते समय निम्नलिखित सावधानियाँ बरती जानी चाहिएं—

1. फसल को हमेशा चमकीली धूप में ही काटना चाहिए। सुबह लगभग 10 बजे के बाद ही फसल को काटें। इस तरीके से काटी गई फसल के आसवन से प्राप्त तेल का रंग अपेक्षाकृत चमकीला होता है।
2. फसल की कटाई के बाद उसे 4-5 घंटे तक खेत में ही पड़े रहने देना चाहिए। ऐसा करने से फसल की पत्तियों में उपस्थित नमी समाप्त हो जाती है।
3. कटाई से 8-10 दिन पूर्व फसल की सिंचाई बंद कर देनी चाहिए।
4. फसल की कटाई के बाद यदि आसवन करने में देरी हो रही हो तो फसल को खुला एवं फैले रहने देना चाहिए अन्यथा पत्तियों में सड़न हो सकती है।
5. फसल की कटाई धारदार हंसिए से करनी चाहिए ताकि पौधों के उखड़ने का भय न रहे।

मेन्था की फसल को हानि पहुंचाने वाले प्रमुख कीट

मेन्था की फसल पर कई प्रकार के कीट पतंगों का प्रकोप हो सकता है जिनकी समय रहते रोकथाम अत्यावश्यक होती है अन्यथा ये फसल को काफी नुकसान पहुंचा सकते हैं। इस संदर्भ में कुछ प्रमुख कीट जो मेन्था की फसल को हानि पहुंचा सकते हैं, निम्नानुसार हैं—

1. ट्राइक्लोसिया स्पी. का प्रकोप— पोदीने की पत्तियों पर काफी अधिक संख्या में ट्राइक्लोसिया स्पी. (Tricholusia Sp.) नामक कीट अंडे देता है जिससे निकलने वाली इल्लियां बड़ी शीघ्रता से पत्तों को नुकसान पहुंचाती हैं। इनके प्रकोप से ग्रसित पत्तियों का केवल ढांचा मात्र दिखाई देता है। इसकी रोकथाम के लिए यह आवश्यक है कि जैसे ही इस कीट का प्रकोप एक-दो पत्तियों पर दिखाई दे, उसी समय 20% फॉलीडाल पावडर को भुरक दिया जाना चाहिए। इस पावडर का भुरकाव अथवा छिड़काव प्रातः काल अथवा सायंकाल में करना चाहिए जब कीट इकट्ठे रहते हैं। इसकी रोकथाम हेतु 5% मेटासिस्टाक्स नामक कीटनाशक का सम्पूर्ण खेत में छिड़काव करना भी प्रभावकारी पाया गया है।

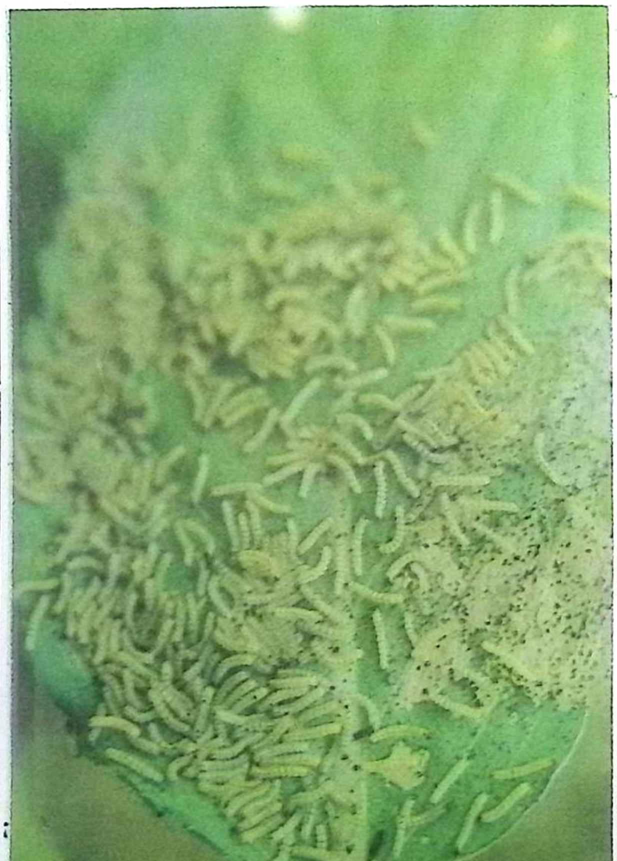

मेन्था की फसल को हानि पहुंचाने वाले प्रमुख कीट

2. रोयेंदार सुण्डी— मेन्था के पौधों पर पीले भूरे रंग की रोयेंदार सुन्डी का आक्रमण काफी स्थानों पर देखा गया है। इस सुण्डी की लम्बाई 2.5 से 3 से.मी. तक होती है। जिन पौधों पर इसका प्रकोप देखा जाता है उनके पत्ते कागज की तरह जालीदार हो जाते हैं जिससे फसल पर सीधा प्रभाव

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पड़ता है तथा उत्पादन बुरी तरह प्रभावित होता है क्योंकि पत्तियों के भोजन बनाने की क्षमता लगभग समाप्त हो जाती है। इस कीट के नियंत्रण के लिए इन्डोसल्फान अथवा न्यूनालफास के लगभग 500 मि.ली. तैलीय घोल का प्रति हेक्टेयर छिड़काव करके इस कीट के प्रकोप से फसल की सुरक्षा की जा सकती है।

3. सेमीलूपर सुण्डी— यह सुण्डी लगभग 3 से 4 मि.मी. लम्बी होती है, इसका रंग हरा तथा इसके शरीर के दोनों ओर सफेद रेखाएं होती हैं। यह सुण्डी पत्तियों को सीधे काटकर खाती है तथा पत्तियों पर छेद बना देती है। इस सुण्डी का प्रकोप प्राय: मेन्था की फसल की दूसरी कटाई के समय होता है। इस कीट से फसल की सुरक्षा हेतु 500 मि.लीटर मेलाथियान-50 ई.सी. का छिड़काव प्रति हेक्टेयर की दर से किया जाना चाहिए।

4. माहू कीट— मेन्था के पौधों पर माहू कीट का प्रकोप प्राय: फरवरी एवं मार्च माह में होता है। यह कीट तेजी से बढ़ता है तथा पौधों के रस को चूसकर उनकी बढ़वार को प्रभावित करता है। इस कीट से पौधों की सुरक्षा के लिए प्रति हेक्टेयर लगभग 500 मि.ली. फास्फामिडान-ई.सी. कीटनाशक का प्रयोग प्रभावकारी रहता है।

5. सफेद मक्खी—यह एक से दो मि.मी. लम्बी दूधिया-सफेद रंग की मक्खी मेन्था की पत्तियों के नीचे आक्रमण करके पौधों का रस चूसती है जिससे पौधे की बढ़वार रूक जाती है। इस मक्खी द्वारा एक मीठा पदार्थ भी विसर्जित किया जाता है जिस पर सूटी मोल्ड नामक कवक विकसित हो जाता है जो पौधों में प्रकाश संशलेषण की क्रिया को रोक देता है। इस मक्खी से पौधे की सुरक्षा के लिए फॉस्फामिडान ई.सी. के 200 मि.ली. अथवा इन्डोसल्फान ई.सी.के 400 से 500 मि.ली. कीटनाशक का छिड़काव प्रति हेक्टेयर किया जाना लाभकारी होता है।

6. पत्ती लपेटने वाला कीट—प्राय: अगस्त या सितम्बर माह में मेन्था की फसल पर इस कीट का प्रकोप होता है। यह कीट हरे रंग का होता है जिस पर लाल एवं पीले रंग की बिन्दियां होती हैं। विशेष रूप से सूर्य के प्रकाश में यह कीट और भी ज्यादा क्रियाशील हो जाता है। मेन्था की फसल को यह कीट काफी अधिक नुकसान पहुंचा सकता है जिससे फसल को सुरक्षित रखने के लिए उस पर प्रति हेक्टेयर लगभग 500 मि.ली. क्विकफास-25 ई.सी. को पानी में घोलकर उसका छिड़काव करने से फसल की सुरक्षा की जा सकती है।

7. दीमक— दीमक भी मेन्था की फसल को नुकसान पहुंचाता है तथा मेन्था के पौधे के तने के जमीन से लगे भाग के भीतर घुसकर यह उसके सेल्यूलोज़ के भाग को खाता है जिससे पौधे मुरझाने लगते हैं। प्राय: जिन क्षेत्रों में सिंचाई की उचित सुविधा नहीं होती अथवा जहां कच्चे गोबर की हरी खाद का ज्यादा उपयोग होता हो वहां दीमक के प्रकोप की अधिक संभावना रहती है। यद्यपि दीमक की मादा के जमीन में रहने के कारण उस पर नियंत्रण पाना कठिन कार्य होता है परन्तु दीमक श्रमिकों पर नियंत्रण पाया जा सकता है जिसके लिए क्लोरडेन 10% के धूल का 15 से 20 कि.ग्रा. प्रति हेक्टेयर उपयोग मेन्था की फसल को दीमक के प्रकोप से मुक्ति दिला सकता है।

जड़ों का घुन (Root Weevil) भी मेन्था की एक प्रमुख बीमारी है जिसमें इस कीट का लारवा जड़ों तथा सकर्स को खाता है तथा पौधे सूखते दिखाई पड़ते हैं अथवा छोटे रह जाते हैं। इसके बचाव के लिए 10% एल्ड्रिन पावडर 10 कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर की दर से पोदीने की कतारों में डाल देना चाहिए।

उपरोक्त के अतिरिक्त जालीदार कीट तथा काला कीट भी मेन्था की फसल को प्रभावित करते हैं। जालीदार कीट प्राय: बर्गामोट मिन्ट को तथा काली कीट प्राय: मेन्था पिपरेटा को नुकसान पहुंचाता है। जालीदार कीट लगभग 2 मि.मी. लम्बा तथा 1.5 मि.मी. चौड़ा होता है तथा इसके शरीर की ऊपरी सतह पर लम्बे काले एवं जाली की तरह के चिन्ह बने होते हैं। यह पौधों की मुलायम पत्तियों का रस चूसता है जिससे पौधा जला हुआ दिखता है। इसके नियंत्रण के लिए प्रति हेक्टेयर लगभग 500 मि.ली. डायमेथोएट का छिड़काव उपयोगी होता है।

मेन्था का काला कीट 2 से 3 मि.मी. लम्बा होता है तथा इसके पंख मोटे और कड़े होते हैं। यह कीट मेन्था की पत्तियों तथा उसके मुलायम तने को नुकसान पहुंचाता है। इसकी सुन्डियां, जिनके शरीर पर लम्बे काले बाल होते हैं तथा जिनके ऊपरी भाग पर बिन्दियां बनी होती हैं, भी फसल को नुकसान पहुंचाती हैं। इस कीट के प्रौढ़ नीले काले रंग के होते हैं। इनके ऊपर भी कई बिन्दियां ऊपरी दोनों पंखों पर होती हैं। कीटनाशक इन्डोसल्फान ई.सी.के 400 मि.ली. अथवा मैलाथियान के 300 मि.ली. का पानी में घोल बनाकर छिड़कने से इस कीट से मेन्था की फसल की रक्षा की जा सकती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मेन्था के अन्य रोग तथा उनका निदान

किन्हीं अन्य रोगों तथा कीटाणुओं का प्रकोप भी मेन्था की फसल पर हो सकता है जैसे चुरड़ा-मुरड़ा, पत्ती पीली पड़ना (मोज़ेक) आदि। इन रोगों से प्रभावी सुरक्षा हेतु **गोदरेज** के उत्पाद ''अचूक'' का उपयोग किया जा सकता है।

मेन्था के पत्तों से तेल का उत्पादन

मेन्था की पत्तियों की कटाई के उपरांत तेल निकालने के लिए उनका आसवन किया जाता है। हालांकि आवन के लिए ज्यादातर वाष्प आसवन विधि को उपयुक्त माना जाता है किन्तु व्यवहारिक तौर पर 90 प्रतिशत कृषक जल वाष्प आसवन पद्धति से ही मेन्था का आसवन करते हैं। इसका मुख्य कारण यह भी है कि जल वाष्प आसवन पद्धति काफी सस्ती एवं किसानों के मध्य ज्यादा लोकप्रिय है। परंपरागत एवं साधारण जलवाष्प आसवन पद्धति द्वारा पत्तियों से औसतन 0.6 प्रतिशत तक तेल प्राप्त किया जा सकता है। सामान्य तौर पर कृषक इस पद्धति को पसंद करते हैं। इस विधि से आसवन करने के लिए इकाई को चलाने के लिए ज्यादा ईंधन की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि तेल निंकलने के बाद बची हुई घास को ही सुखाकर ईंधन के रूप में प्रयुक्त कर लिया जाता है।

यद्यपि मेन्था की पत्तियों से निकलने वाली तेल की मात्रा अनेकों कारकों - मेन्था की प्रजाति, भूमि का उपजाऊपन, फसल की देखभाल तथा कटाई के समय एवं आसवन के लिए प्रयुक्त किए गए आसवन संयंत्र आदि पर निर्भर करती है परंतु मध्यप्रदेश के संदर्भ में पाया गया है कि यहां पर पत्तियों की तुलना में मेन्था के आयल की मात्रा औसतन 1 प्रतिशत तथा इससे अधिक पाई गई है। इस प्रकार मध्यप्रदेश के संदर्भ में मेन्था की खेती से प्रति एकड़ (तीन कटाइयों में) लगभग 100 कि.ग्रा. तक तेल का उत्पादन होना पाया गया है। मेन्था की खेती के आर्थिक लेखा-जोखा का विवरण इस लेख के अंत में दिया गया है।

मेन्था तेल का आगे प्रक्रियाकरण एवं उससे निकलने वाले अवयव

मेन्था का तेल विभिन्न उद्योगों जैसे फार्मास्युटिकल, पान मसाला, कनफैक्शनरी, टूथपेस्ट, कैण्डीज़, च्युईंग गम, माउथवाश, सिगरेट उद्योग एवं कॉस्मेटिक (आफ्टर शेव, कोलीन, लोशन, डिऑडोरेन्ट, लिपिस्टिक, टेल्कम पाउडर) उद्योग आदि में बहुतायत से प्रयोग किया जा रहा है। तेल का उपयोग करने से पूर्व उसे प्रभाजी आसवन (Fractional Distillation) या प्रभाजीकरण द्वारा उसके मुख्य घटकों-मेन्थॉल, आइसो-मेन्थॉन, लिनालुल, लिनालाइल एसीटेट एवं कार्वोन आदि में विभाजित कर लिया जाता है, जिनका विश्व स्तर पर बड़े पैमाने पर प्रयोग किया जा रहा है।

मेन्था आयल से मेन्था फ्लेक्स एवं क्रिस्टल्स का निर्माण

मेन्था आयल को आगे प्रक्रियाकृत करके उससे उच्च मूल्य उत्पाद (Value added products) - मेन्था फ्लेक्स तथा मेन्था क्रिस्टल्स बनाए जाते हैं। क्योंकि फ्लेक्स तथा अंततः क्रिस्टल्स बनाने में शुद्ध रूप में मेन्थॉल् (मेन्था आयल में मेन्थॉल के साथ-साथ कई अन्य तत्व भी होते हैं) प्राप्त होता है, अतः इनकी मांग स्वतः ही बढ़ जाती है। वर्तमान में मेन्था आयल से फ्लेक्स तथा क्रिस्टल्स बनाने की कई इकाईयां स्थापित हो चुकी हैं जो किसानों से मेन्था आयल खरीद सकती हैं।

मेन्था आयल से फ्लेक्स बनाने में 72 घंटे (अधिकतम) का समय लगता है तथा ऐसी इकाई जिसमें प्रति बैच (72 घंटे में) लगभग 500 कि.ग्रा. फ्लेक्स बनाए जा सकें, की लागत लगभग 2.50 लाख रू. होती है। इस लागत में 500 कि.ग्रा. क्षमता के दो कूलिंग केबिनेट, एक सैन्ट्रीफ्यूगल मशीन तथा 5-5 कि.ग्रा. क्षमता के 100 एल्यूमीनियम कन्टेनर्स सम्मिलित हैं। मेन्था फ्लेक्स से आगे क्रिस्टल बनाने में लगभग 22-25 दिन का समय लगता है। फ्लेक्स से क्रिस्टल बनाने की संपूर्ण इकाई जिसमें 800 कि.ग्रा. क्षमता का एक कूलिंग केबिनेट हो, एक सैन्ट्रीफ्यूगल मशीन हो, एक मिक्सिग टैंक हो तथा 50-50 कि.ग्रा. क्षमता के 16 कन्टेनर्स हों, लगभग 1.50 लाख रू. की लागत में स्थापित की जा सकती है। इस प्रकार मेन्था आयल से फ्लेक्स तथा अन्ततः क्रिस्टल्स बनाने की संपूर्ण इकाई में लगभग 4 लाख रू. मूल्य की मशीनरी प्रयुक्त होगी। मेन्था आयल से फ्लेक्स एवं क्रिस्टल्स बनाने संबंधी इकाई की तकनीकी जानकारी एवं मार्गदर्शन तथा मशीनरी आदि प्राप्त करने हेतु निम्नलिखित पते पर संपर्क किया जा सकता है-

- **मे. स्वराज फैब्रीकेटर्स**
  फैजाबाद रोड, बाराबंकी (उ.प्र.)
  फोन : (05248) 22792/23142

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मेन्था उद्योग के वर्तमान बाजार की स्थति एवं भविष्य की संभावनाएं

किसी भी उद्योग को स्थापित करने से पहले यह अत्यावश्यक होता है कि उसके उत्पादों एवं कच्चे माल की आपूर्ति के स्रोतों का पता लगा लिया जाये। बाजार एक ऐसी संरचना है जिसके ऊपर उद्योग की सफलता एवं असफलता निर्भर करती है। सभी उत्पादों का बाजार कहीं न कहीं उपलब्ध होता है किन्तु उसे खोजने की आवश्यकता है। यह कार्य नये उद्यमियों के लिए कठिन है किन्तु असम्भव नहीं। मेन्था के तेल उत्पादक क्षेत्रों में मुख्य रूप से तेल के खरीददार छोटी आढ़तें एवं दुकानें लगाकर रखते हैं किन्तु मेन्था तेल के आसवन का भरपूर समय (peak season) होने पर मुम्बई, दिल्ली, नोयडा एवं अन्य स्थानों से थोक खरीददार स्वयं आकर माल ले जाते हैं। मेन्था के तेल की खरीद-फरोख्त करने के लिए उत्तरप्रदेश के चन्दौसी, सम्भल, मुरादाबाद एवं बदायूँ आदि क्षेत्रों का नाम प्रमुख है।

वर्तमान में भारत के कुल उत्पादन का लगभग 80-90 प्रतिशत मेन्था तेल उत्तरप्रदेश पैदा करता है जबकि उत्पादन का बाकी हिस्सा शेष राज्यों के हिस्से में चला जाता है। **मेन्था उत्पादन के क्षेत्र में मध्यप्रदेश भी तेजी से आगे बढ़ रहा है तथा अभी तक 100 से अधिक किसानों में मध्यप्रदेश में मेन्था की खेती प्रारंभ कर दी है।**

भारत के कई अन्य राज्य ऐसे हैं जिनमें मेन्था की खेती के लिए उपयुक्त जलवायु उपलब्ध है जैसे—मध्यप्रदेश, बिहार, हरियाणा एवं पंजाब राज्य। मृदीय एवं जलवायुवीय दशाओं एवं उपलब्धता के आधार पर यदि इन राज्यों में भी इसकी खेती को बढ़ावा दिया जाये तो भारत मेन्था उत्पादक देशों में हमेशा अग्रणी बना रहेगा। उक्त राज्यों के कृषकों के लिए भी मेन्था की खेती एक वरदान साबित हो सकती है।

मेन्था उत्पादों की दरों में उतार-चढ़ाव

मेन्था के आलोचक प्राय: एक बात को अत्यधिक बढ़ा-चढ़ा कर कहते हैं कि ''मेन्था की दरों में फ्लक्चुएशन (उतार-चढ़ाव) बहुत ज्यादा हैं'', अत: यह एक अत्यधिक रिस्की (जोखिम वाली) फसल है। उनका यह कथन केवल आधा सही है। नि:सन्देह मेन्था की दरों में फ्लक्चुएशन्स तो हैं परन्तु ये किसानों के हित में हैं। गत दो वर्षों की मेन्था की दरों पर ध्यान दिया जाए तो प्राय: न्यूनतम दर 300 रु. प्रति कि.ग्रा. रही है जबकि अधिकतम दर 850 रु. प्रति कि.ग्रा. तक जा चुकी है। अत: किसान को सदैव यह मान कर चलना चाहिए कि उसे न्यूनतम 300 रु.तो मिलेंगे ही। हां यदि इससे ज्यादा मिल जाए तो वह उसका ''बोनस'' होगा। वैसे मेन्था की खेती के संदर्भ में की गई समस्त गणनाएं दर्शाती हैं कि यदि मेन्था ऑयल की दर 200 रु. प्रति कि.ग्रा. भी निकले तब भी इसकी खेती करना परम्परागत फसलों की अपेक्षा ज्यादा लाभकारी होगा। अत: यूं तो सामान्यतया मेन्था ऑयल की दरों मे उतार-चढ़ाव देखे जाते हैं परन्तु ये उतार-चढ़ाव किसानों के ही हित में है। वैसे किसानों को यह मानकर चलना चाहिए की उन्हें मेन्था ऑयल से प्रति कि.ग्रा. 300 रु. की ही प्राप्तियां होंगी।

मेन्था के बीज (सकर्स) कहां से प्राप्त करें?

यद्यपि मध्यप्रदेश में मेन्था उत्पादन का प्रारंभिक वर्ष होने के कारण किसानों को प्रथम वर्ष (1997-98 में) सकर्स प्राप्त करने में काफी कठिनाइयां आईं क्योंकि कई किसानों को सकर्स उत्तरप्रदेश से लाने पड़े। परन्तु क्योंकि अभी तक मध्यप्रदेश के विभिन्न भागों में लगभग 100 से अधिक किसानों द्वारा इसकी खेती प्रारंभ की जा चुकी है, अत: अब ये सकर्स प्राप्त करने में कोई परेशानी नहीं है तथा अब ये मध्यप्रदेश में ही उपलब्ध हैं। मध्यप्रदेश के कुछ प्रमुख मेन्था सकर्स प्रदायकर्ताओं के पते इस पुस्तक के अंत में दिए गए हैं।

मेन्था के आसवन हेतु मशीनरी/संयंत्र

मेन्था के आसवन हेतु मुख्यतया दो प्रकार के आसवन संयत्र उपलब्ध हैं। न्यूनतम 250 कि.ग्रा. से 3 टन तक की क्षमता के इन संयंत्रों की लागत 25,000 रु. से लेकर 2.5 लाख रु. तक होती है। इस संदर्भ में सस्ते आसवन संयंत्रों की अपेक्षा आधुनिक संयंत्रों में प्रमुख विशेषताएं ये होती हैं कि—(क) इनसे तेल निकालने में अपेक्षाकृत कम समय लगता है (प्राय: सस्ते संयंत्रों का उपयोग करके तेल का एक बैच निकालने में $3\frac{1}{2}$ से 6 घंटे लग जाते हैं जबकि आधुनिक संयंत्रों से मात्र $2\frac{1}{2}$-3 घंटे में ही तेल निकल जाता है); (ख) मंहगे संयंत्रों से तेल निकालने में अपेक्षाकृत जलाऊ लकड़ी अथवा फ्यूल की कम खपत होती है; (ग) महंगे संयत्र शाक (मेन्था के पत्तों) से आखिरी बूंद तक तेल निकालने में सक्षम होते हैं जबकि सस्ते संयंत्रों में ऐसा सदैव संभव नहीं हो पाता अत: ऑयल की रिकवरी भी प्रभावित होती है; (घ) महंगे संयत्रों से प्राय: एक दिन में 4 से 6 तक बैच लिए जा सकते हैं जबकि सस्ते संयंत्रों से

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

4. पामरोज़ा अथवा रोशा घास

रोशा घास, जिसे पामारोशा अथवा पामरोज़ा अथवा तिखाड़ी के नाम से भी ज़ाना जाता है, का वानस्पतिक नाम ''सिम्बोपोगॉन मारटिनी जाति मोतिया'' है। यह घास कुल की एक महत्वपूर्ण बहुवर्षीय सुगंधित तेल धारक फसल है। इसके तेल में 75 से 90% तक जिरेनियॉल तत्व पाया जाता है जिससे इसके महत्व का आभास होता है। इसकी उपलब्धता कम वर्षा वाले जंगलों के क्षेत्रों में मुख्यत: मध्यप्रदेश (खण्डवा, होशंगाबाद, बैतूल), महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश, कर्नाटक व सामान्य से अधिक वर्षा वाले कुछ उत्तर प्रदेश के क्षेत्रों में होती है। ''पुराना बरार क्षेत्र'' इस फसल के लिये हमेशा उल्लेखनीय रहेगा। इस घास से प्राप्त तेल को बाजार में ''मेंहदी के तेल'' के नाम से भी जाना जाता है जो साधारण जल-वाष्पीकरण क्रिया से मुख्यत: अधपके पुष्पकुंजों तथा पत्तियों से प्राप्त होता है। इस तेल का उपयोग मुख्यत: अगरबत्ती, सुगंधित साबुन, सुगंधित प्रसाधन सामग्री के निर्माण तथा तम्बाकू को सुगंधित करने में होता है। गर्म तासीर के कारण इसके तेल की मालिश घुटनों तथा शरीर के अन्य जोड़ों के दर्द में मालशी के रूप में होती है। इसके साथ-साथ यह मच्छर भगाने वाले रीपेलैन्टस में भी प्रयुक्त होता है। दवाइयों में भी इसके कई उपयोग हैं। यद्यपि इसका अधिकांश भाग अभी भी जंगलों से ही प्राप्त होता है (ज़हां यह प्राकृतिक रूप में प्राप्त होता है) परन्तु इसकी नियमित तथा निरन्तर बढ़ती जा रही मांग के कारण अब इसकी विधिवत खेती भी प्रारंभ हो चुकी है तथा यह काफी सफल सिद्ध हो रही है। इस फसल पर यद्यपि भारतवर्ष का प्रमुख आधिपत्य है परन्तु यह फसल इंडोनेशिया, ग्वाटेमाला, हांडुरस, पूर्वी अफ्रीका, क्यूबा तथा ब्राजील में भी पैदा की जाती है। वर्तमान में इसके तेल का निर्यात करके भारत प्रतिवर्ष 28 से 50 लाख रुपये विदेशी मुद्रा के रूप में अर्जित करता है।

म.प्र. के जंगलों में प्राकृतिक रूप से पाई जाने वाली रोशा घास

पामरोज़ा की कृषि तकनीक

जलवायु एवं भूमि : ऐसे क्षेत्र जहां वर्ष में तापक्रम 10 से 40 डिग्री सेल्सियम हो, जहां वर्षा लगभग 100 से.मी. व धूप प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो, रोशा की खेती के लिये उपयुक्त होते हैं। अधिक वर्षा, सर्दी तथा पाला व छांवदार क्षेत्र इसकी उत्तम काश्त हेतु ठीक नहीं होते हैं। रेतीली दूमट, दूमट तथा मध्यम काली मिट्टी जिसमें उत्तम जल निकास व्यवस्था हो, इसकी काश्त के लिये उत्तम हैं। यह घास पहाड़ी क्षेत्रों में जहां मिट्टी कम तथा मुरम अधिक हो, वहां भी पैदा की जा सकती है, जो भूमि सुधार में भी सहायक होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बीज की मात्रा तथा पौधशाला की तैयारी : एक हैक्टेयर खेत में प्रत्यारोपण करने हेतु 2-3 किलो ग्राम बीज पर्याप्त होता है। अधिक पैदावार हेतु इन्दौर केन्द्र पर विकसित मोतिया रोशा की उन्नत जाति आय.डब्ल्यू.-31245 तथा सी.आय. 80-68 का बीज उपयोग में लाया जाना लाभकारी होगा। मई के प्रथम अथवा द्वितीय सप्ताह के करीब 20 से.मी. जमीन से ऊंची उठी हुई क्यारियों में (आकार 1×10 मीटर) गोबर खाद की समुचित मात्रा मिलानी चाहिये। प्रत्येक क्यारी में 20-25 ग्राम बी.एच.सी. 10% चूर्ण अच्छी तरह अवश्य मिलायें और 10 से.मी. दूर कतारों में 1-2 से.मी. गहराई पर बीज बोयें। बीज को गोबर खाद युक्त बारीक मिट्टी से इस प्रकार ढकें कि बीज दिखता रहे। प्रतिदिन क्यारियों की सिंचाई करें। गर्मी अधिक होने पर सुबह-शाम सिंचाई करें और पौधशाला को सीधी धूप से बचायें। लगभग 45-50 दिन के उपरान्त जब पौधे लगभग 15-20 से.मी. ऊंचे हो जाएं तो उन्हें जड़ सहित निकालकर रोपाई के काम में लेना चाहिए।

भूमि की तैयारी : वर्षा से पूर्व खेत की एक या दो बार हल से गहरी जुताई करके 2-3 बार बखर चला देना चाहिए। आखिरी बखरनी से पूर्व 8-10 टन गोबर की खाद तथा 8 किलो 10 प्रतिशत बी.एच.सी. चूर्ण प्रति एकड़ दे देना चाहिए। अंत में पाटा चलाकर खेत ऐसे समतल करना चाहिए कि पानी खेत में रुके नहीं।

उर्वरक खाद एवं जैविक खाद का उपयोग : अधिक उपज के लिए असिंचित अवस्था में प्रति एकड़ 12 किलो नत्रजन (दो बराबर भाग में), इतना ही स्फुर व 8 किलो पोटाश प्रत्यारोपण पूर्व नालियों (कतारों) में दें। नत्रजन का बचा हुआ दूसरा भाग (6 किलो) प्रत्यारोपण के 30-40 दिन बाद पौधों की जड़ों के पास दें। सिंचित अवस्था में कुल 16-24 किलो नत्रजन (4 किलो प्रत्यारोपण पर) व 8 किलो स्फुर तथा 4 किलो पोटाश प्रति एकड़ प्रत्यारोपण के समय नालियों (कतारों) में दें। बाकी नत्रजन की आधी मात्रा दो भागों में बांटकर-प्रथम मात्रा प्रथम कटाई के बाद तथा दूसरी मात्रा द्वितीय कटाइ के बाद दें।

विभिन्न क्षेत्रों में किये गये प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि एजोटोबेक्टर कल्चर का उपयोग करने से रोशा घास तथा उसके तेल की उपज में आशातीत वृद्धि प्राप्त हुई है। प्रति एकड़ 1 किलो एजोटोबेक्टर को प्रत्यारोपण से पूर्व पौधशाला वाले पौधों की जड़ों या पुराने पौधों से बनाये गये जड़दार पौधों की जड़ों में लगाकर अथवा प्रत्यारोपण के बाद परन्तु एक माह की अवधि के अंदर-अंदर 1 किलो कल्चर को 20 किलो बारीक गोबर की खाद में मिलाकर खड़ी फसल में भूमि पर बिखेरकर देने से उपज में वृद्धि होती है। एजोटोबेक्टर देने से उपज में वृद्धि होती है। एजोटोबेक्टर कल्चर का उपयोग करने से नत्रजन उर्वरक की आधी मात्रा की बचत होती है।

रोपाई : पौधशाला या पुराने पौधों से बनाये गये जड़दार कूचों (Slips) को जड़ की तरफ से 10-20 मिनट तक 0.1% बावस्टीन घोल में डुबाने के उपरान्त पौधों को 45 से.मी. दूर बनी हुई 15-20 से.मी. गहरी कतारों में पौधे से पौधे की दूरी 15-20 से.मी.रखते हुए हो सके तो बरसते पानी में प्रत्यारोपित करें। यद्यपि पौधशाला वाले पौधों को प्रत्येक स्थान पर एक स्वस्थ पौधा तथा पुराने पौधों के जड़दार कूचों के 2-3 कूचे प्रत्येक स्थान पर रोपित करना लाभकर होता है, परन्तु नर्सरी पौध लगाने से प्रति इकाई सही पौध संख्या प्राप्त होती है। किसी कारणवश यदि कुछ पौधे जड़ न पकड़ पाये हों तो 15 दिन के अंदर नये पौधों से रिक्त स्थान भर दें। रोपाई का कार्य बरसात में 8-10 से.मी. वर्षा हो जाने के बाद ही करना चाहिए।

रोशा घास के साथ ली जा सकने वाली अंतर्वर्तीय फसलें : प्रयोगों से यह विदित हुआ है कि मध्यम अवधि (140-160 दिन) की अरहर/तुवर की एक पंक्ति, रोशा की 2 पंक्तियों के बीच में समानान्तर पौध दूरी पर बनाने से रोशा घास और उसके तेल की उपज पर कोई विपरीत असर नहीं होता है, अपितु अरहर की एक अच्छी फसल प्राप्त हो जाती है और भूमि की उर्वरक शक्ति भी बढ़ती है जिसका फायदा रोशा की आगे आने वाली फसल को होता है। रोशा के साथ सिर्फ प्रथम वर्ष में तुअर की अंतरवर्तीय फसल सम्भावित है। अन्य कटाईयों में यह संभव नहीं हो पाता।

पामरोजा की उन्नत किस्में : परम्परागत रूप से पामारोज़ा की दो किस्में पाई जाती हैं-मोतिया तथा सोफिया। किन्तु इनके साथ-साथ पामरोजा की तीन उन्नत किस्में- 'तृष्णा', 'तृप्ता' तथा पी.आर.सी.-1 भी विकसित की गई हैं जो किसानों में काफी लोकप्रिय हुई हैं।

सिंचाई : वर्षा आधारित फसल में अकस्मात वर्षा बंद हो जाने पर सिंचाई अवश्य करें, अन्यथा नहीं। सिंचित अवस्था में 12 माह में पामारोज़ा की 2 या 3 कटाइयां प्राप्त की जा सकती हैं। प्रथम कटाई (अक्टूबर-नवम्बर) के बाद सर्दियों में 20 दिन के अंतराल से तथा गर्मियों में 12-15 दिन के अंतराल से सिंचाई करना आवश्यक होता है।

निंदाई-गुड़ाई : प्रतिवर्ष रोशा घास में 2-3 निंदाई-गुड़ाई करके खेत को खरपतवार से मुक्त रखना चाहिए।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रत्येक कटाई के बाद कतारों के बीच में हल चलाकर नत्रजन की बताई गई मात्रा दी जानी चाहिये।

पौध संरक्षण : सामान्यत: रोशा पर कीट-पंतगों तथा बीमारियों का प्रकोप नहीं होता है, परन्तु अधिक वर्षा होने पर फफूंदी रोग के धब्बे पत्तियों तथा तनों पर दिखाई देने लगते हैं,जिनकी रोकथाम हेतु डायथेन जेड-78 या डायथेन एम-45 के 0.3% घोल का पौधों के ऊपर 8-10 दिन के अंतराल से 2-3 छिड़काव करना चाहिये।

फसल की कटाई व ढुलाई : असिंचित तथा सिंचित फसल में अधिकाधिक तेल प्राप्ति हेतु पौधों में पूर्णरूप से पुष्पक्रम आने पर तथा बीज बनने की प्रक्रिया शुरु होते ही भूमि से 10-15 से.मी. की ऊंचाई से फसल काटकर सम्पूर्ण फसल की छोटी-छोटी गंजीयां बनाकर छांवदार ठंडी जगह में एकत्रित कर लेनी चाहिऐं तथा तदुपरान्त उनका आसवन विधि से तेल निकाल लेना चाहिये। एक बार लगा देने पर असिंचित अवस्था में रोशा की प्रतिवर्ष एक कटाई माह अक्टूबर-नवम्बर में करीबन 8-9 वर्ष तक मिलती रहती है, जबकि सिंचित अवस्था में प्रतिवर्ष 2 या 3 कटाइयां 3-4 वर्ष तक प्राप्त होती हैं।

आसवन : रोशा घास में सबसे अधिक मात्रा में तेल इसके पुष्पकुंजों व पत्तियों में पाया जाता है तथा इसकी काड़ियों में तेल नहीं के बराबर होता है। इस प्रकार पूरे पौधे के आधार पर तेल की उपलब्ध मात्रा लगभग 0.5 से 0.6% होती है। प्रथम वर्ष की असिंचित एवं सिंचित फसल में पौधों (जुट्टों) का अपेक्षाकृत कम फैलाव होने से फसल कमजोर रहती है अत: तेल की औसतन मात्रा क्रमश: 12-16 किलो तथा 20-30 किलो प्रति एकड़ प्राप्त होती है जो आने वाले वर्षों तथा भविष्य की कटाईयों में बढ़कर असिंचित एवं सिंचित अवस्थाओं में क्रमश: 20-25 किलो तथा 40-50 किलो प्रति एकड़ प्रति वर्ष प्राप्त होती है। इसके तेल का वर्तमान बाजार मूल्य 300 से 500 रु. प्रति कि.ग्रा. है।

पामारोज़ा की खेती पर प्रति एकड़ होने वाले आय-व्यय का ब्यौरा : पामारोज़ा की खेती पर प्रति एकड़ आने वाली लागत, इससे होने वाली संभावित प्राप्तियां तथा प्रति एकड़ संभावित लाभ निम्नानुसार होगा —

क्र.	खर्च की मद	प्रथम वर्ष	द्वितीय वर्ष	तृतीय वर्ष	चतुर्थ वर्ष
1.	भूमि की तैयारी पर व्यय	800/-	-	-	-
2.	नर्सरी तैयार करने तथा रोपाई करने पर व्यय.	500/-	-	-	-
3.	बीज की कीमत	2500/-	-	-	-
4.	खाद तथा कीटनाशकों आदि पर व्यय (2 ट्राली गोबर खाद)	1000/-	1000/-	1000/-	1000/-
5.	पानी देने तथा निराई-गुड़ाई पर व्यय.	1000/-	500/-	500/-	500/-
6.	प्रक्रियाकरण अथवा तेल उत्पादन पर व्यय (50 रु. प्रति कि.ग्रा. तेल हेतु)	2000/-	2500/-	2500/-	2500/-
(क)	**कुल लागत**	**7800/-**	**4000/-**	**4000/-**	**4000/-**
(ख)	**कुल प्राप्तियां**	**18000/-**	**22500/-**	**22500/-**	**22500/-**
	(450 रु. प्रति कि.ग्रा. की दर से)	(40 कि.ग्रा. तेल)	(50 कि.ग्रा. तेल)	(50 कि.ग्रा. तेल)	(50 कि.ग्रा. तेल)
(ग)	**लाभ प्रति वर्ष**	**10200/-**	**18500/-**	**18500/-**	**18500/-**

मध्यप्रदेश तथा महाराष्ट्र के जंगलों में प्राकृतिक रूप से प्राप्त होने के कारण पामारोज़ा की खेती करना और भी ज्यादा लाभकारी हो जाता है। इससे खेतों में तैयार करने के साथ-साथ इसे जंगलों से काफी कम लागत में लेकर भी प्रक्रियाकृत किया जा सकता है। इससे जहां आसवन इकाई को भरपूर कच्चा माल मिलेगा वहीं किसान को भी ज्यादा लाभ मिलेगा तथा वह अपने आपको इस क्षेत्र में ज्यादा प्रभारी रूप से स्थापित कर सकेगा।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

5. सिट्रोनेला घास से तेल का उत्पादन

सिट्रोनेला अथवा जावा सिट्रोनेला, जिसका वैज्ञानिक नाम सिम्बोपोगॉन विन्टेरियेनस (Cymbopogon Winte-rianus) है, "पोएसी" कुल की एक बहुवर्षीय घास है जिसके पत्तों को आसवित करके सिट्रोनेला तेल प्राप्त किया जाता है। इस तेल के प्रमुख रासायनिक घटक होते हैं—सिट्रोनेलल, सिट्रोनेलोल, जिरेनियाल, सिट्रोनेलोल एसिटेट आदि। जावा सिट्रोनेला के तेल में 32 से 45% सिट्रोनेलाल, 12 से 18% जिरेनियाल, 11 से 15% सिट्रोनेलोल, 3.8% जिरेनायल एसीटेट, 2 से 4% सिट्रोनेलाइल एसिटेट, 2 से 5% लाइमोनीन, 2 से 5% एलीमोल तथा अन्य एल्कोहल आदि पाए जाते हैं। इन्हीं रासायनिक घटकों के कारण इसका उपयोग साबुन तथा क्रीम निर्माण में सुगंध हेतु तथा आडोमॉस, एंटीसेप्टीक क्रीमों एवं अन्य सौन्दर्य प्रसाधनों के निर्माण हेतु किया जाता है। इन उपयोगों के साथ-साथ इसकी विभिन्न सुगंधीय रसायनों जैसे जिरेनियॉल तथा हाईड्रोक्सी सिट्रोनेलोल के निर्माण में भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

इसी प्रकार की एक घास "सीलोन सिट्रोनेला" भी है जिसके पत्तों से सीलोन सिट्रोनेला तेल प्राप्त होता है। सीलोन सिट्रोनेला तेल की अपेक्षा जावा सिट्रोनेला तेल को ज्यादा उत्तम माना जाता है क्योंकि इसमें जिरेनियाल (Geraniol) की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है। वर्तमान में विश्व भर में उत्पादित होने वाले तेल में अधिक मात्रा जावा सिट्रोनेला तेल की ही है।

यद्यपि देखने में यह घास भी जामारोज़ा तथा लेमनग्रास जैसी ही है परन्तु इसके जुट्टे (clumps) अपेक्षाकृत ज्यादा भरे हुए तथा ज्यादा फैले हुए होते हैं। इसके पौधों की ऊंचाई अपेक्षाकृत कम होती है। जामारोज़ा तथा लेमनग्रास की तुलना में इसकी पत्तियां अपेक्षाकृत ज्यादा चौड़ी तथा स्लिप्स भी अपेक्षाकृत ज्यादा मोटी होती हैं।

वर्तमान में भारत में सिट्रोनेला की खेती मुख्यतया आसाम, पश्चिमी बंगाल, उत्तरप्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु, केरल, गोवा तथा मध्यप्रदेश में हो रही है। विश्व में इसके अन्य प्रमुख उत्पादक देश हैं—चीन, इंडोनेशिया, श्रीलंका, ताईवान तथा ग्वाटेमाला। एक अनुमान के अनुसार वर्तमान में सम्पूर्ण विश्व में लगभग 1800 टन सिट्रोनेला तेल का उत्पादन

सिट्रोनेला की तैयार फसल

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हो रहा है जिसमें से लगभग 600 टन तेल का उत्पादन भारत में हो रहा है।

विभिन्न औद्योगिक एवं घरेलू उपयोगों में प्रयुक्त होने के कारण सिट्रोनेला ऑयल के बाजार में गत कुछ वर्षों में काफी बढ़ोत्तरी हुई है जिससे देश के विभिन्न भागों में इसकी व्यवसायिक स्तर पर खेती प्रारंभ हुई है। वर्तमान में हमारे देश के विभिन्न भागों में इसकी व्यापक स्तर पर सफलतापूर्वक खेती की जा रही है जिसके भविष्य में और अधिक प्रसार की संभावनाएं हैं।

सिट्रोनेला की खेती हेतु कृषि तकनीक

खेती हेतु उपयुक्त भूमि तथा जलवायु

सिट्रोनेला की फसल के लिए बलुई दोमट मिट्टी तथा दोमट मिट्टी जिसका पी.एच. मान 6 से 7.5 के बीच हो, उपयुक्त मानी जाती है। बलुई दोमट तथा दोमट के अतिरिक्त यह फसल विभिन्न अम्लीय (Acidic) मिट्टियों (जिनका पी.एच. मान 5.8 तक हो) तथा क्षारीय मिट्टियों (जिनका पी.एच. मान 8.5 तक हो) में भी उगाई जा सकती है। ऐसे क्षेत्र जिनका तापमान 9 डिग्री से 35 डिग्री सेंटीग्रेड के बीच हो तथा जहां की आर्द्रता 70-80% तक हो, यह फसल सफलतापूर्वक उगाई जा सकती है। मध्यप्रदेश के विभिन्न भागों में इसकी खेती काफी सफल रही है।

भूमि की तैयारी

लेमनग्राम तथा जामारोज़ा की तरह सिट्रोनेला की फसल एक बार लगा देने के उपरान्त पांच वर्ष तक अच्छी पैदावार देती है, अत: प्रथम बिजाई से पूर्व खेत को अच्छी तरह तैयार करना आवश्यक होता है। इसके लिए दो-तीन बार क्रास तथा गहरी जुताई करके खेत को तैयार किया जाता है। यदि गोबर की अच्छी तरह सड़ी हुई खाद अथवा कम्पोस्ट खाद उपलब्ध हो तो अंतिम जुताई के समय 10 से 15 टन गोबर की खाद अथवा कम्पोस्ट खाद प्रति एकड़ खेत में अच्छी तरह मिला दी जानी चाहिए।

कई बार खेत में छोटी-छोटी क्यारियां भी बनाई जा सकती हैं जिनसे यद्यपि विभिन्न कृषि क्रियाएं करना आसान हो जाती हैं परन्तु ये बनाना आवश्यक नहीं हैं। फसल की दीमक आदि से सुरक्षा की दृष्टि से अंतिम जुताई के समय लगभग 10 कि.ग्रा. बी.एच.सी. पावडर प्रति एकड़ बिखेरना लाभकारी होता है।

सिट्रोनेला की बिजाई हेतु लगने वाले बीज/प्लांटिंग मेटेरियल

लेमनग्राम की तरह सिट्रोनेला की बिजाई भी स्लिप्स से की जाती है। स्लिप्स बनाने के लिए एक वर्ष अथवा उससे पुरानी फसल के जुट्टे (Clumps) निकाल कर उनमें से एक-एक स्लिप अलग-अलग कर ली जाती है। तदुपरान्त प्रत्येक स्लिप के ऊपर के पत्ते काट दिए जाते हैं तथा नीचे के सूखे हुए पत्ते अलग कर दिए जाते हैं। इसके साथ-साथ नीचे की लंबी-लंबी जड़ें भी काट दी जाती हैं। इस प्रकार से सिट्रोनेला की स्लिप्स तैयार हो जाती हैं। स्लिप्स लगाते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इनका उगाव 80% तक ही हो पाता है तथा लगभग 20% स्लिप्स मर जाती हैं।

बिजाई की विधि

सिट्रोनेला की फसल की बिजाई के लिए जुलाई-अगस्त अथवा फरवरी-मार्च का समय सर्वाधिक उपयुक्त रहता है। स्लिप्स को खेत में 5 से 8 इंच गहरा लगाया जाता है तथा इन्हें लाइनों में 60×30 से.मी. की दूरी पर लगाया जाना उपयुक्त रहता है। बिजाई के उपरान्त खेत में पानी छोड़ देना चाहिए। एक एकड़ के क्षेत्र में लगभग 22,000 स्लिप्स की आवश्यकता होती है। बिजाई से लगभग 2 सप्ताह के भीतर स्लिप्स से पत्तियां निकलनी शुरु हो जाती हैं। यदि कुछ पौधे मर जाएं अथवा उग न पाएं (प्राय: 20% पौधे मर जाते हैं) तो एक महीने के उपरान्त उनके स्थान पर नई स्लिप्स लगा दी जानी चाहिएं।

सिट्रोनेला की प्रमुख प्रजातियां

जावा सिट्रोनेला की प्रमुख प्रजातियां हैं—मंजूषा, मंदाकिनी, बायो-13 आदि। इनमें से बायो-13 टिश्यू कल्चर विधि द्वारा विकसित की गई प्रजाति है।

सिट्रोनेला की फसल हेतु पानी की आवश्यकता

सिट्रोनेला की जड़ें ज्यादा गहरी न होने के कारण तथा शाकीय फसल होने के कारण सिट्रोनेला की फसल को काफी मात्रा में पानी की आवश्यकता होती है। यद्यपि पानी/सिंचाई की आवश्यकता भूमि की प्रकृति पर निर्भर करेगी परन्तु प्राय: गर्मियों में प्रत्येक 10 दिन के अंतराल पर तथा सर्दियों के समय में प्रत्येक 15-20 दिन के अंतराल पर सिंचाई की जाना फसल की सही बढ़वार के लिए उपयुक्त रहती है। इस प्रकार इस फसल को वर्ष भर में औसतन 25-30 सिंचाइयों की आवश्यकता होती है।

फसल की निराई-गुड़ाई तथा खरपतवार नियंत्रण की आवश्यकता

सिट्रोनेला की फसल के खरपतवारों को नियंत्रित करना अत्यधिक आवश्यक होता है। विशेष रूप से फसल की बिजाई के प्रथम $1\text{-}1\frac{1}{2}$ महीने की अवधि में फसल में खरपतवार

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नहीं पनपने देने चाहियें। अत: प्रथम बार में हाथ से निराई-गुड़ाई की जाना आवश्यक होगा। इसके उपरान्त फसल की प्रत्येक कटाई के उपरान्त हाथ से गुड़ाई की जानी चाहिए। वैसे आगे की कटाइयों में प्राय: खरपतवार कम होने लगती है। खरपतवार के नियंत्रण हेतु 200 लीटर पानी के साथ 400 ग्राम **डियूरोन का स्प्रे** करना भी खरपतवार के नियंत्रण हेतु उपयोगी पाया गया है। डियूरोन का स्प्रे पौधों की बिजाई के समय किया जाना चाहिए। फसल की प्रत्येक कटाई के उपरान्त यह स्प्रे रिपीट किया जा सकता है।

सिट्रोनेला की फसल में होने वाली प्रमुख बीमारियां तथा कीट-पतंगे

सिट्रोनेला की फसल में होने वाली प्रमुख बीमारियां तथा इसको हानि पहुंचाने वाले प्रमुख कीट-पतंगे निम्नानुसार हैं:—

1. तना छेदक कीड़ा—तना छेदक कीट का प्रकोप सिट्रोनेला की फसल पर प्राय: अप्रैल से जून तक के महीनों में अधिक होता है। यह कीट सिट्रोनेला के तने से लगी पत्तियों पर अण्डे देती है जिससे जो सुन्डी निकलती है वह तने के मुलायम भाग से पौधे में प्रवेश करती है। इससे पौधों की पत्तियां सूखने लगती हैं तथा पौधों की वृद्धि थम जाती है। सिट्रोनेला के खेत में इस बीमारी के प्रभाव के फलस्वरूप पत्तियां सूखी हुई दिखाई देती हैं जिनको खींचने पर उनके निचले भाग में सड़न दिखाई है तथा छोटे-छोटे कीट भी दिखाई पड़ते हैं। इसे '*डेड हर्ट*' भी कहा जाता है। इस कीट से छुटकारा पाने के लिए निराई-गुड़ाई के उपरान्त 4 से 6 कि.ग्रा. प्रति एकड़ की दर से 10-जी अथवा कार्बोफ्यूरान 3-जी का छिड़काव किया जाना चाहिए।

2. पत्तों का पीला पड़ना (लीथल येलोइंग)—पत्ती का पीला पड़ना अथवा लीथल येलोइंग एक प्रमुख समस्या है जोकि इस फसल के संदर्भ में देखी गई है। इस समस्या के समाधान के लिए फेरस सल्फेट तथा कीटनाशकों का छिड़काव किया जाना भी आवश्यक है।

3. लीफ ब्लाइट अथवा झुलसा रोग—विशेष रूप से बरसात के मौसम में सिट्रोनेला के पौधों पर कुरवुलेरिया एंडोपोगनिस नामक फफूंदी का आक्रमण देखा गया है। इससे पौधे के पत्ते सूख जाते हैं तथा काले पड़ जाते हैं। इससे बचाव हेतु 10-15 दिन के अंतराल से डायथेन एम-45 नामक फफूंदी नाशक का छिड़काव 10-15 दिन के अंतराल से किया जाना उपयोगी रहता है।

फसल की कटाई

एक बार लगा देने के पश्चात् सिट्रोनेला की फसल से पांच वर्ष तक पर्याप्त तेल उत्पादित होता है, जबकि इसके उपरान्त तेल की मात्रा घटने लगती है। बिजाई के लगभग 120 दिन के उपरान्त यह फसल पहली कटाई के लिए तैयार हो जाती है। इसके पश्चात् प्रत्येक 75 से 90 दिनों में फसल की आगामी कटाइयां ली जा सकती हैं। इस प्रकार लगातार 5 वर्ष तक इस फसल की प्रतिवर्ष 3 से 4 फसलें ली जा सकती हैं। प्राय: तेल की मात्रा पहले वर्ष की तुलना में दूसरे वर्ष में काफी बढ़ जाती है जबकि आगामी वर्षों—तीसरे, चौथे तथा पांचवे वर्ष में यह लगभग एक जैसी ही रहती है। पांचवें वर्ष के उपरान्त तेल की मात्रा घटने लगती है। फसल की कटाई भूमि से लगभग 15 से 20 से.मी. ऊपर से की जानी चाहिए।

पत्तियों का आसवन

सिट्रोनेला की पत्तियों से वाष्प आसवन अथवा जल आसवन विधि द्वारा तेल उत्पादित किया जाता है। प्राय: 3 से 4 घंटे में पत्तियों के एक बैच की आसवन की प्रक्रिया पूरी हो जाती है। यह आसवन उसी आसवन संयंत्र से किया जा सकता है जिससे मेन्था अथवा लेमनग्रास का तेल निकालते हैं।

सिट्रोनेला की फसल से प्राप्तियां

सिट्रोनेला की फसल से वर्ष भर में औसतन चार कटाइयों में लगभग 60 से 80 कि.ग्रा. तेल प्रति एकड़ उत्पादित होता है जिसकी 300 रु. प्रति कि.ग्रा. की दर से वर्ष भर में लगभग 20,000 रु. की प्राप्तियां होती हैं। इस प्रकार प्रथम वर्ष में लगभग 10,000 रु. प्रति एकड़ का शुद्ध लाभ यह फसल देती है जबकि आगामी वर्षों में लाभ की मात्रा 20,000 रु. तक तथा इससे अधिक भी हो सकती है।

उपरोक्तानुसार देखा जा सकता है कि सिट्रोनेला की फसल लगभग प्रत्येक प्रकार की मिट्टियों (अम्लीय तथा क्षारीय आदि में भी) में ली जा सकती है। यद्यपि प्रारम्भिक वर्ष में फसल से अपेक्षाकृत लाभ की मात्रा कम मिलती है परन्तु आगामी वर्षों में लाभ की मात्रा बढ़ जाती है तथा खर्च भी घट जाते हैं। इस प्रकार देश के विभिन्न भागों में (विशेष रूप से मध्य क्षेत्र में) सिट्रोनेला की फसल उगाकर पर्याप्त लाभ कमाया जा सकता है।

बिजाई हेतु लगने वाले प्लांटिंग मेटेरियल की प्राप्ति

यद्यपि प्रारंभ में स्लिप्स (प्लांटिंग मेटेरियल) ऐसे उत्पादकों/कृषकों/संस्थाओं से खरीदने पड़ते हैं जो पूर्व में इनका उत्पादन कर रहे हों, परन्तु आगे के लिए स्लिप्स संबंधित किसान के अपने ही खेत में तैयार हो जाती हैं तथा एक ही वर्ष में इनमें 25 से 30 गुना की वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार एक तो ''मल्टीप्लाई'' करने के उद्देश्य से, दूसरे बिक्री के उद्देश्य से भी स्लिप्स किसान के अपने ही खेत में तैयार हो जाते हैं जिससे उसे अतिरिक्त लाभ मिलता है। क्योंकि भोपाल में भी कई कृषकों द्वारा सिट्रोनेला की खेती प्रारंभ की जा चुकी है अत: भोपाल में भी सिट्रोनेला की स्लिप्स काफी मात्रा में उपलब्ध हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सिट्रोनेला की खेती से संबंधित होने वाले आय-व्यय का ब्यौरा

सिट्रोनेला की खेती पर होने वाले व्यय तथा इससे प्रति एकड़ होने वाली आय का ब्यौरा निम्नानुसार है—

सिट्रोनेला की खेती पर प्रति एकड़ आनेवाली अनुमानित लागत तथा आय का विवरण

क्र.	खर्च की मद	प्रथम वर्ष	द्वितीय वर्ष	तृतीय वर्ष	चतुर्थ वर्ष	पांचवां वर्ष
क.	**लागत**					
1.	भूमि की तैयारी पर व्यय (दो जुताइयों पर व्यय)	1000/-	-	-	-	-
2.	बीज/प्लांटिंग मेटेरियल की लागत (22000 स्लिप्स हेतु)	11,000/-	-	-	-	-
3.	खाद तथा कीटनाशकों पर व्यय (5 ट्राली गोबर खाद अथवा इतनी ही कीमत की अन्य खाद)	2500/-	2500/-	2500/-	2500/-	2500/-
4.	निराई-गुड़ाई तथा पानी आदि देने की लागत.	1,000/-	500/-	500/-	500/-	500/-
5.	प्रक्रियाकरण पर व्यय (50 रु. प्रति कि.ग्रा. तेल हेतु)	3,700/-	4,000/-	4,000/-	4,000/-	4,000/-
	कुल लागत	19,200/-	7,000/-	7,000/-	7,000/-	7,000/-
ख.	**कुल प्राप्तियां** (300 रु. प्रति कि. ग्राम की दर से)	24,000/- (80 कि.ग्रा.)	30,000/- (100 कि.ग्रा.)	30,000/- (100 कि.ग्रा.)	30,000/- (100 कि.ग्रा.)	30,000/- (100 कि.ग्रा.)
ग.	**लाभ**	**4,800/-**	**23,000/-**	**23,000/-**	**23,000/-**	**23,000/-**

औषधीय एवं सुगंधीय पौधों हेतु उत्कृष्ट आसवन संयंत्र

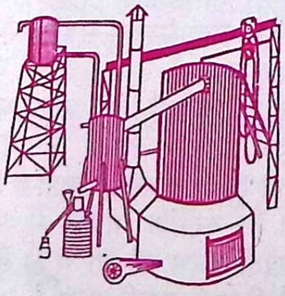

मेन्था, लेमनग्रास, पामारोज़ा, सिट्रोनेला, खस, तुलसी, युकेलिप्टस आदि से तेल निकालने हेतु "भोपाल मॉडल के अनुसार निर्मित" उत्कृष्ट आसवन संयंत्र. हमारे द्वारा निर्मित आसवन संयंत्रों की विशेषताएँ : ● 500 कि.ग्रा. से 2 टन तक की क्षमता में उपलब्ध. ● सर्वाधिक तेल उत्पादन की क्षमता. ● सभी विशिष्टियों के अनुसार - लकड़ी, कोयला, डीज़ल, केरोसीन आदि से चलाये जाने की सुविधा ● न्यूनतम लागत 35000 रु.में भी उपलब्ध. ● बॉयलर के साथ भी चलाए जा सकने की सुविधा. ● हस्तचलित, सेमी आटोमैटिक तथा आटोमैटिक मॉडलों में उपलब्ध. ● हमारे द्वारा निर्मित आसवन संयत्र म.प्र. में अनेकों स्थानों पर कार्यरत

निर्माता : श्री मोती इंजीनियरिंग, एम.119, 2-बी, साकेत नगर, भोपाल - 24 (म.प्र.) फोन :(0755) 782499.

न्यूनतम मूल्य =35,000/- रु.

कृषि उद्योग स्थापित करें ..... परम्परागत फसलों की अपेक्षा अधिक लाभ अर्जित करें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

6. लेमनग्रास अथवा नींबू घास की खेती

लेमनग्रास अथवा नींबू घास, जिसका वैज्ञानिक नाम "सिम्बोपोगान फ्लेक्सुओसस" (Cymbopogon Flexusosus) है, यूं तो काफी भारतीय घरों में लगाई हुई देखी जा सकती है परन्तु वहां पर अधिकांशत: इसकी पत्तियों का उपयोग चाय में डालने हेतु किया जाता है। इसे चायना ग्रास, पूर्वी भारतीय नींबू घास, मालाबार घास अथवा कोचीन घास के नाम से भी जाना जाता है। इसकी पत्तियों में एक मधुर तीक्ष्ण गंध होती है जिन्हें चाय में डालकर उबालकर पीने से ताजगी तो मिलती ही है, साथ ही सर्दी आदि से राहत भी मिलती है।

नींबू घास की पूर्णतया विकसित फसल

घरेलू स्तर पर लगाने के साथ-साथ हमारे देश के कई भागों में इसकी व्यवसायिक स्तर पर खेती भी हो रही है। वर्तमान में इसकी विधिवत खेती केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक, आसाम, पश्चिमी बंगाल, उत्तरप्रदेश एवं महाराष्ट्र राज्यों में हो रही है। मध्यप्रदेश में यद्यपि इसकी खेती अभी अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही है परन्तु इसके प्राथमिक परिणाम दर्शाते हैं कि इसकी खेती के लिये मध्यप्रदेश की जलवायु सर्वाधिक अनुकूल है। अभी मध्यप्रदेश के विभिन्न भागों में लगभग 50 किसानों द्वारा इसकी खेती की जा रही है जिसके शीघ्र ही कई गुणा ज्यादा बढ़ने की संभावना है।

नींबू घास की व्यवसायिक खेती इसके तेल की प्राप्ति हेतु की जाती है जोकि इसकी पत्तियों को आसवित करके निकाला जाता है। इसके तेल का मुख्य घटक सिट्रल (Citral) होता है। नींबू घास के तेल में 80 से 90 प्रतिशत तक सिट्रल पाया जाता है। सिट्रल नामक तत्व की उपस्थित के कारण ही नींबू घास के तेल में से एक नींबू जैसी तीक्ष्ण सुगंध आती है। संभवतया इसी नींबू जैसी सुगंध के कारण ही इस घास का नाम नींबू घास पड़ा होगा।

नींबू घास के तेल के मुख्य उपयोग

नींबू घास के तेल के अनेकों उपयोग हैं। इसके तेल में उपस्थित सिट्रल से अल्फा आयोनोन तथा बीटा आयोनोन तैयार किए जाते हैं। बीटा आयोनोन को आगे संश्लेषित करके "बिटामिन ए" तैयार किया जाता है जिसका विभिन्न दवाइयों के निर्माण में काफी अधिक उपयोग होता है। एल्फा आयोनोन से गंध द्रव्य एवं अन्य कई सगंध रसायन संश्लेषित किये जाते हैं। मुख्यतया इसका उपयोग उच्च कोटि के इत्रों के निर्माण, विभिन्न सौन्दर्य प्रसाधनों, सौंदर्य सामग्रियों तथा साबुनों के निर्माण में किया जाता है। अधिकांशत: "नींबू की खुश्बू" तथा "नींबू की ताजगी" वाले साबुनों का मुख्य घटक सिट्रल ही होता है। इस प्रकार विभिन्न् उत्पादों के निर्माण में लेमनग्रास आयल का उपयोग निरंतर बढ़ता जा रहा है जिसके कारण इसकी न केवल देशीय बल्कि अंतर्राष्ट्रीय

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्तर पर भी मांग निरंतर बढ़ रही है। बढ़ती हुई मांग के साथ-साथ इसके मूल्यों में भी आश्चर्यजनक रुप से वृद्धि हुई है जिसके कारण नींबू घास की खेती करना व्यवसायिक रुप से भी काफी अधिक लाभकारी हो गया है।

मुख्यतया नींबू घास की दो प्रजातियां प्रचलन में हैं - सिम्बोपोगान फ्लैक्सुओसस तथा सिम्बोपोगान सिट्रस। इनमें से सिम्बोपोगान फ्लैक्सुओसस का प्राप्ति स्थान मालाबार तट माना जाता है तथा अब भारत में इसकी काफी अधिक खेती हो रही है। नींबू घास की दूसरी मुख्य किस्म - सिम्बोपोगान सिट्रस का प्राप्ति स्थल दक्षिणी पूर्वी एशियाई देश हैं। वर्तमान में इसकी खेती मुख्यतया मेडागास्कर, कैमरून दीप समूहों, ब्राजील, चीन तथा इंडोनेशिया में की जा रही है।. इनके साथ-साथ लैमनग्रास की एक अन्य प्रजाति सिम्बोपोगान पैन्डुलुस है जिसे "जम्मू लेमनग्रास" भी कहा जाता है। इस प्रजाति का उपयोग भी लैमनग्रास तेल की प्राप्ति हेतु किया जाता है-हालांकि काफी कम मात्रा में।

वर्तमान में भारत तथा ग्वाटेमाला लेमनग्रास तेल के प्रमुख उत्पादक देश हैं। इनके साथ-साथ चीन, ब्राजील, इंडोनेशिया, थाईलैंड तथा श्रीलंका में भी लेमनग्रास तेल का उत्पादन किया जा रहा है। भारतवर्ष में वर्तमान में इसकी लगभग 15000 एकड़ में खेती हो रही है जिससे लगभग 600 टन तेल का उत्पादन प्रतिवर्ष हो रहा है जबकि सम्पूर्ण विश्व में लेमनग्रास तेल का कुल उत्पादन लगभग 1300 टन प्रतिवर्ष है। एक अनुमान के अनुसार भारत से प्रतिवर्ष लगभग 70 टन लेमनग्रास तेल का निर्यात किया जाता है।

नींबू घास की खेती की विधि

भूमि एवं जलवायु

नींबू घास की खेती के लिए ऊष्ण तथा समशीतोष्ण जलवायु उपयुक्त रहती है। ऐसे क्षेत्र जहां की जलवायु गर्म तथा आर्द्र हो, जहां पर्याप्त धूप पड़ती हो तथा जहां वर्ष भर 200 से 250 सेंटीमीटर तक सुवितरित वर्षा होती हो अथवा सिंचाई के पर्याप्त साधन हों, वे इसकी खेती के लिए आदर्श होते हैं। यद्यपि यह लेटेराइट मिट्टियों, कम वर्षा वाले, कम उपजाऊ तथा बारानी क्षेत्रों में भी उपजाई जा सकती है, परन्तु यदि परिस्थितियां अपेक्षाकृत ज्यादा अनुकूल हों, भूमि उपजाऊ तथा पानी की व्यवस्था पर्याप्त हो, तो बारानी क्षेत्रों की अपेक्षा इन क्षेत्रों में उपज की मात्रा काफी अधिक बढ़ जाएगी। उदाहरणार्थ उपजाऊ भूमियों में इसकी वर्ष भर में पांच फसलें ली जा सकती हैं, जबकि अपेक्षाकृत कम उपजाऊ तथा बारानी क्षेत्रों में वर्ष भर में दो से तीन फसलें ही ली जा सकेंगी। रेतीली तथा लाल मिट्टियों में इसकी खेती करने के लिए पर्याप्त खाद की आवश्यकता होगी। अतः यूं तो यह लगभग सभी प्रकार की भूमियों में उपजाई जा सकती है परन्तु उपजाऊ दोमट मिट्टी में इसकी अच्छी बढ़त होती है। ऐसे क्षेत्र जहां जल भराव (Water logging) की संभावना हो, इसकी खेती के लिए उपयुक्त नहीं माने जाते।

> **क्यों लाभकारी है लेमनग्रास की खेती?**
>
> **लेमनग्रास की खेती से जुड़ी विभिन्न सुविधायें**
>
> - पहली फसल मात्र 120 दिन में.
> - एक बार लगा देने के बाद पांच साल तक फसल की प्राप्ति.
> - खरपतवार की अपेक्षाकृत कम समस्या.
> - पशुओं से हानि की संभावना नहीं.
> - व्यापक बाजार तथा अच्छे दाम.

भूमि की तैयारी

प्रायः एक बार लगा देने के बाद नींबू घास की फसल पांच वर्ष तक ली जा सकती है। अतः फसल की बिजाई से पूर्व आवश्यक है कि खेत की अच्छी तरह से जुताई की जाए। इसके लिए मिट्टी पलटने वाले हल से या हैरो से आड़ा-तिरछा (क्रास) जुताई करनी चाहिए। मिट्टी को दीमक आदि के प्रकोप से मुक्त रखने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि आखिरी जुताई के समय 5 प्रतिशत बी.एच.सी. पावडर 25 किलोग्राम प्रति हैक्टेयर की दर से खेत में मिला दिया जाए। इसके उपरांत पाटा चलाकर खेत को समतल कर दिया जाना चाहिए।

खाद की आवश्यकता

अच्छी उपज के लिए खेत में पर्याप्त खाद डाला जाना लाभकारी होता है। इस संदर्भ में यदि खेत में गोबर की सड़ी हुई खाद अथवा कम्पोस्ट खाद डाली जाए तो यह सर्वाधिक उपयुक्त होगा। गोबर की यह खाद एक तो खेत तैयार करते समय खेत में मिला दी जानी चाहिए, दूसरे इसका एक-एक डोज़ फसल की प्रत्येक कटाई के उपरांत दे दिया जाना चाहिये। फसल की कटाई के उपरांत यह इस प्रकार दिया जाना चाहिए कि खाद पौधों की जड़ों के पास ही डले। इस प्रकार इसके वर्ष भर में पांच डोज़ दिए जा सकते हैं। गोबर की खाद अथवा कम्पोस्ट की मात्रा खेत तैयार करते समय 10 टन प्रति एकड़ तथा प्रत्येक कटाई के उपरान्त 5 टन प्रति एकड़ डाली जाना उपयुक्त होगा।

जहां तक रासायनिक खादों का प्रश्न है तो औसतन 60 किलोग्राम नाईट्रोजन, 16 किलोग्राम फासफोरस तथा 16 किलोग्राम पोटाश प्रति एकड़ डाले जाने की संतुति इस फसल के

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लिए की जाती है। इनमें से संपूर्ण फासफोरस, पोटाश तथा नाइट्रोजन का 1/3 भाग खेत तैयार करते समय ही डाल दिया जाना चाहिए जबकि नाइट्रोजन के शेष डोज़ प्रति दो माह में अथवा फसल की प्रत्येक कटाई के उपरांत डाले जाने चाहियें।

लेमनग्रास की बिजाई हेतु बीज अथवा प्लांटिंग मेटेरियल

नींबू घास की बिजाई बीज से भी की जा सकती है तथा स्लिप से भी। बीज से बिजाई करने की दशा में सर्वप्रथम बीजों से नर्सरी तैयार की जाती है तथा तदुपरांत नर्सरी में तैयार किए हुए पौधों

जड़ सहित नींबू घास का जुट्टा (clump) जिससे आगे स्लिप्स बनाई जाती हैं

की खेत में रोपाई की जाती है। (वैसे यह विधि ज्यादा उपयक्त नहीं मानी जाती)।

अधिकांशत: लेमनग्रास की बिजाई स्लिप से ही की जाती है तथा यही विधि सर्वाधिक उपयोगी, लाभकारी तथा सुविधाजनक भी है। स्लिप से बिजाई करने की विधि में सर्वप्रथम लेमनग्रास के पुराने पूर्णतया विकसित पौधों/जुट्टों (Clumps) को उखाड़ कर उनके साथ लगी पत्तियों तथा पुरानी जड़ों को काट लिया जाता है। तदुपरांत इन जुट्टों में से एक - एक स्लिप को अलग कर लिया जाता है। यही स्लिप्स लेमनग्रास के बीजों अथवा प्लांटिंग मेटेरियल के रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं। प्राय: एक एकड़ के क्षेत्र में लगभग 15000 स्लिप्स की आवश्यकता होती है (एक एकड़ में कितने पौधे (स्लिप्स) लगेंगी यह मुख्यतया भूमि की उपजाऊ शक्ति तथा कई अन्य कारकों पर निर्भर करता है। वैसे पौधे से पौधे के मध्य 2x2 फुट अथवा 1.5x2 की दूरी काफी उपयुक्त मानी जाती है तथा इस मान से एक एकड़ में लगभग 12000 से 15000 पौधे लगाएं जाते हैं) तथा स्लिप्स की कीमत 50 पैसे प्रति स्लिप से लेकर 2 रुपये प्रति स्लिप तक होती है।

बिजाई का समय

यूं तो देखा गया है कि यदि सिंचाई की पर्याप्त सुविधा उपलब्ध हो तो नींबू घास की बिजाई वर्ष में कभी भी (ज्यादा गर्मी के समय को छोड़कर) की जा सकती है, परन्तु पैदावार की दृष्टि से देखा जाए तो इसकी बिजाई के लिए सर्वाधिक उपयुक्त समय है- फरवरी - मार्च तथा जुलाई - अगस्त माह। ऐसा देखा गया है कि अन्य महीनों की अपेक्षा फरवरी-मार्च में लगाई गई फसल से प्रथम वर्ष में 20 प्रतिशत ज्यादा पैदावार मिलती है।

बिजाई की विधि

जैसा कि उपरोक्तानुसार वर्णित है, लेमनग्रास की बिजाई हेतु इसके पुराने पौधों से ली गई स्लिपस का उपयोग किया जाता है। यद्यपि बिजाई के लिए कोई भी माध्यम प्रयुक्त किया जा सकता है परन्तु यथासंभव छोटी कुदाल का उपयोग किया जाना ज्यादा उपयोगी रहेगा। इस प्रकार छोटी कुदाल से 5 से 8 सेंटीमीटर गहरे गड्ढे करके इसकी रोपाई कर देनी चाहिए। जड़ों को ज्यादा गहरा नहीं रोपना चाहिए अन्यथा जड़ें गलकर सड़ सकती हैं तथा इससे पौधों का जमाव प्रभावित हो सकता है। स्लिप की रोपाई से पूर्व इसके साथ लगी पत्तियां तथा पुरानी जड़ें काट दी जानी चाहिएं। गड्ढे में स्लिप इस तरह खड़ी करके रोपी जानी चाहिए जिससे गढ्डे में स्लिप सीधी खड़ी रहे तथा इसकी जड़ें मुड़ें नहीं। रोपाई के उपरांत स्लिप का निचला हिस्सा मिट्टी से पूरी तरह दबा दिया जाना चाहिए। रोपाई के बाद खेत में पानी छोड़ दिया जाना चाहिए परन्तु ध्यान रहे कि पानी पौधों के पास खड़ा न रहे अर्थात "वाटर लॉगिंग" नहीं होनी चाहिए। यद्यपि पौधों के मध्य की दूरी का निर्धारण काफी कुछ तो भूमि की उपजाऊ शक्ति पर निर्भर करता है, फिर भी पौधे से पौधा तथा कतार से कतार के बीच 60X30 अथवा 60X45 अथवा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

60X60 सेंटीमीटर की दूरी एक उपयुक्त दूरी मानी जाती है।

सिंचाई की आवश्यकता

यद्यपि एक बार जम जाने (जड़ पकड़ लेने) के बाद लेमनग्रास की फसल को ज्यादा पानी की आवश्यकता नहीं होती, फिर भी यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि भूमि गीली रहनी चाहिए अतः समय-समय पर पानी दिया जाना आवश्यक होगा। प्रायः गर्मियों के समय 10 दिनों के अंतराल पर तथा सर्दियों के समय 15 दिनों के अंतराल पर सिंचाई की जाना फसल की उचित बढ़ोत्तरी के लिए उपयुक्त होगा।

लेमनग्रास की बिजाई हेतु प्रयुक्त किए जाने वाले स्लिप्स

निराई तथा गुड़ाई की आवश्यकता

ऐसा देखा गया है कि लेमनग्रास की फसल में केवल पहली बार ही ज्यादा खरपतवार होती है तथा अगली कटाईयों में खरपतवार की मात्रा घटती जाती है। संभवतया इसकी वजह यह हो सकती है कि लेमनग्रास के पौधों की पत्तियां इतनी ज्यादा फैल जाती हैं कि वे खरपतवार को पनपने ही नहीं देतीं। अतः बिजाई के उपरांत (पहली कटाई से पूर्व) हाथ से (manually) निराई-गुड़ाई की जाना आवश्यक होगा। अगली कटाइयों में भी (प्रत्येक कटाई के उपरांत) हाथ से गुड़ाई की जाना लाभदायक होगा। आगे के लिए ज्यादा खरपतवार नहीं होते तथा यदि हों भी तो उन्हें हाथ से ही निकाला जा सकता है। खरपतवार के नियंत्रण हेतु फसल की बिजाई से पूर्व प्रति एकड़ 0.5 किलोग्राम ड्योरान अथवा 250 ग्राम आक्सीफ्लयूरोफेन को जमीन में डाला जाना भी खरपतवार के नियंत्रण हेतु प्रभावी हो सकता है।

लेमनग्रास की फसल में होने वाले प्रमुख रोग तथा इसकी कीट-पंतगों से रक्षा

यूं तो लेमनग्रास की फसल को ज्यादा रोग नहीं होते तथा यह कीट-पंतगों से भी अपेक्षाकृत ज्यादा सुरक्षित रहती है, फिर भी इसकी फसल की निम्नलिखित बीमारियों/कीट पतंगों से सुरक्षा की जाना आवश्यक होगा -

1. दीमक

जिन क्षेत्रों में सिंचाई की कम व्यवस्था होती है वहां दीमक का प्रकोप प्रायः हो सकता है, जिससे पौधे सूख सकते हैं। दीमक से सुरक्षा के लिए बिजाई से पूर्व उपरोक्तानुसार खेत में बी.एच.सी. पावडर डाला जाना उपयुक्त रहेगा। इसके अतिरिक्त यदि खेत में नीम की खली पीस कर डाली जाए तो वह भी पौधों को दीमक के प्रकोप से मुक्त रख सकती है।

2. चूहों का प्रकोप

चूहों द्वारा भी कई बार इस फसल को नुकसान पहुंचाया जाता है। चूहे इसकी नाजुक पत्तियों तथा शिखाओं को काट लेते हैं जिससे इसकी पत्तियों का काफी नुकसान हो सकता है। चूहों से निपटने के लिए किसी भी चूहे मार दवा का प्रयोग किया जा सकता है।

3. शूट फ्लाई

शूट फ्लाई का लेमनग्रास की फसल पर प्रभाव प्रायः दक्षिण भारतीय राज्यों में देखा जाता है। इस कीट की सुन्डी पौधे के तने के भीतर घुसकर उसे काटकर खाती है। इससे पौधों को उचित मात्रा में भोजन नहीं मिल पाता तथा पौधों की बढ़वार रुक जाती है। प्रायः पौधे में 5-6 पत्तियां आने पर अथवा नये पौधे के रोपण के 5-6 सप्ताह के बाद इसका प्रकोप ज्यादा होते देखा गया है। इस कीट से पौधे की सुरक्षा हेतु डाईमैथाइट 30 - ई.सी. का 100 से 150 मिली लीटर प्रयोग अथवा फोरेट 10 - जी का 4 से 5 किलोग्राम अथवा कार्बोफ्यूरान 3 - जी का 4 से 5 किलोग्राम प्रति एकड़ की दर से प्रयोग करने से फसल की इस बीमारी से सुरक्षा की जा सकती है।

4. व्हाइट फ्लाई

यह कीट लेमनग्रास के पौधों को प्रायः फरवरी से मई तक के महीनों में ज्यादा नुकसान पहुंचाता है। ये कीट प्रायः झुण्डों में रहते हैं तथा लेमनग्रास की पत्तियों के नीचे अत्याधिक मात्रा में रस चूस कर फसल की वृद्धि को रोकते हैं। इस कीट से फसल की सुरक्षा करने के लिए फॉस्फामिडान अथवा डाइमेथोइट के तैलीय

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कीटनाशक का 200 से 250 मिली लीटर प्रति एकड़ की दर से पानी में घोल बनाकर छिड़काव किया जाना चाहिए।

फसल की कटाई

प्रथम बिजाई से लगभग 100 दिनों के बाद यह फसल प्रथम कटाई के लिए तैयार हो जाती है। इस समय फसल को भूमि की सतह से 10 से 15 सेंटीमीटर ऊपर (जहाँ से पत्ते शुरू होते हैं) से काटा जाना चाहिए। कटाई के उपरांत फसल एकदम पुन: बढ़ने लगती है तथा अगले 60 से 90 दिनों में पुन: कटाई के लिये तैयार हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक 60-70 दिन के अंतराल पर लेमनग्रास की आगामी कटाइयां ले ली जाती हैं। इस प्रकार एक बार फसल लगा देने के उपरांत कम से कम आगामी पांच सालों तक यह क्रम चलता रहता है। लेमनग्रास की प्रतिवर्ष ली जा सकने वाली कटाइयों की संख्या यूं तो भूमि की उर्वरता, देखरेख तथा पानी की उपलब्धता आदि पर निर्भर करती हैं, फिर भी समस्त परिस्थितियां अनुकूल होने की स्थिति में वर्ष में प्राय: 4 से 5 तक कटाइयां ली जा सकती हैं, जबकि यदि भूमि ज्यादा उपजाऊ न हो तथा पानी भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हो तो वर्ष में अधिकतम तीन तक कटाइयां ही ली जा सकेंगी। प्राय: लेमनग्रास के पौधों का जुट्टा निरंतर बढ़ता जाता है (इसका फैलाव होता जाता है) जिससे आगामी कटाइयों में फसल से मिलने वाली हर्ब में निरंतर वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार एक बार लगा देने पर यह फसल पांच साल तक उत्पादन निरन्तर देती रहती है तथा इन पांच वर्षों में इसकी प्रतिवर्ष तीन से पांच तक कटाइयां ली जा सकती हैं।

कटाई के उपरान्त तेजी से बढ़ते लेमनग्रास के पौधे.

पत्तियों से तेल निकालना

लेमनग्रास की पत्तियों से तेल निकालने के लिये इसकी पत्तियों (शाक) का आसवन किया जाता है। इस कार्य हेतु वाष्प आसवन अथवा जल आसवन विधि का उपयोग किया जाता है। प्राय: फसल काटने के उपरांत उसे कुछ समय तक मुरझाने हेतु खेत में ही अथवा किसी छायादार स्थान पर रख दिया जाता है तथा तदुपरांत ही उसका आसवन किया जाता है। यद्यपि वर्तमान में चल रही प्रक्रियाओं में आसवन हेतु पूरे की पूरी घास आसवन टैंक में डाल दी जाती है, परन्तु यदि इसे छोटे-छोटे टुकड़ों में काटकर आसवन हेतु डाला जाए तो इससे प्राप्त होने वाले तेल की मात्रा बढ़ सकती है। आसवन की प्रक्रिया अढाई से तीन घंटों में पूरी हो जाती है।

फसल से प्राप्त होने वाले तेल की मात्रा

यद्यपि लेमनग्रास की फसल से उत्पादित होने वाले तेल की मात्रा भूमि की उर्वरा शक्ति, क्षेत्र की जलवायु, खेती की देखरेख, लेमनग्रास की लगाई गई प्रजाति तथा घास काटने के समय पर ज्यादा निर्भर करती है परन्तु मध्यप्रदेश में हो रही लेमनग्रास की खेती के अनुभवों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रथम

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वर्ष में लेमनग्रास की फसल से वर्ष भर में चार कटाइयों में औसतन 100 किलोग्राम तेल प्राप्त किया जा सकता है, जोकि आगामी वर्षों में बढ़ता जाता है। प्राय: पत्तियों के अनुपात में 0.5 प्रतिशत से एक प्रतिशत तक तेल की मात्रा प्राप्त होती है।

लेमनग्रास की विभिन्न प्रजातियां/किस्में

नींबू घास की अनेकों प्रजातियां/किस्में विभिन्न संस्थाओं द्वारा विकसित की गई हैं, जिनमें प्रमुख हैं- प्रगति, प्रमाण, कावेरी, कृष्णा आर.एल.एल.-16, जी.आर.एल.-1, आदि। मध्यप्रदेश के संदर्भ में लेमनग्रास की जो प्रजाति सर्वाधिक सफल रही है वह है सी.के.पी.-25. मध्यप्रदेश के संदर्भ में यह प्रजाति न केवल अपेक्षाकृत ज्यादा आसानी से उगने तथा फैलने वाली सिद्ध हुई है बल्कि यहां पर इसकी बढ़वार भी आश्चर्यजनक रूप से अधिक (छ: फुट तक) हुई है तथा इससे उत्पादित होने वाले तेल की मात्रा भी अपेक्षाकृत ज्यादा (1 प्रतिशत तक) रही है। अत: यह कहा जा सकता है कि मध्यप्रदेश की जलवायु के अनुसार लेमनग्रास की सी.के.पी.-25 प्रजाति सर्वाधिक उपयुक्त है।

लेमनग्रास की खेती से प्राप्तियां

उपरोक्तानुसार देखा जा सकता है कि लेमनग्रास की फसल से प्रतिवर्ष प्रति एकड़ औसतन 100 किलोग्राम तेल प्राप्त किया जा सकता है, जिसका वर्तमान बिक्री मूल्य यदि 400/- रुपये प्रति किलोग्राम माना जाए (वैसे वर्तमान में इसकी बिक्री दर 450 से 475 रु. प्रति कि.ग्रा. है) तो इससे प्रथम वर्ष में 40,000/- रुपये की प्राप्तियां होंगी जो कि आगामी वर्षों में बढ़ती जाएंगी। फसल पर होने वाला मुख्य खर्च-स्लिप की लागत, खेत की तैयारी, खाद, निराई-गुड़ाई तथा फसल की कटाई से संबंधित होता है जिनमें से स्लिपस की लागत तथा खेत की तैयारी से संबंधित खर्च केवल प्रथम वर्ष में ही होते हैं तथा आगामी वर्षों में केवल खाद, गुड़ाई, फसल की कटाई तथा आसवन से संबंधित ही खर्च होते हैं । इस प्रकार प्रथम वर्ष में विभिन्न मदों पर लगभग 20,000/- रुपये प्रति एकड़ की लागत आती है, जोकि आगामी वर्षों में घटकर लगभग 10,000/- रु. रह जाती है। इस प्रकार इस फसल से प्रथम वर्ष में लगभग 20,000/- रुपये का लाभ प्राप्त होता है जबकि आगामी वर्षों में लाभ की मात्रा बढ़कर 45 से 50,000/- रुपये प्रति एकड़ तक हो जाती है। तेल के साथ-साथ इस फसल से स्लिप्स (प्लांटिंग मेटेरियल) का उत्पादन भी होगा जिससे किसान को अतिरिक्त आय हो सकती है। विशेष रुप से इस फसल से जुड़ी अनेकों सुविधाओं जैसे इसे एक बार लगा कर पांच साल तक इसकी फसल ली जा सकना, इस फसल में ज्यादा खरपतवार न होना, इसे पशुओं द्वारा कोई विशेष नुकसान नहीं पहुंचा सकना तथा इसके काफी अच्छे बाजार एवं अच्छे दाम मिलने के कारण लेमनग्रास की खेती करना काफी लाभकारी व्यवसाय हो सकता है।

यूकेलिप्टस के पेड़ों के बीच लेमनग्रास की फसल (बड़े पौधों जैसे पपीता, आंवला, येकेलिप्टस, पापुलर आदि में बीच भी) लेमनग्रास की फसल सफलतापूर्वक ली जा सकती है।

लेमनग्रास की खेती हेतु प्लांटिंग मेटेरियल की प्राप्ति

वर्तमान में मध्यप्रदेश के विभिन्न भागों में लगभग 50 किसानों द्वारा लेमनग्रास की खेती प्रारंभ की जा चुकी है जिन्हें लेमनग्रास की स्लिपस प्राप्त करने हेतु संपर्क किया जा सकता है। इनमें से किन्हीं प्रमुख किसानों के पते इस पुस्तक के अंत में दिए गए हैं।

लेमनग्रास के आयॅल की बिक्री हेतु कहां संपर्क करें?

वर्तमान में लेमनग्रास के ऑयल की बिक्री में कोई परेशानी नहीं है। इस क्षेत्र में कार्य कर रहे विभिन्न डीलरों/खरीददारों की जानकारी सेडमैप द्वारा प्रकाशित पुस्तक "लघु विपणन निर्देशिका" से प्राप्त की जा सकती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लेमनग्रास की खेती पर प्रति एकड़ आने वाली अनुमानित लागत तथा आय का विवरण

(क) लागत

क्र.	खर्च की मद	प्रथम वर्ष	द्वितीय वर्ष	तृतीय वर्ष	चतुर्थ वर्ष	पाँचवां वर्ष
1.	भूमि की तैयारी पर व्यय (दो जुताइयों पर व्यय)	1,000/-	-	-	-	-
2.	बीज/प्लांटिंग मेटेरियल की लागत (15,000 स्लिप्स)	10,000/-	-	-	-	-
3.	खाद तथा कीटनाशकों पर व्यय (5 ट्राली गोबर खाद अथवा 500 कि.ग्रा. नीम खाद)	2,500/-	2,500/-	2,500/-	2,500/-	2,500/-
4.	निराई, गुड़ाई तथा पानी आदि देने की लागत	1,000/-	500/-	500/-	500/-	500/-
5.	प्रक्रियाकरण पर व्यय (50 रु. प्रति कि.ग्रा. तेल हेतु)	5,000/-	7,500/-	7,500/-	7,500/-	7,500/-
	कुल लागत	19,500/-	10,500/-	10,500/-	10,500/-	10,500/-
(ख)	कुल प्राप्तियाँ (400 रु. प्रति कि.ग्रा. की दर से)	40,000/- (100 कि.ग्रा. तेल)	60,000/- (150 कि.ग्रा. तेल)	60,000/- (150 कि.ग्रा. तेल)	60,000/- (150 कि.ग्रा. तेल)	60,000/- (150 कि.ग्रा. तेल)
(ग)	लाभ	20500/-	49500/-	49500/-	49500/-	49500/-

भारत में आँवले की सर्वप्रथम स्थापित व सर्वाधिक प्रमाणिक पौधशाला
(प्रजातियाँ: चकैया, कंचन, कृष्णा, NA-6, NA-7, CEN-21 आदि)

उन्नतिशील प्रजातियों के कलमी आँवला पौधों
तथा अन्य सभी प्रकार के औषधीय एवं सुगन्धीय पौधों का विशाल संग्रह

संसार नर्सरी एण्ड गार्डेन्स®
(स्थापना वर्ष-1955)
गोंडे, प्रतापगढ़ (उ.प्र.) पिन-230143
फ़ोन- (05342)21592,23240 (पी.पी.) फैक्स- (05342)- 21592

India's most trusted and firstly established Amla plant House

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

7. रजनीगंधा की खेती

विभिन्न कन्दीय पुष्पों में रजनीगन्धा अत्यन्त सुन्दर, सुगन्धित तथा आकर्षित करने वाला पुष्प है। यह ''अमरालिस'' कुल का सदस्य है तथा इसका वानस्पतिक नाम **पोलिएन्थस ट्यूबरोज़ा** है। इसकी पत्तियां लम्बी तथा पतली (घास के समान) होती हैं एवं पुष्प सफेद तथा सुगन्धित होते हैं जोकि अपनी भीनी-भीनी खुशबू से पूरे खेत को सुगन्ध से भर देते हैं। सुन्दरता एवं सुगन्ध के कारण ही घरों, होटलों तथा कार्यालयों में गुलदस्तों में सजाने के लिये इसकी पुष्पडंडियों ने विशेष जगह बना ली है। ग्रीष्म ऋतु में जबकि प्राय: अधिकांश अच्छे फूल बाजार में उपलब्ध नहीं होते उस समय रजनीगंधा काफी महंगे दामों में बिकता है जिससे उत्पादकों को इसकी खेती से काफी अच्छा मुनाफा मिलता है।

रजनीगंधा की पुष्पित फसल

उपयोग

रजनीगन्धा के पुष्पों का उपयोग विभिन्न अवसरों पर किया जाता है। कट फूलों तथा टेबल डेकोरेशन्स में यह काफी प्रयोग किया जाता है। इसके पुष्पों से सुन्दर मालायें, बुके, बटन होल तथा क्राउन इत्यादि भी बनाए जाते हैं। विभिन्न अवसरों पर इसकी पुष्पडंडियों की मांग बढ़ जाती है। सजावट के अतिरिक्त इसका औद्योगिक महत्व भी है। इसकी खेती बड़े पैमाने पर सुगन्धित तेल (इत्र) निर्माण के लिये भी की जाती है। इसके पुष्पों से प्राप्त सुगन्धित तेल बहुमूल्य होता है जो कि 50,000 रुपये से 80,000 रुपये प्रति कि.ग्रा. के दर से बाज़ार में बिकता है। इस तेल का उपयोग इत्र और सौन्दर्य प्रसाधन उद्योग में होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रजनीगंधा की खेती की वर्तमान स्थिति

वर्तमान में भारतवर्ष में इसकी व्यावसायिक स्तर पर खेती मुख्यत: तमिलनाडु, पश्चिमी बंगाल, कर्नाटक, महाराष्ट्र, दिल्ली तथा उत्तरप्रदेश में की जाती है। मध्यप्रदेश की जलवायु भी इसकी खेती के लिये काफी उपयुक्त है तथा यहां पर भी इसकी खेती सफलतापूर्वक प्रारंभ हो चुकी है।

रजनीगंधा की खेती के लिए उपयुक्त भूमि एवं उसकी तैयारी

रजनीगन्धा की खेती वस्तुत: सभी प्रकार की भूमियों में सफलतापूर्वक की जा सकती है। फिर भी इसकी खेती के लिये उचित जल निकास वाली उपजाई बलुई दोमट तथा मटियार दोमट मिट्टी जो कार्बनिक तत्वों से भरपूर हो, अधिक उपयुक्त होती है। इसकी खेती के लिए चुनी गई भूमि का पी.एच. मान 6.0 से 7.0 तक होना चाहिए।

रजनीगंधा की बिजाई कन्दों (ट्यूबर्स) से की जाती है। खेत में कन्द लगाने से पहले खेत की तीन-चार बार 30-40 से.मी. तक गहरी जुताई करके खेत तैयार कर लेना चाहिए जिससे कि मिट्टी भुरभुरी हो जाये। प्रत्येक जुताई के बाद पाटा चलाकर भूमि को समतल कर लेना चाहिए। मिट्टी को उपजाऊ बनाने के लिये रजनीगन्धा के खेत में मेथी या बरसीम बोकर उसे हरी खाद के रूप में उसी खेत में जोत देने से खेत की ताकत बढ़ जाती है और मिट्टी भुरभुरी हो जाती है। ऐसी भूमि इसकी खेती के लिये काफी लाभदायक सिद्ध होती है।

रजनीगंधा की प्रमुख प्रजातियां

रजनीगंधा की मुख्यत: चार प्रजातियां हैं—(1) **सिंगल**-इसमें पखुड़ियां एक पंक्ति में होती हैं तथा यह बहुत अधिक सुगन्धित होती हैं। इस प्रजाति से ही एसेन्शियल ऑयल निकालकर इत्र निर्माण किया जाता है। (2) **डबल**-डबल प्रजाति में पखुड़ियों की दो या अधिक पक्तियां पायी जाती हैं तथा इनका प्रयोग ज्यादातर कटफ्लावर (बुके आदि बनाने में) किया जाता है। (3) **कस्तूरी** एवं (4) **वेरीगेटेड**। रजनीगंधा की चार संकर प्रजातियां—श्वेता, चित्तचोर, श्रृंगार एवं सुवासिनी भी विकसित की गई हैं। मध्यप्रदेश की जलवायु के अनुसार ''श्रृंगार'' वेरायटी काफी सफल रही है तथा तेल उत्पादन की दृष्टि से भी यह एक उत्कृष्ट वेरायटी है।

खाद एवं उर्वरक की आवश्यकता

रजनीगंधा की फसल हेतु खेत तैयार करते समय अन्तिम जुताई के पहले पलेवा करते समय 10-15 टन प्रति एकड़ के दर से अच्छी प्रकार सड़ी—गली गोबर की खाद या कम्पोस्ट खेत में डालकर अच्छी तरह भूमि में मिला देनी चाहिए। पौधों की अच्छी बढ़वार व बेहतरीन पुष्प उत्पादन के लिये आखिरी जुताई से पहले प्रति एकड़ 150 कि.ग्रा. बायोस्टार, 10 कि.ग्रा. जिंक सल्फेट, 60 कि.ग्रा. अमोनियम सल्फेट, 80 कि.ग्रा. फास्फोरस तथा 60 कि.ग्रा. पोटाश का प्रयोग करना चाहिए। अमोनियम सल्फेट की 1/3 मात्रा कन्द रोपाई से पहले, 1/3 मात्रा रोपाई के 60 दिन बाद तथा तीसरी 1/3 मात्रा तब देनी चाहिए जब फूल निकलना प्रारंभ हो जाएं। टॉप ड्रेसिंग विधि द्वारा उर्वरक देने से लम्बी और स्वस्थ पुष्पडंडियां मिलती हैं। इसके लिये यूरिया व पोटाश को 2:1 के अनुपात में मिलाकर इसका 2-3 बार छिड़काव करना चाहिए।

रजनीगंधा की बिजाई की विधि

रजनीगंधा की बिजाई बल्बों अथवा कंदों (Bulbs or Tubers) से की जाती है। इसकी बिजाई हेतु भली प्रकार तैयार खेत में आवश्यकतानुसार कई क्यारियां बनाकर उनमें कन्दों (बल्ब) को लगाना चाहिए। कन्दों को 25-30 से.मी. की दूरी पर बनी पंक्तियों में एक कन्द से दूसरे कन्द के बीच 15-20 से.मी. की दूरी रखकर लगाना चाहिए। कन्द लगभग 2.0-3.0 सें.मी. व्यास (मोटाई) के होने चाहिएं। बड़े कन्दों को अधिक गहराई पर (लगभग 5-6 सें.मी. गहरा) तथा छोटे कन्दों को कम गहराई पर (लगभग 3-4 सें.मी. गहरा) बोना चाहिए। कन्द लगाते समय खेत में हल्की नमी रहनी चाहिए। कन्दों को लगाने के उपरान्त ठीक प्रकार मिट्टी से ढक देना चाहिए। बोने से पहले कन्दों को बावस्टीन अथवा कैप्टान नामक फफूंद नाशक दवा से उपचारित कर लेना चाहिए। इसके लिये 10 ग्राम दवा को एक लीटर पानी में घोलकर तैयार किया जाता है। इस घोल में कन्दों को 30 मिनट तक डुबो कर रखा जाना चाहिए। इसके बाद कन्दों को छाया में सुखाकर बोना चाहिए। बिजाई के लिए प्रति एकड़ रजनीगंधा के लगभग एक लाख बल्बों अथा कंदों की आवश्यकता होती है।

बिजाई हेतु उपयुक्त समय

रजनीगन्धा वर्ष में कभी भी लगाया जा सकता है। इसके पौधे सदैव हरे-भरे रहते हैं। व्यावसायिक खेती हेतु इन्हें लगाने का **सर्वोत्तम समय मार्च से मई तक** होता है। फरवरी माह में भी इन्हें लगाया जा सकता है। कन्दों की रोपाई एक साथ न करके 15-15 दिन के अन्तर पर 3-4 बार में करनी चाहिये, जिससे कि पुष्प एक साथ तैयार न होकर एक अन्तराल से लम्बे समय तक मिलते रहें।

सिंचाई

रजनीगंधा की खेती के लिये अधिक पानी की आवश्यकता नहीं होती किन्तु पौधों के उचित वृद्धि विकास

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

व पुष्पन के लिये खेत में नमी निरन्तर बनी रहनी चाहिए। कन्दों से जब कल्ले अंकुरित होने लगें तब इनकी प्रथम सिंचाई करनी चाहिए। तत्पश्चात् गर्मी में 3-4 दिन के अन्तर पर इसकी फसल को सिंचाई की आवश्यकता होती है।

पुष्पन (Flowering)

रजनीगंधा के पुष्प लम्बी पुष्पडंडियों पर निकलते हैं जिन्हें "स्पाइक्स" कहते हैं। सफेद पुष्प जोड़ों में नीचे से ऊपर की ओर लगते हैं और क्रमशः धीरे-धीरे खिलते जाते हैं। एक पुष्पडंडी पर लगभग 20-24 पुष्प लगते हैं। अच्छी प्रकार देखभाल करने पर प्रति एकड़ लगभग 12-15 टन (120-150 क्विंटल) तक पुष्प प्राप्त होते हैं। प्रायः पुष्प, कन्द लगाने के 90-95 दिन बाद से मिलने प्रारंभ हो जाते हैं।

कटाई

पौधों में जब पुष्पन शुरू हो जाए तब पुष्पडंडियों (स्पाइक्स) को बाजार में बिक्री के लिये उस समय काटना चाहिये जबकि नीचे के पहले दो पुष्प खिलने वाले हों। स्पाइक्स को प्रातःकाल अथवा सांयकाल में काटना चाहिये। काटने के तुरन्त बाद इन पुष्प डंडियों को पानी में रख देना चाहिये तथा तदुपरान्त इन्हें बाजार में भेजना चाहिए।

रजनीगन्धा की फसल एक बार लगा देने पर लगभग तीन वर्षों तक फूल देती रहती है। कन्दों को प्रत्येक वर्ष पुष्पन समाप्त होने के बाद जमीन से खोदकर निकाला भी जा सकता है तथा एक माह का आराम (रेस्ट) देने के बाद इन्हें पुनः रोपा जा सकता है।

पौध-सुरक्षा

रजनीगन्धा एक ऐसी फसल है जिस पर प्रायः रोगों तथा कीड़ों का आक्रमण नहीं होता अर्थात् इस फसल पर इनका बहुत ही कम प्रभाव होता है। कभी-कभी कुछ कीट इसकी फसल पर आक्रमण करते हैं जिसे सामान्य कीटनाशकों का छिड़काव करके नियंत्रित किया जा सकता है।

रजनीगंधा की फसल से होने वाली प्राप्तियां

रजनीगंधा की खेती पुष्प उत्पादन के लिए भी की जा सकती है तथा तेल उत्पादन के लिए भी। एक एकड़ की खेती से प्रतिदिन औसतन 1000 से 1200 पुष्पडंडियां (Spikes) तैयार हो जाती हैं तो बाजार में कम से कम एक रु. प्रति नग (वैसे फूलवाले तो 4-5 रु. की एक पुष्प डंडी देते हैं) की दर से बिक जाती है। इसके साथ-साथ रजनीगंधा के फूलों से उच्चकोटि का तेल निकाल कर सुगंधित पदार्थ व इत्र भी बनाया जाता है जोकि औद्योगिक बाजार में काफी महंगा बिकता है। इस पुष्प की खेती से संबंधित होने वाले आय-व्यय का विवरण निम्नानुसार है—

पुष्प उत्पादन प्रति एकड़ =	12 टन
पुष्पों की बिक्री दर =	रु. 20 प्रति किलो अथवा रु. 20000/- प्रति टन
पुष्पों की बिक्री से आय=	**रु. 2,40,000/-**
प्रति एकड़ कन्दों (बल्बों) की लागत= (रु. 80/- प्रति सैकड़ा की दर से)	रु. 80,000/-
खेत की तैयारी, खाद, मजदूरी तथा रोपाई एवं रोग सुरक्षा इत्यादि पर खर्च =	रु. 20,000/-
प्रति एकड़ कुल खर्च =	**1,00,000/-**
प्रति एकड़ शुद्ध लाभ (पहले वर्ष में)=	**रु. 1,40,000**

अगले दो वर्षों तक कन्दों पर कोई खर्च नहीं आता है तथा केवल खाद तथा मजदूरी पर ही व्यय होता है जोकि प्रतिवर्ष लगभग रु. 20,000 प्रति एकड़ तक आयेगा।

अतः दूसरे वर्ष शुद्ध लाभ (2,40,000—20,000) = रु. 2,20,000/एकड़

तीसरे वर्ष शुद्ध लाभ = रु. 2,20,000/एकड़

यह लाभ कुछ अधिक भी हो सकता है क्योंकि दूसरे व तीसरे वर्ष स्पाइक्स ज्यादा निकलती हैं जिससे उपज अपेक्षाकृत बढ़ जाती है।

प्रथम वर्ष में कन्दों पर होने वाले खर्च में से कुछ खर्च कम किया जा सकता है। इसके लिये रोपाई से एक वर्ष पूर्व केवल कन्द ही तैयार किए जा सकते हैं। इस हेतु 1/10 एकड़ की यूनिट में 10,000 बल्बों (कन्दों) की आवश्यकता होती है। इस वर्ष मात्र 10,000 कन्दों की रोपाई करके अगले वर्ष व्यावसायिक खेती हेतु 1,00,000 (एक लाख) कन्द तैयार किए जा सकते हैं जिन पर मात्र रु. 10,000 (दस हजार रुपये) का ही खर्च आयेगा।

इस प्रकार किसानों तथा शिक्षित बेरोजगारों के लिये रजनीगंधा की खेती एक अति लाभदायक खेती हो सकती है तथा सुगन्ध के साथ-साथ पुष्पों की बिक्री से पर्याप्त मुनाफा कमाया जा सकता है। रजनीगंधा की खेती हेतु अच्छी वेरायटी के ट्यूबर्स निम्नलिखित पतों से प्राप्त किए जा सकते हैं :—

- **कंसल एग्रोटेक प्रा.लि.**, कंसल भवन, डिप्टीगंज, बुलंदशहर-203001 फोन (05732) 50426/50528 (कार्या.) 50491 (नि.)
- **शरीफ खान**, ग्राम खजूरी कलां, पिपलानी, बी.एच.ई.एल. बी-सेक्टर स्टाप, भोपाल (म.प्र.)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

८. गुलाब की खेती तथा गुलाब जल का उत्पादन

भारत में विभिन्न फूलों की खेती प्राचीन काल से होती आ रही है। व्यावसायिक उद्देश्य से हमारे देश में विभिन्न सुगंधित पौधों जैसे गुलाब, चमेली, रजनीगन्धा, केवड़ा आदि की खेती बड़े पैमाने पर की जाती है। इन समस्त पौधों में से गुलाब की खेती अपना विशेष महत्व रखती है।

गुलाब का इतिहास कदाचित मानव इतिहास से भी अधिक पुराना है। गुलाब के जीवाश्म (फॉसिल्स) कोलोरेडो में पाए गये हैं जोकि लगभग तीन करोड़ से भी अधिक वर्ष पुराने बताए जाते हैं। आदि साहित्य में गुलाब का व्यापक वर्णन मिलता है और आधुनिक सभ्यता में भी गुलाब का पुष्प एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

व्यापारिक दृष्टि से गुलाब एक महत्वपूर्ण पौधा है। न केवल इसकी कलमों और पौधों को बेचकर आमदनी प्राप्त की जा सकती है बल्कि इसके इत्र, गुलकंद, गुलाब-जल और कटे फूलों से संबंधित उद्योग भी काफी फल-फूल रहे हैं।

भारत में गुलाब के इत्र की खोज मुगल बादशाह जहांगीर की बेगम नूरजहां ने की थी। कहा जाता है कि सन् 1612 में एक दिन महल के स्नान गृह के तालाब में गुलाब की पंखुड़ियों के साथ जल में तैरती तेल की बूंदों को पहली बार नूरजहां ने देखा था। बस इस खोज से भारत में गुलाब के तेल का निर्माण प्रारंभ हुआ और गुलाब के तेल निर्माण से संबंधित उद्योगों की स्थापना हुई।

गुलाब की मुख्यत: चार सुगंधित प्रजातियां हैं जोकि तेल निर्माण के उद्देश्य से भारत में लगाई जाती हैं। ये प्रजातियां हैं-रोज़ा सेन्टीफोलिया, रोज़ा मास्केटा, रोज़ा वोरवियाना और रोज़ा डैमेसिना। इनमें से सबसे ज्यादा प्रजाति जो भारत में लगाई जाती है, वह है—रोज़ा डैमेसिना। सुगन्ध एवं व्यवसायिक उद्देश्य से इसका ही तेल सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

इस समय भारत में लगभग 3500 हैक्टेयर भूमि में गुलाब की इन चारों प्रजातियों की खेती की जा रही है जिससे लगभग 100-120 कि.ग्रा. तेल का प्रतिवर्ष उत्पादन होता है। आज भारतवर्ष अपनी घरेलू मांग पूरा करने के साथ-साथ गुलाब के तेल को निर्यात करके विदेशी मुद्रा भी अर्जित कर रहा है। इसको अन्य विभिन्न रूपों में भी उपयोग में लाया जाता है, जैसे-गुलाब इत्र, गुलाब जल, गुलकन्द तथा गुलाब की सूखी पंखुड़ियां जोकि विशेष अवसरों पर प्रयोग में लाई जाती हैं। इसके साथ-साथ गुलाब के ताज़े फूलों को विभिन्न अवसरों पर सजावट एवं हार बनाकर पूजा के लिये भी प्रयोग में लाया जाता है।

गुलाब की खेती काफी अधिक लाभदायक एवं सुगमता से की जा सकने वाली खेती है। वर्तमान में गुलाब की खेती प्रमुख रूप से बलगेरिया, फ्रांस, मोरक्को, टर्की तथा भारत में की जाती है। यद्यपि अभी भारत में इसकी खेती मुख्यत: राजस्थान, उत्तरप्रदेश व जम्मू-कशमीर तक में सीमित है, किन्तु इसे देश के अन्य प्रांतों में भी सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है। हमारे देश में सुगंधित गुलाब का उपयोग मुख्यतया माला, कट-फ्लावर, गुलदस्ता, मंदिर व अन्य धार्मिक और शुभ अवसरों पर किया जा रहा है, वहीं पर सौन्दर्य प्रसाधनों (कास्मेटिक्स) की मांग बढ़ने के साथ गुलाब तेल का उपयोग सुगन्ध उद्योग में भी बढ़ता जा रहा है। वर्तमान में विश्व भर में गुलाब तेल का वार्षिक उत्पादन लगभग 15-20 टन है जबकि इसकी मांग इससे कई गुना अधिक है। गुलाब तेल का औषधीय महत्व भी काफी अधिक है जिसके कारण इसका मूल्य अंतर्राष्ट्रीय बाजार में लगभग 2-3 लाख रुपये प्रति कि.ग्रा. तक है। इसके तेल के मुख्य तत्व रोहडीनाल जिरेनियाल तथा निरोल हैं। पित्ताशय की पथरी (गॉल स्टोन) जैसी भयंकर बीमारी के उपचार के अतिरिक्त इसका उपयोग अनेकों अन्य बीमारियों में भी होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुलाब की प्रमुख किस्में

विश्व में गुलाब की लगभग 25,000 से भी अधिक किस्में हैं जिनमें से लगभग 6,000 किस्में भारत में उगाई जाती हैं। ये समस्त किस्में मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश में उगाई जा सकती हैं। इनमें से शोभाकार किस्में रंग-भेद के अनुसार बांट दी गई हैं और वे वाटिकाओं में उगाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त गुलाब की किस्मों को उपयोगिता के आधार पर भी बांटा गया है। गुलाब के प्रमुख भेद व किस्में निम्नानुसार हैं—

1. खुश्बूदार फूलों के लिये—एफिल टावर, जादिस, मृणालिनी आदि.
2. कट फ्लावर्स के लिये—हैपीनैस, स्टार ऑफ इन्डिया.
3. स्टैन्डर्ड—एवोन, बेले ऑफ पंजाब, नेवाड़ा.
4. आरोही—अमेरिकन पिलर, ब्लेज़, देहली.
5. झाड़ी या झुरमुट—फ्रॉ कार्ल-पुस्पकी, फेलिसिया, केसेल.
6. रॉकरी—फेटी क्वीन, मैजिक.
7. बॉड एवं किनारी—कोरल, सरकस, रुम्बा.
8. लटकती टोकरियां—रेड कास्केड, यलो डॉल.
9. गमलों में लगाने वाली किस्में—एन्जेला रिपन, बेबी डार्लिंग, क्राई-क्राई.
10. मूलवृन्त—एडवर्ड रोज़, रोज़ा इन्डिका, रोज़ा लाक्सा.
11. सुगंधित पदार्थों के लिये—रोज़ा डैमेसिना, रोज़ा वोरवियाना, रोज़ा सेन्टीफोलिया आदि.

इनमें से सुगंधित पदार्थों के लिये प्रथम दो जातियां—रोज़ा डैमेसिना और रोज़ा वोरवियाना (जिसको रोज़ एडवर्ड या चीना गुलाब या देशी गुलाब या बारामासी गुलाब भी कहते हैं) ज्यादा उपयुक्त मानी जाती हैं। रोज़ा एडवर्ड की कई किस्में हैं जैसे—देशी, मारुति, चीना, कैथेल आदि। इस प्रजाति को लोग अधिकतर इसलिये पसंद करते हैं क्योंकि इसमें फूल सालभर आते रहते हैं और यह क्षारीय भूमि में (पी.एच. 9 तक) भी हो जाता है।

चीना गुलाब—इसके फूलों से हार, गुलाब जल, गुलकन्द और तेल भी बनाया जाता है। इससे कॉन्क्रीट भी बनाया जा सकता है। इसमें कॉन्क्रीट की प्राप्ति लगभग 0.18% से 0.30% (फूलों के वजन के अनुसार) तक मिलती है। यह पाउडर, क्रीम आदि के निर्माण में भी काम आता है।

रोज़ा डैमेसिना—इसके फूलों का इस्तेमाल मुख्यतया गुलाब जल, गुलाब तेल और गुलाब के अन्य उत्पाद बनाने के काम में लाया जाता है। इसके फूलों से "विटामिन-सी" भी प्राप्त किया जा सकता है। रोज़ा डैमेसिना की कई प्रमुख किस्में हैं जो विभिन्न स्थानों पर भारत में उगाई जाती हैं, जैसे-ट्रिगिनिपेटाला (डीक) जिसे कैनिजैलिक रोज़ भी कहते हैं। इसी की एक प्रजाति अलीगढ़ में भी उगाई जाती है। अलीगढ़ में दो प्रकार के पौधे मिलते हैं जिनमें से कुछ बड़े और कुछ बौने होते हैं। बौने किस्म के पौधों के फूलों से तेल की प्राप्ति 0.64% तक मिलती है जबकि लम्बी किस्म के पौधों के फूलों से 0.3% तक। इसी प्रकार राजस्थान के हल्दीघाटी क्षेत्र में भी गुलाब तेल प्राप्त करने हेतु रोज़ा डैमेसिना की एक उत्कृष्ट प्रजाति लगाई जाती है।

देशी गुलाब से निम्नलिखित सुगंधित पदार्थ प्राप्त होते हैं—

1. गुलाब जल— जल आसवन क्रिया से सुगंधित गुलाब जल तैयार किया जाता है।

2. गुलाब इत्र— इसे तैयार करने के लिये गुलाब के फूलों का आसवन किया जाता है और आसवित द्रव को चंदन के तेल में मिलाया जाता है।

3. गुलकन्द— इसे गुलाब की पंखुड़ियों को चीनी के साथ समान मात्रा में मिलाकर खुली धूप में 1 माह तक रख कर तैयार किया जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

4. गुल रोगन—फूलों को तेल में मिलाकर रोगन तैयार किया जाता है।

गुलाब तेल, गुलाब इत्र या रूह गुलाब

गुलाब के फूलों का आसवन करके रुह गुलाब (तेल) प्राप्त किया जाता है। व्यावसायिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु भारत में केवल गुलाब जल का ही उत्पादन होता है तथा थोड़ी मात्रा में रुह बनता है। रूह गुलाब, गुलाब जल उद्योग में बॉय-प्रोडक्ट (by-product) के रूप में प्राप्त होता है।

गुलाब से प्राप्त होने वाले उपरोक्त पदार्थों को सौन्दर्य प्रसाधनों, सुगंधियों, औषधियों और सुवासित पेयों में भी मिलाया जाता है।

दुनियां के बाजार में गुलाब तेल अधिकांशत: बल्गेरिया से आता है और इसे अत्युत्तम गुणवत्ता वाला माना जाता है। वर्तमान समय में रूस, फ्रांस, जर्मनी और तुर्की देश भी गुलाब जल तैयार कर रहे हैं। भारत में मुख्य रूप से गुलाब का इत्र तथा गुलाब जल तैयार किए जाते हैं। आसवन क्रिया पर अत्याधिक लागत तथा तेल की कम उपलब्धि के कारण भारत में व्यापारिक स्तर पर गुलाब का तेल तैयार नहीं किया जाता। इसके अलावा इस तेल के उत्पादन हेतु गुलाब की खेती भी यहां पर्याप्त रूप से नहीं हो रही। हमारे देश में गुलाब के फूलों के उत्पादन का अधिकांश भाग गुलाब जल बनाने में प्रयुक्त किया जाता है जिसकी कीमत इसकी गुणवत्ता के आधार पर 5 से 15 रु. प्रति लीटर होती है।

सुगंधित गुलाब की तिज़ारती किस्म ''फसली गुलाब'' (रोज़ा डैमेसिना) के फूलों के जल आसवन से गुलाब का सगंध तेल प्राप्त होता है, लेकिन यह तेल बहुत कम अर्थात् मात्र 0.01-0.02% तक ही प्राप्त होता है।

गुलाब की खेती की विधि

गुलाब के पौधों की कृषि के लिये भली प्रकार सूखी हुई बलुई मिट्टी जिसमें बड़ी मात्रा में ह्यूमस उपस्थित न हो अधिक उपयोगी होती है। उत्तरी भारत में गैंगटिक एलुविय मिट्टी भी इसके लिये उपयोगी है जिसका पी.एच. 9.5 के बराबर है। इसके लिये मध्यम कोटि की शीतोष्ण जलवायु अधिक उपयुक्त होती है।

गुलाब का प्रसारण

गुलाब का प्रसारण मुख्य रूप से कलमों द्वारा किया जाता है। इसकी कलमों को इसके 10-12 माह पुराने पौधों के परिपक्व प्ररोहों से नवम्बर-दिसम्बर माह में काटा जाता है। इस कार्य हेतु 20-25 से.मी. लम्बी कलमें काटी जाती हैं जिन्हें गमलों या पौधशालाओं में लगाया जाता है। जब जड़ें निकल आती हैं तब इन्हें स्थायी स्थानों पर लगाया जाता है। तदुपरान्त खेतों में गहरी पंक्तियों या गड्ढों में बड़ी मात्रा में सड़ी हुई गोबर की खाद मिला दी जाती है। खाद को मिट्टी में अक्टूबर माह में मिलाया जाता है। जब मिट्टी खाद से अच्छी प्रकार मिल जाती है तब गुलाब के पौधों को पंक्तियों में 1 × 1 मीटर की दूरी पर लगा दिया जाता है। **अक्टूबर से दिसम्बर तक का समय गुलाब के रोपण के लिये सबसे अच्छा माना जाता है।** जिस समय इसमें फूल आते हैं (फरवरी से मार्च तक), तब इसे लगातार सिंचाई की आवश्यकता होती है।

रोपण के बाद निराई-गुड़ाई और सिंचाई नियमित रूप से की जानी चाहिये—इससे पौधों की आयु और व्यावसायिक महत्व बढ़ जाता है। जनवरी-फरवरी में खेत की निराई की जाना आवश्यक होती है। वर्ष में खेत की तीन बार निराई तथा पांच बार गुड़ाई की जानी चाहिये। पौधा जब 50 से.मी. तक ऊंचा हो जाए तो उसकी जनवरी माह में कटाई-छंटाई की जानी चाहिये। गोबर की सड़ी हुई खाद 8 टन प्रति हैक्टेयर के हिसाब से 200 किलो नाइट्रोजन उर्वरक के साथ मिलाकर आधी मात्रा कटाई के 15 दिन बाद और बाकी मात्रा 20 दिन बाद दी जाती है। 8 से 9.5 पी.एच. तक वाली मिट्टी में कैल्शियम तथा अमोनियम देना उचित होगा।

रोग व कीटों से बचाव

गुलाब में यदि समय पर बीमारी और कीड़े-मकोड़ों की रोकथाम न की जाए तो फूलों की पैदावार में 40 से 50% तक की कमी आ सकती है। ''डाइबैक'' गुलाब की फसल की प्रमुख बीमारी है जिसमें इसकी टहनियाँ सूख जाती हैं। इससे पूरा पौधा धीरे-धीरे सूख कर समाप्त हो जाता है। इसकी रोकथाम के लिये 'बावस्टिन' नामक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कवकनाशी रसायन के एक प्रतिशत के घोल का 15 दिन के अन्तराल पर दो छिड़काव करने के लाभकारी परिणाम पाए गए हैं।

कीटनाशी रसायन ''थायोडान'' के 25%घोल का छिड़काव करने से गुलाब के अन्य कीटों से मुक्ति मिल जाती है। किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कलियों के निकलने के समय इन दवाओं को न छिड़का जाए क्योंकि इससे फूलों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है।

गुलाब की खेती पर होने वाले व्यय का विवरण

गुलाब की खेती से संबंधित विभिन्न मदों पर तीन वर्षों में होने वाले व्यय के विवरण निम्नानुसार हैं—

विवरण	व्यय		
	प्रथम वर्ष	द्वितीय वर्ष	तृतीय वर्ष
1. खेत की तैयारी पर व्यय (4 जुताई, 250 रु./जुताई 4 पाटा, 55 रु./पाटा)	1000/- 220/-		
2. मेड़ व क्यारियां बनाना (15 मजदूर दिवस 80 रु./मजदूर/दिन)	1200/-		
3. गड्ढा खुदाई पर व्यय (150 मजदूर दिवस)	12,000/-		
4. गोबर की खाद (150 क्विं., 20 रु./क्विं.)	3,000/-		
5. पौधों की कीमत (10,000 पौध, 2 रु./पौध)	20,000/-		
6. पौधों को लगाने की लागत (30 मजदूर दिवस)	2,400/-		
7. खाद व उर्वरक का मिश्रण— (50 ग्रा. प्रति पौधा वर्ष में दो बार देने हेतु, 2 रु. प्रति पौधा 10,000 पौधों के लिये।)	20,000/-	20,000/-	20,000/-
8. सिंचाई पर लागत (10 सिंचाईयां, 120 रु/सिंचाई)	1200/-	1200/-	1200/-
9. निराई-गुड़ाई— [15 मजदूर दिवस प्रति निराई-गुड़ाई (4)]	4800/-	4800/-	4800/-
10. कटाई-छंटाई— (30 मजदूर दिवस)	2400/-	2400/-	2400/-
11. हारमोन व सूक्ष्म तत्व देने तथा कीट व रोग की रोकथाम हेतु देय मजदूरी	1000/-	1000/-	1000/-
12. फूलों की तुड़ाई, ढुलाई पर व्यय (8 मजदूर, 30 दिन तक)	19,200/-	19,200/-	19,200/-
योग =	**88420/-**	**48600/-**	**48600/-**

तीन वर्ष में कुल व्यय = रु. 1,85,620/-

गुलाब की खेती से होने वाला कुल उत्पादन

गुलाब के पौधों से पहले वर्ष में व्यवसायिक स्तर का कोई भी उत्पादन नहीं हुआ माना जाता। यदि कभी इक्के-दुक्के फूल निकल भी आएं तो उन्हें शीघ्र तोड़ देना चाहिये। दूसरे वर्ष में लगभग 2000—2500 कि.ग्रा. फूल प्रति हैक्टेयर प्राप्त होते हैं तथा तृतीय वर्ष में 3000—3500 कि.ग्रा. तक फूल प्राप्त होते हैं।

गुलाब की खेती से अनुमानित लाभ

तीन वर्ष में कुल व्यय = रु. 1,85,620/-

औसत व्यय प्रति हैक्टेयर, प्रति वर्ष = रु. 61,873/-

तीन वर्षों में फूलों का कुल उत्पादन तथा कुल प्राप्तियां

प्रथम वर्ष में यदि कोई उत्पादन होना न माना जाए, दूसरे वर्ष में यदि 2,000 कि.ग्रा. फूल तथा तीसरे वर्ष में 3,500 कि.ग्रा. फूलों का उत्पादन माना जाए तो कुल 5,500 कि.ग्रा. फूलों का उत्पादन होगा।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

फूलों की बिक्री से कुल आय (फूल बिक्री मूल्य 65 रु. प्रति कि.ग्रा.)	=	3,57,500 रु.
तीन वर्ष में शुद्ध लाभ	=	**रु. 1,71,880/-**
औसत शुद्ध लाभ प्रति हेक्टेयर, प्रति वर्ष	=	**57,293 रु.**

गुलाब के फूलों से गुलाब तेल निकालने पर प्राप्त होने वाली आय

तीन वर्ष में कुल फूल उत्पादन	=	5500 कि.ग्रा.
फूलों का आसवन करने पर उनसे प्राप्त होने वाली तेल की मात्रा	=	1.5 कि.ग्रा.
1 कि.ग्रा. तेल का मूल्य	=	रु. 2,50,000/-
1.5 कि.ग्रा. तेल का मूल्य	=	रु. 3,25,000/-
तीन वर्ष में शुद्ध लाभ	=	(रु. 3,25,000-रु. 1,85,620/-)
	=	रु. 1,39,380/-
औसत शुद्ध लाभ प्रति हेक्टेयर प्रति वर्ष	=	**रु. 46,460/-**

गुलाब जल बनाना

फूलों के जल आसवन से गुलाब का सगंध तेल प्राप्त होता है। परन्तु यह तेल बहुत कम (अर्थात् लगभग 0.01 से 0.02% तक) प्राप्त होता है। आधुनिक आसवन प्रक्रम तथा क्षेत्रीय आसवन उपकरण (भभका) से फसली गुलाब के फूलों का आसवन करने पर 0.03% सगंध तेल प्राप्त होता है। यह उपकरण 20 गेज के तांबे की चादर का बना हुआ होता है जिसमें एक बार में 40-50 कि.ग्रा. फूलों को भरा जा सकता है। इस उपकरण की कीमत स्थानीय मजदूरी के हिसाब से लगभग 20,000 रु. तक आएगी।

इसके अतिरिक्त छोटे पैमाने पर सुगंधित गुलाब जल उत्पादित करने के लिये सरल उपकरण भी उपलब्ध हैं। ये उपकरण कांच, तांबे या स्टेनलेस स्टील के बनाए जा सकते हैं। इनके तीन भाग होते हैं—(1) एक आसवन फ्लास्क, इच्छित क्षमता वाला, (2) मुख्य भाग, जो अनेक नलियों से बना होता है तथा, (3) एक प्रवाणित्र।

उपरोक्तानुसार गुलाब की खेती फूल प्राप्त करने की दृष्टि से भी तथा फूलों से गुलाब जल अथवा गुलाब तेल के उत्पादन की दृष्टि से भी काफी उपयोगी है। हालांकि अभी हमारे देश में गुलाब की खेती प्रारंभिक अवस्था में ही है, परन्तु इस क्षेत्र में संभावनाएं असीमित हैं जिनका दोहन किया जाना समय की मांग है।

सभी वेरायटियों के गुलाबों की कलमों, गुलाब तेल/गुलाब जल बनाने संबंधी जानकारी तथा इनकी मशीनरी/उपकरणों की प्राप्ति हेतु **श्री राजेश खत्री, एच-3, लेन-6, इब्राहीमगंज, भोपाल फोन (0755) 530972** से सम्पर्क किया जा सकता है।

क्या आप औषधीय व सुगंधीय पौधों की खेती करने जा रहे हैं?

अपनी बहुमूल्य फसल को दीजिये 100% प्राकृतिक खाद।

नीम प्लस सभी प्रकार के औषधीय व सुगंधीय फसलों जैसे : अश्वगंध, सफेद मूसली, सतावर, बच, ईसबगोल, आंवला, सर्पगंधा, पामरोजा, मैन्था, लेमनग्रास, आदि फसलों को आवश्यक पोषक तत्व प्रदान करने के साथ-साथ फंगस, निमाटोड्स, दीमक आदि से सुरक्षा प्रदान करता है। यह औषधीय पौधों (खासकर वह जिनकी जड़ें प्रयोग होती हैं।) के उत्पादन में 20% तक की वृद्धि करता है। साथ ही भूमि की संरचना में सुधार करता है जिससे भूमि नरम बनती है। रासायनिक उर्वरकों व खरपतवार नाशकों पर खर्च कम करता है।

100% प्राकृतिक खाद
नीम के गुणों के साथ

NEEM PLUS

अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें -

कंसल एग्रोटेक (प्रा0) लि0

कंसल भवन, डिप्टी गंज, बुलन्दशहर -203001 (उ0प्र0)

दूरभाष : (05732) 50426,50528 फैक्स: 50042

नीमप्लस को आवश्यकता है समस्त भारत में, वितरकों व डीलरों की, अवसर का लाभ उठायें, शीघ्र सम्पर्क करें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

9. जर्मन चमेली (मैट्रीकेरिया चमोमिला) की खेती

मैट्रीकेरिया चमोमिला (जर्मन चमेली) का तेल भैषजिक किण्वन तथा गंधकारी उद्योग में उपयोग किये जाने के लिए विख्यात है। इस तेल की आपूर्ति एक प्रमुख समस्या है जिसके कारण इसकी कीमत भी काफी बढ़ गयी है। विदेशी मूल का होने पर भी इस पौधे की खेती भारत में अनेकों स्थानों पर की जा सकती है। वर्तमान में इसकी खेती उत्तरप्रदेश तथा मध्यप्रदेश के कई स्थानों में प्रारंभ हो चुकी है तथा यह काफी सफल रही है।

मैट्रीकेरिया चमोमिला (जर्मन चमेली) के फूलों के भाप आसवन द्वारा एक नीला तेल (ब्लू आयल) तैयार होता है जिसमें कैमेजुलीन प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। इस तेल की भीनी-भीनी सुगंध बड़ी तेजी से वातावरण में फैल जाती है। प्रसाधन सामग्री में इसकी अत्यंत सूक्ष्म मात्राओं से गंध भिन्नता उत्पन्न की जाती है तथा लेवेण्डर जैसी आनन्ददायक सुगंधियां इससे तैयार की जाती हैं। जर्मन चमेली के तेल के बिना इन्हें तैयार नहीं किया जा सकता।

जर्मन चमेली का तेल शोथरोधी, आक्षेपरोधी, एलर्जीरोधी तथा शक्तिदायक होता है। जर्मन चमेली के फूलों को मुख्यत: वासक पदार्थ के रूप में उपयोग किया जाता है। इसके फूलों से तैयार की गयी चमोमिला चाय यूरोप में पाचन विकारों (Digestive Problems.) को ठीक करने के लिए आमतौर पर इस्तेमाल की जाती है। इसके अलावा, इससे एक क्षालन (Rinse) भी तैयार किया जाता है जिससे धोने से बाल सुगन्धित और चमकीले बनते हैं। यूरोप में इसके फूल फर्शों पर बिछा कर कमरे को सुगंधमय बनाया जाता है। इसके तेल का क्रीम तथा शैम्पू में भी उपयोग होता है। इसके फूल तथा पौधे औषधि के रूप में भूख बढ़ाने, पेट के अल्सर ठीक करने, ताकत बढ़ाने, सर्दी जुकाम ठीक करने तथा बालों के लिए डाई बनाने के काम में आते हैं।

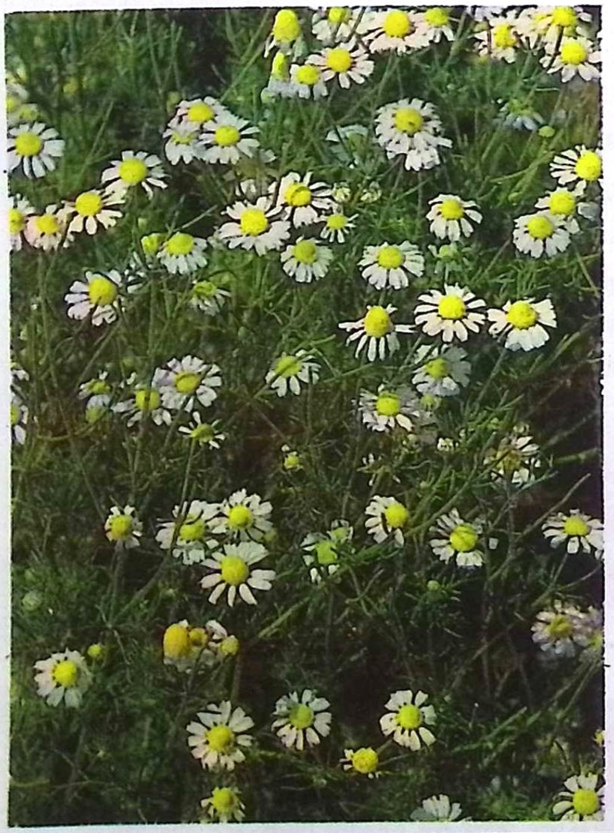

जर्मन चमेली की पुष्पित फसल

उच्चकोटि की लीकर और शराब के सम्मिश्रण (blending) हेतु भारत में शराब के कारखानों में इसके तेल की अत्यधिक मांग रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में इसकी आपूर्ति कम होने के कारण, इसका आयात लाभकर नहीं है लेकिन इस पौधे की खेती यदि भारत में की जाये तो यहां के उद्योगों के लिए इससे अन्य विरचनाओं को बड़े पैमाने पर तैयार करना लाभकर भी होगा और सुविधाजनक भी। भारत के विभिन्न कृषि जलवायु वाले क्षेत्रों में इसे सुविधापूर्वक उगाया जा सकता है।

जर्मन चमेली के पौधे की ऊंचाई प्राय: 30 से 60 से.मी. तक होती है और अच्छी मिट्टी में यह 80 से.मी. की ऊंचाई तक बढ़ सकता है। मूलत: यह दक्षिणी तथा पूर्वी यूरोप का पौधा है जिसकी वर्तमान में खेती जर्मनी, फ्रांस, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, बेलजियम, स्पेन, रूमानिया और रूस में की जाती है। यह निकट पूर्व जापान, कांगो, अर्जेन्टाइना, मिश्र, स्विटरलैण्ड तथा रूस में भी पाया जाता है। वर्तमान में इसकी खेती लगभग 40 देशों में की जा रही है। बहुधा लोग इस पौधे को भ्रमवश ''एंथेसिस नोबिलिस'' समझ बैठते हैं जिसका उपयोग भारतीय चिकित्सा पद्धति में किया जाता है। लेकिन आकारिकी की दृष्टि से यह भिन्न होता है क्योंकि इसमें फूलों और फलों के गुच्छों के बीच शल्क जैसे अन्त: पुष्प कवच (पेल) नहीं होते। इससे उत्पन्न होने वाले सगंध तेल के घटकों में भी भिन्नता पायी जाती है। जर्मन चमेली में जीभिकाकार सुगंधित फूल पाये जाते हैं जबकि एंथेसिस में

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दीर्घ नुकीले या कुण्ठ शूक नुकीले अन्त: पुष्प कवच होते हैं और उनमें सुगंध भी नहीं होती।

जर्मन चमेली की कृषि तकनीक

जर्मन चमेली की बिजाई बीजों से की जाती है। इसकी बिजाई के लिए मोटे तथा भारी बीजों का चयन करना चाहिए क्योंकि हल्के बीज अनुपजाऊ हो सकते हैं। व्यापारिक प्रतिचयन में अंकुरण क्षमता लगभग 60 प्रतिशत तक पायी जाती है। पुराने बीजों की अंकुरण क्षमता कम होती है। मिट्टी में बीज लगभग 3 साल तक अंकुरणक्षम रहता है।

इसके बीजों के अंकुरण के लिए अनुकूलतम तापमान 18-20 डिग्री सेल्सियस होता है लेकिन इससे कुछ अधिक तापमान पर भी इसका अंकुरण हो सकता है। अंकुरणशील बीजों के लिए पाला हानिकर नहीं है। सामान्यत: बीजों के अंकुरित होने में लगभग 5-10 दिन का समय लगता है।

जलवायु : जर्मन चमेली शीतोष्ण तथा उष्ण कटिबंधीय दोनों प्रकार की जलवायु में अच्छी तरह पनपती है। मध्यम प्रकार की जलवायु में यह अच्छी तरह उगती है और इसकी फसल भी अच्छी होती है। इसके तेल के उत्पादन पर वायु, ताप और मिट्टी की शुष्कता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

मिट्टी : चमोमिला हल्की मिट्टी से लेकर सख्त मटियार मिट्टी तक में उग सकती है। हंगरी में यह मटियार मिट्टी में तथा यूगोस्लाविया में अधिकतर 10 पी.एच. मान तक वाली खारी मिट्टी में भी उगाई जाती है।

भारत में समुद्र तल से 110 मीटर से 300 मीटर की ऊंचाई पर क्रमश: जम्मू और लखनऊ में इसकी खेती के सफल प्रयोग किए गए हैं। राष्ट्रीय वनस्पति उद्यान लखनऊ के बन्थरा स्थित अनुसंधान केन्द्र की लोनी और खारी मिट्टियों में इसे सफलतापूर्वक उगाया है तथा इन प्रयासों के परिणाम दर्शाते हैं कि जर्मन चमेली की खेती के लिए उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश तथा भारत के अन्य क्षेत्रों की जलवायु काफी अनुकूल है।

खेत की तैयारी और बुआई : जर्मन चमेली उगाने से पूर्व मानसून के दौरान खेत में हरी खाद देना लाभदायक रहता है। हरी खाद के सड़ने के तुरन्त बाद 8-10 बार जुताई करने से मिट्टी की बारीक कमाई की जाती है। खेत में पाटा फेरने और भूमि को समतल करने के बाद बीजों को कतारों में 1 से.मी. गहराई पर मिट्टी में बोया जाता है। अक्टूबर माह में जब तापमान लगभग 20-22 डिग्री सेल्सियस होता है, वह समय इसके बीज की बुवाई के लिए अनुकूलतम समय होता है, हालांकि बीज दर एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भिन्न होती है।

नर्सरी तैयार करना : जहां खेत में नमी पर्याप्त नहीं होती, वहां बीजों को नर्सरी में बोया जाना चाहिए और प्रति हेक्टेयर 0.5 कि.ग्रा. बीज सितम्बर के अन्त या अक्टूबर माह के प्रारम्भ में नर्सरी में बोए जाने चाहिएं। छ: सप्ताह के बाद पौध लगाने के लिए तैयार हो जाती है। पौधों की रोपाई कतारों में अनुकूलतम दूरी 30×30 से.मी. पर की जाती है।

खाद डालना : यद्यपि इसके पौधे भिन्न-भिन्न किस्म की मिट्टियों में अच्छी तरह उगते हैं लेकिन उर्वरकों का प्रयोग लाभकर होता है। पौधे नम तथा भारी मिट्टियों में, जिसमें ह्यूमस काफी होता है, अच्छी तरह उगते हैं। प्रयोगों से पता चला है कि नाइट्रोजन द्वारा उर्वर बनायी गयी मिट्टी में भी ये पौधे अच्छी तरह उगते हैं लेकिन फास्फोरस की अधिक मात्रा के प्रति यह संवेदनशील होते हैं। नाइट्रोजन देने से पुष्प शीर्षों की संख्या बढ़ जाती है। संतुलित मात्रा में नाइट्रोजन तथा फास्फोरस देने से पुष्प शीर्षों में वृद्धि होती पायी गयी है और तेल में कैमेजुलीन अंश भी अधिक पाया गया है। लेकिन नाइट्रोजन की अधिक मात्रा देने से कैमेजुलीन अंश में कमी भी हो सकती है। प्रयोगों में यह भी देखा गया है कि उचित मात्रा में मॉलिब्डेनम देने से फूलों के तेल अंश में वृद्धि हो जाती है। अत: यह निष्कर्ष निकाला गया है कि उत्कृष्ट उत्पादन के लिए प्रति हैक्टेयर 10 टन सड़ी हुई गोबर की खाद, 110 किलो यूरिया और 300 किलो सिंगल सुपर फास्फेट डाला जाना चाहिए। फूल निकलने से पूर्व जिब्रेलिक अम्ल का अनुप्रयोग भी उपयोगी पाया गया है।

सिंचाई : जर्मन चमेली के लिए नियमित सिंचाई की आवश्यकता होती है। अगर जाड़ों में वर्षा न हो, तो लोनी एवं खारी मिट्टियों में 4-5 सिंचाईयों की न्यूनतम आवश्यकता होती है। फूल निकलने के दौरान सिंचाई करने से पुष्पकाल अवधि बढ़ जाती है और फूलों की चुनाई करने के लिए अधिक समय मिल जाता है।

फूलने का समय : जर्मन चमेली के पौधे पर 50-65 दिनों तक फूल आते रहते हैं यानी मध्य फरवरी से इसकी फसल फूलने लगती है तथा वह मध्य अप्रैल तक चलती है।

फूलों को तोड़ना : जर्मन चमेली के फूलों को तोड़ना कठिन कार्य है। इसमें समय अधिक लगता है तथा खर्चा भी अधिक होता है। जर्मनी में इसके फूलों की तोड़ाई एक विशेष प्रकार की यांत्रिक युक्तियों द्वारा की जाती है। यद्यपि

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भारत में फूलों को हाथ से तोड़ने में खर्चा तो बहुत कम पड़ता है, लेकिन अगर व्यापारिक स्तर पर इसकी खेती की जाए, तो यांत्रिक युक्तियों जैसे फ्लावर स्कूप या स्ट्रिप्पर का उपयोग किया जा सकता है।

फूलों को सुखाना : फूलों की तुड़ाई के बाद नीले तेल की प्राप्ति से पहले इन फूलों को उचित रूप से सुखाना और उनका भण्डारण अत्यधिक महत्वपूर्ण है। फूलों को सुखाने के लिए जब फर्श पर फैलाया जाए तो उन्हें कई बार हल्के से पलटते रहना चाहिए ताकि कोमल फूलों को क्षति न पहुंचे और वे अच्छी तरह से सूख जाएं।

उत्पादन : भारतीय स्थितियों में, ताजे फूल का सामान्य मिट्टियों में उत्पादन लगभग 4,000 से 7,000 कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर होता है। 100 कि.ग्रा. ताजे फूल सुखाने पर वे लगभग 30-35 कि.ग्रा. रह जाते हैं। इस प्रकार प्रति हैक्टेयर लगभग 1500 से 2000 कि.ग्रा. तक सूखे फूल प्राप्त होते हैं।

हवा में सुखाये गये फूलों से भाप आसवन (Steam Distillation) द्वारा एक गहरा नीला तेल तैयार होता है। नीले रंग से ''कैमेजुलीन'' की उपस्थिति का पता चलता है। इसके अतिरिक्त इस तेल में पेरिल अल्कोहल, ट्राइकोनलोन और कैंडेलीन टर्शरी अल्कोहल भी मौजूद होते हैं।

भारत में हुये प्रयोग दर्शाते हैं कि यहां की परिस्थितियों में केमोमील के सूखे फूलों से औसतन 0.5 से 1.3 प्रतिशत तक सगंध तेल पाया जाता है।

भण्डारण : सूखे हुए फूलों को वायुरोधी पात्रों (airtight containers) में ही भण्डारित किया जाना आवश्यक होता है।

बीजों का संग्रह : अगली फसल के लिए बीजों के संचयन हेतु फसल के कुछ भाग को खेत में ही छोड़ देना चाहिए। जब फूल परिपक्व हो जाएं और पंखुड़ियां मुरझाने लगें तो उस समय बीजों के लिए उनका संचय कर लेना चाहिए।

जर्मन चमेली की खेती का बाजार तथा इसकी लाभप्रदता : भारत में जर्मन चमेली के सूखे फूल जर्मन रेमेडीज़ व अन्य अनेकों कम्पनियां लेती हैं। वर्तमान में इसके सूखे फूलों की कीमत लगभग 50-60 रु. प्रति किलोग्राम है।

जर्मन चमेली
(मेट्रीकेरिया चमोमिला)

उपयोग : प्रसाधन सामग्री, सुगंधियां तैयार करने में, बालों को सुगंधित और चमकीला बनाने में, क्रीम तथा शैम्पू में, भूख बढ़ाने की औषधि में, पेट के विकारों में, ताकत बढ़ाने तथा सर्दी-जुकाम की औषधियों के निर्माण में, बालों की डाई बनाने में, शराब कारखानों में.

उपभोज्य भाग : फूल तथा फूलों से निकाला जा सकने वाला ब्लू आइल.

खेती की विधि : सीधे बीजों द्वारा अथवा नर्सरी में उगाकर.

भारत में इसकी खेती हेतु उपयुक्त क्षेत्र : सम्पूर्ण भारतवर्ष-उत्तरप्रदेश तथा मध्यप्रदेश विशेष रूप से.

फसल की अवधि : 8 माह (सितम्बर से अप्रैल तक).

उत्पादन प्रति हेक्टेयर : 1,500 कि.ग्रा. सूखे फूल (दर 50-60 रु. प्रति कि.ग्रा.).

लाभप्रदता : लगभग 40,000 रु. प्रति हैक्टेयर (शुद्ध लाभ).

रक्षम हर्बल्स

आयुर्वेदिक वनौषधियों तथा विभिन्न सुगंधीय पौधों के बीज़/प्लांटिंग मेटेरियल के थोक विक्रेता। हमारे यहाँ बायबिडंग, बच, आंवला, हरड़, बहेड़ा, हरड़ छाल, बहेड़ा छाल, पिपली, पिपलामूल, सर्पगंधा, कौंचबीज, अश्वगंधा, नागरमोथा, ग्वारपाठा, धतूराबीज, शिवलिंगी, गिलोयसत्व, शिकाकाई, रीठा, अडुसा पचाग, सफेद मूसली, सोनामुखी, अर्जुन छाल, चंदन पावडर, बहेड़ा पावडर, हरड़ पावडर, आँवला पावडर, चंदन का तेल, आरेंज ऑईल उपलब्ध है।

रक्षम हर्बल्स, 492, नेहरू नगर, नंदनवन रोड, नागपुर - 440009, फोन.: (0712) 743348.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

10. ग्लेडियोलस के फूलों की खेती

भारत के कट फ्लावर व्यवसाय में ग्लेडियोलस की सर्वाधिक मांग है। आज ग्लेडियोलस की सैकडों नवीनतम प्रजातियां विकसित की जा चुकी हैं तथा इस दिशा में निरंतर शोध चल रहे हैं। ग्लेडियोलस ट्रायडेसी (Tridaceae) परिवार का पौधा है। भारत में इसकी व्यवसायिक खेती उत्तरप्रदेश के मैदानी-पहाड़ी इलाकों, हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, महाराष्ट्र तथा पश्चिम बंगाल में की जाती है। मध्यप्रदेश की जलवायु भी इसकी खेती के लिए काफी उपयुक्त है।

ग्लेडियोलस की खेती के लिए उपयुक्त भूमि : इसकी खेती के लिए बलुई दोमट मिट्टी अच्छी रहती है। यह चिकनी मिट्टी, जिसमें पानी ठहरता हो, के अतिरिक्त अन्य समस्त प्रकार की भूमियों में सुगमता से हो जाता है। इसकी सफल खेती के लिए भूमि का पी.एच मान 6 से 7.5 के मध्य होना चाहिये।

बिजाई का समय : ग्लेडियोलस को मैदानी इलाकों में लगाने का उपयुक्त समय सितम्बर से लेकर दिसम्बर तक का होता है।

खेत की तैयारी : ग्लेडियोलस की खेती के लिए खेत तैयार करते समय जुताई से पूर्व दो ट्राली गोबर की अच्छी तैयार खाद तथा 150 किलोग्राम नीम व हड्डी की खाद डालनी चाहिए। फिर खेत की जुताई करके पाटा लगाकर खेत एकसार कर लेना चाहिए। जुताई करते समय "फ्यूराडॉन" खेत में डालने से मिट्टी जनित कीटों से फसल का बचाव होता है। खेत तैयार करके उसमें क्यारियां बना लेनी चाहिएं। इन क्यारियों में एन पी के खाद का मिश्रण 15:15:15 की दर से डाला जाना चाहिये।

ग्लेडियोलस का प्लांटिंग मेटेरियल : ग्लोडियोलस की बिजाई इसके कंदों से की जाती है। प्लांटिंग मेटेरियल के रूप में 1 इंच व्यास से लेकर 2.5 इंच व्यास के कंद (बल्ब) जोकि प्याजनुमा होते हैं, उपयुक्त रहते हैं। एक इंच से छोटे व्यास के कंदों से अच्छी स्पाइक नहीं मिल पाती है।

ग्लेडियोलस की बुवाई की विधि : ग्लेडियोलस को तीन तरह से लगाया जा सकता है-

1. समतल क्यारियों में
2. आलू के समान मेड़ बनाकर
3. एक मीटर चौडी व 1.5 फीट ऊँची बेड बनाकर

मैदानी इलाकों में आलू के खेत के समान मेड़ बनाकर कंद लगाने से अच्छे परिणाम प्राप्त होते हैं। मेड से मेड की दूरी 18 इंच रखी जाती है। एक एकड़ में 60.000 से 70.000 कंद लगते हैं। कंदों को लगाने से पहले इन्हें 100 लीटर पानी में 200 ग्राम बावस्टीन या कैप्टान के घोल में 15 मिनट तक डुबो कर रखना चाहिए। इसके बाद इसके कंदों को 5 से 6 इंच की दूरी पर दोहरी लाईन में सीधा रखा

ग्लैडियोलस के फूलयुक्त पौधे

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जाता है। कंदों के ऊपर फावड़े से 3 इंच ऊँची मिट्टी चढ़ा देनी चाहिए।

सिंचाई कंदों के पूर्णतया अंकुरित हो जाने पर पहली सिंचाई की जानी चाहिए। कंद करीब 10 से 15 दिन में अंकुरित हो जाते हैं। यदि कंदों के अंकुरित होने से पूर्व भूमि शुष्क होने लगे तो एक हल्का पानी लगाया जा सकता है। इसके बाद मौसम व भूमि के दशा को देखते हुए 15-15 दिन के अंतराल में पानी देते रहना चाहिए। पानी देते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि मेड़ पानी में डूबे नहीं।

पुष्पन ग्लेडियोलस के पुष्प एक लंबी डंडी (स्पाइक) पर पंक्ति में आते हैं जोकि प्रजातियों के अनुसार 6 से 20 तक हो सकते हैं। जिस स्पाइक में जितने अधिक पुष्प होते हैं वह उतनी ही अच्छी मानी जाती है। ग्लेडियोलस में प्रजातियों के अनुसार कंद लगाने के 70 दिन से 90 दिन के बाद स्पाइक आने प्रारंभ हो जाते हैं। स्पाइक की दो तीन कलियों में रंग दिखने पर स्पाइक को काट लेना चाहिए। कटी हुई स्पाइक को साइज़ के अनुसार दर्जन के हिसाब से कागज़ में पैक करना चाहिए।

कंदों की खुदाई व भण्डारण : फूल कट जाने के 45 दिन के पश्चात कंदों को खोद कर निकाल लिया जाना चाहिए। खुदाई के दो सप्ताह पूर्व सिंचाई बंद कर देनी चाहिए। खुदे हुए कंदों को 2 प्रतिशत बावस्टीन के घोल में 15 मिनट तक डुबोकर दो सप्ताह तक छायादार व हवादार कमरों में फैलाकर रखा जाना चाहिए। उसके पश्चात रंग/वैरायटियों के हिसाब से इन्हें छोटे बोरों में पैक करके अगले सीज़न के लिए कोल्ड स्टोर में रख दिया जाना चाहिए।

ग्लेडियोलस के रोग व उनसे बचाव : ग्लेडियोलस की फसल में कालर रॉट, राइजोक्टोनिया, सोलनी आदि रोग लगते हैं जिनको कैप्टान, बावस्टीन तथा एम-45 के नियमित छिड़काव से रोका जा सकता है।

ग्लेडियोलस की फसल से प्राप्तियां : बिजाई हेतु प्रयुक्त किए जाने वाले ग्लेडियोलस के कंदों का मूल्य साइज व वैरायटी के अनुसार 1.50 से 2.50 रुपये प्रति कंद तक होता है। यदि एक एकड़ में 60.000 कंद लगाये जायें तो इससे निम्नानुसार प्राप्तियां होंगी -

कुल लागत प्रति एकड़

1	60.000 कन्द (2/- रुपये प्रति कंद की दर से)	=	1.20.000
2	मजदूरी (कंद लगाना, निराई, कटाई आदि)	=	6.000
3	दवाइया	=	2.000
4	अन्य खर्च	=	3.000
	कुल लागत	=	1,31,000

ख. कुल प्राप्तियां

यदि 95 प्रतिशत उत्पादन भी प्राप्त हो तो कुल 57.000 स्पाइक्स प्राप्त होंगे जो कि औसतन 40 रुपये दर्जन के हिसाब से बिक्रित होंगे, अत: प्राप्तियां = 1.90.000

(ग) प्रथम वर्ष का लाभ = 59.000

अगले वर्ष से केवल कंद लगाने, निराई, निंदाई, दवाओं तथा सिंचाई आदि पर ही लागत आएगी। अत अगले वर्ष की प्राप्तियां निम्नानुसार होंगी -

- फसल पैदा करने में लागत = 15.000
- बिक्री से प्राप्तियां = 1.90.000

(घ) द्वितीय वर्ष से कुल लाभ = 1.75.000

इस प्रकार इस मात्र 5-6 माह की फसल से किसानों को 1.75.000 रुपये का लाभ प्राप्त हो सकता है। प्रथम वर्ष कंदों की लागत कम करने के लिए बड़े कंदों के स्थान पर छोटे घन कंदों (कार्मलेटस) को भी बोया जा सकता है जो कि प्रथम वर्ष में केवल पुष्प देने योग्य ही कंद बन पायेंगे। परन्तु ये बड़े कंदों की अपेक्षा काफी सस्ते पड़ते हैं। ये घनकंद 150 रुपये से 250 रुपये प्रति किलोग्राम तक (प्रजाति के अनुसार) मिलते हैं।

ग्लेडियोलस की खेती के अन्य पहलू

1 ग्लेडियोलस की खेती ऐसे क्षेत्रों के लिए अधिक उपयोगी है जो कि बस द्वारा, रेल्वे द्वारा व हवाई मार्ग द्वारा बड़े शहरों जैसे दिल्ली, चंडीगढ़, भोपाल, लखनऊ, जबलपुर, जयपुर, आगरा, पूना, मुम्बई, कलकत्ता आदि शहरों से संपर्क में हैं। इसके अतिरिक्त अन्य मध्यम व छोटे शहरों में भी इसका अच्छा भविष्य है।

2 ग्लेडियोलस की तैयार स्पाइकों को उचित रूप से पैकिंग करके ही मार्केट में भेजना चाहिए। तभी अच्छा मूल्य प्राप्त होता है।

ग्लेडियोलस के कंदों का प्राप्ति स्थल यह निर्विवाद तथ्य है कि फसल की गुणवत्ता बोये गये बीजों की गुणवत्ता पर निर्भर करती है। यही तथ्य ग्लेडियोलस पर भी लागू होता है। ग्लेडियोलस के बारे में अधिक जानकारी व कंदों की प्राप्ति हेतु - **कंसल एग्रो टेक प्रा. लि., कंसल भवन, डिप्टी गंज, बुलंदशहर (उत्तरप्रदेश)** 203001. **फोन**:(05732) 50426, 50528 (**कार्यालय**) 50504 (**निवास**) से संपर्क किया जा सकता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

11. तुलसी—कृषि तकनीक एवं औषधीय उपयोग

तुलसी का पौधा औषधीय गुणों से परिपूर्ण होने के साथ-साथ सुगन्धित तेल का भी एक महत्वपूर्ण स्त्रोत है। तुलसी का वानस्पतिक नाम ''ओसिमम बेसिलिकम'' है। इसे स्वीट बेसिल, फ्रेंच बेसिल या इंडियन बेसिल आदि नामों से भी जाना जाता है। इनके अतिरिक्त तुलसी की कई अन्य प्रजातियाँ भी पायी जाती हैं जिन्हें निम्न नामों से जाना जाता है—

1. ओ. अमेरिकेनम (काली तुलसी)
2. ओ. ग्रेटिसिमम (वन तुलसी या राम तुलसी)
3. ओ. किलीमेन्चेरिकम (कपूर तुलसी)
4. ओ. सेन्कटम(घरेलू या पूजा-वाली तुलसी)
5. ओ. वाइरिडी (जंगली तुलसी)

उपरोक्त प्रजातियों में से केवल प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ प्रजातियां ही उगायी जा रही हैं एवं यही कृषकों में ज्यादा लोकप्रिय हैं। तुलसी के पौधे को आकार एवं लक्षणों के आधार पर 'लैबिएटी'' कुल में रखा गया है। प्राचीन काल से ही तुलसी के पौधों के उपयोग के प्रमाण मिश्र, यूनान एवं रोमन अभिलेखों में मिलते हैं। तुलसी में उपस्थित रासायनिक तत्वों के आधार पर तुलसी को रियुनियन, मिथाइल सिन्नेमेट, यूजीनॉल एवं यूरोपियन स्वीट बेसिल आदि प्रभागों में बांटा गया है। प्रत्येक तुलसी में पाये जाने वाले अवयव एवं रासायनिक तत्व अलग-अलग प्रकृति के होते हैं इसलिए उनका उपयोग भी भिन्न-भिन्न उत्पादों के निर्माण हेतु किया जाता है। तुलसी की विभिन्न प्रजातियों से प्राप्त तेल एवं अवयव सुगन्ध बनाने, सर्दी की औषधियों के निर्माण, खांसी एवं कफ की दवा बनाने, कन्फैक्शनरी उद्योग एवं टूथ-पेस्ट आदि के निर्माण में किया जाता है।

तुलसी का उत्पादन अकेले भारत में ही नहीं बल्कि विश्व के कई अन्य देशों में भी किया जा रहा है जिनमें मुख्य रूप से थाईलैंड, हैती, ग्वाटेमाला, एवं कुछ अफ्रीकी देश प्रमुख हैं। तुलसी की एक अन्य प्रजाति जिसे ओ. ग्रेटिसिमम कहते हैं का उत्पादन यूक्रेन में किया जा रहा है। इस प्रजाति में 80 से 85% तक यूजीनॉल पाया जाता है जोकि परफ्यूमरी उद्योग का एक मुख्य अवयव है।

तुलसी (ओसिमम बेसिलिकम) का भरा पूरा खेत

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तुलसी की प्रजातियां एवं अवयव

तुलसी की विभिन्न प्रजातियों में निम्नलिखित अवयव पाये जाते हैं—

1. ओ.बेसिलिकम—मिथाइल चेविकोल
2. ओ. केनम—मिथाइल सिन्नेमेट, यूजीनॉल.
3. ओ. ग्रेटिसिमम—यूजीनॉल.

तुलसी के तेल के प्रमुख उपयोग

तुलसी का तेल विभिन्न प्रकार की औषधियां बनाने में प्रयुक्त किया जाता है जैसे-कफ सीरप, सर्दी की औषधियां, खांसी की गोलियां, अन्य फार्मास्यूटिकल औषधियां आदि। इसके अलावा तुलसी का तेल सौन्दर्य प्रसाधनों एवं आयुर्वेदिक दवाओं में भी बहुतायत से प्रयोग किया जा रहा है। तुलसी के तेल से प्राप्त अवयवों से डेन्टल क्रीम, माऊथवाश एवं टूथ पेस्ट आदि का भी निर्माण किया जाता है। तुलसी के तेल को खाद्य पदार्थों को सुवासित करने में भी प्रयुक्त किया जाता है।

तुलसी की खेती की विधि

उपयुक्त मृदा एवं जलवायु

तुलसी का पौधा विभिन्न प्रकार की मृदाओं एवं जलवायु वाली दशाओं में आसानी से उगाया जा सकता है। पहाड़ों एवं ऊबड़-खाबड़ मृदाओं में भी तुलसी का पौधा जंगली रूप से उगता हुआ देखा जा सकता है। तुलसी की खेती करने के लिए दोमट एवं बलुई दोमट मृदाएं जिनका पी.एच. रेन्ज 5.0-8.5 तक हो, एवं जिनकी जलधारण क्षमता अच्छी हो, उपयुक्त समझी जाती हैं। उपोष्ण (Sub-Tropical) जलवायु वाले क्षेत्रों में तुलसी जाड़े की फसल के रूप में उगायी जा सकती है। उत्तरी भारत के मैदानी भागों में तुलसी को ग्रीष्म ऋतु की फसल के रूप में उगाया जाता है। ऐसे क्षेत्र जहां पर पाला, ओला या बर्फ पड़ने की सम्भावनाएं हों, वहां तुलसी को सफलतापूर्वक नहीं उगाया जा सकता। तुलसी की संतोषजनक वृद्धि के लिए मध्यम तापक्रम (14^0 से 30^0 सें.ग्रे. तक) अधिक उपयुक्त रहता है। वर्तमान में तुलसी की खेती उत्तरप्रदेश के मुख्यतया रामपुर, चन्दौसी, बदायूँ, कन्नौज, लखनऊ, एटा, मैनपुरी एवं बाराबंकी क्षेत्रों में की जा रही है। मध्यप्रदेश में भी इसकी खेती प्रारंभ हो चुकी है।

प्रसारण एवं बुवाई

तुलसी का प्रसारण एवं बुवाई बीज द्वारा की जाती है। बीज को सर्वप्रथम पौधशाला में बोकर पौध तैयार कर ली जाती है। भारत के मैदानी भागों में अप्रैल-मई के महीनों में बीज को तैयार क्यारियों में बोकर पौधशाला तैयार की जाती है। वैसे जाड़े के तीन महीनों-नवम्बर, दिसम्बर एवं जनवरी को छोड़कर तुलसी को वर्षभर उगाया जा सकता है। बीज को बोने से पूर्व आठ से दस गुना मिट्टी में मिलाकर समतल क्यारियों में अच्छी प्रकार फैला दिया जाता है। एक हैक्टेयर क्षेत्रफल के लिए 600-800 ग्रा. बीज पर्याप्त रहता है। बीज को क्यारियों में फैलाने के बाद झाड़ू या हाथ की सहायता से मिट्टी में मिला दिया जाता है और क्यारियों की हल्की सिंचाई कर दी जाती है। बीज बुवाई के लगभग 30 दिन बाद तुलसी के पौधे मुख्य खेत में रोपाई के योग्य हो जाते हैं। पौधशाला की शीघ्र बढ़वार के लिए नाइट्रोजन खाद का प्रयोग किया जा सकता है।

रोपाई

जब पौधों की ऊंचाई 15-20 से.मी. हो जाये तो पौधों को पहले से तैयार खेत में 60×40 से.मी. की दूरी पर रोप दिया जाता है। पौधों की बुवाई से पूर्व खेत की तैयारी करते समय खेत में 30 कि.ग्रा. नाइट्रोजन, 40 कि.ग्रा. फॉस्फोरस एवं 30 कि.ग्रा. पोटाश की मात्राएं अच्छी प्रकार मिला देनी चाहिएं। फसल की रोपाई के 45 दिन बाद एक निराई के बाद खड़ी फसल में 20 कि.ग्रा. नाइट्रोजन का प्रयोग करना लाभदायक सिद्ध हुआ है। पौध की रोपाई के तुरन्त बाद खेत को पानी दे देना चाहिए ताकि पौधों को पर्याप्त नमी मिल सके।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

खरपतवार नियंत्रण

तुलसी की फसल घनी पत्तियों से युक्त होने के साथ-साथ तीव्र गति से वृद्धि करने वाली फसल है इसलिए तुलसी में खरपतवारों का कोई विशेष प्रकोप नहीं होने पाता। फसल को खरपतवारों से रहित करने के लिए आवश्यक है कि फसल की प्रारंभिक अवस्था में हाथ की खुर्पी से एक निराई लगा दी जाये। एक निराई के पश्चात् फसल तीव्र वृद्धि करके मृदा सतह को ढक लेती है एवं खरपतवारों को बढ़ने का मौका नहीं देती।

सिंचाई

फसल की रोपाई के तुरन्त बाद सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है। यदि तुलसी की फसल की रोपाई वर्षा ऋतु में की जा रही हो तो सिंचाई की आवश्यकता नहीं पड़ती। भारत के मैदानी भागों में तुलसी की बुवाई मुख्य रूप से जुलाई-अगस्त में की जाती है। इस समय बोई गई फसल को सिंचाई की आवश्यकता नहीं पड़ती। क्योंकि तुलसी का जीवन काल मात्र 65-70 दिन का होता है इसलिए इसे केवल दो या तीन सिंचाईयों की ही आवश्यकता पड़ती है।

कीट पतंगे एवं बीमारियां

तुलसी की फसल बहुत कठोर प्रकृति की फसल है इसलिए इस पर कीट-पतंगे एवं बीमारियों का प्रकोप कम होता है। वर्षा ऋतु में कभी-कभी निम्न बीमारियों एवं कीट-पतंगों का प्रकोप तुलसी पर हो सकता है जिनके लक्षण तथा नियंत्रण की विधि निम्नानुसार है—

(1) **बीमारी का नाम**—लीफ स्पॉट, **रोगकारक**—कोरिनेस्पोरा केसीकोला। **लक्षण**—पत्तियों एवं तनों पर भूरे एवं काले धब्बे हो जाते हैं तथा पत्तियां सूखकर गिरने लगती हैं। **नियंत्रण**—डाइथेन जेड़-78, डाइथेन एम-45 के 0.02% घोल का छिड़काव 15-15 दिन के अन्तराल पर.

(2) **बीमारी का नाम**—लीफ ब्लाइट, **रोगकारक**—आल्टरनेरिया स्प.। **लक्षण**—पत्तियों पर चक्रीय भूरे धब्बे एवं पत्तियां जलने लगती हैं। **नियंत्रण**— डाइथेन जेड़-78, डाइथेन एम-45 के 0.02% घोल का छिड़काव 15-15 दिन के अन्तराल पर.

फसल की कटाई

तुलसी की फसल पकने के लिए मात्र 65-70 दिन का समय लेती है। जब खेत में लगभग 80% से अधिक पौधों पर बल्लरी आ जाये एवं बल्लरी का रंग हरा न रहकर सुनहरेपन की तरफ जाने लगे तो तुलसी को कटाई के योग्य समझ लेना चाहिए। तुलसी को कभी भी दूधिया अवस्था (Milky Stage) पर नहीं काटना चाहिए अन्यथा तेल की उपज कम हो जायेगी। **सामान्यतः तुलसी की फसल एक बोनस फसल के रूप में ली जाती है। ऐसे क्षेत्र जहां पर तुलसी के स्थान पर कोई अन्य महत्वपूर्ण फसल ली जा सकती हो, वहां तुलसी की खेती उपयुक्त नहीं मानी जाती।** जब दो मुख्य फसलों के मध्य दो-ढाई महीने का समय हो और खेत खाली हो तो कृषक तुलसी की फसल उगाकर अतिरिक्त आय अर्जित कर सकता है। फसल की कटाई के समय सम्पूर्ण पौधे को तेज हंसिए से काट लिया जाता है और आसवन के लिए भेज दिया जाता है।

फसल की पेड़ी या रैटूनिंग

तुलसी का पौधा बुवाई से लेकर पकने तक 65-70 दिन का समय लेता है। किन्तु ऐसे क्षेत्र जहां पर अन्य कोई महत्वपूर्ण फसल न ली जा रही हो, तुलसी के पौधे से रैटूनिंग करके एक से अधिक कटाईयां प्राप्त की जा सकती हैं। प्रथम कटाई में पौधों की बल्लरी को ऊपर से काट लिया जाता है और शेष पौधे को छोड़ दिया जाता है। यही छूटा हुआ हिस्सा नई शाखाएं निकालकर नये पौधे का रूप ले लेता है। इस प्रकार वर्ष भर में तुलसी के पौधों को 4-5 बार काटा जा सकता है। यह प्रक्रिया खासतौर से पहाड़ी राज्यों जैसे आसाम आदि में प्रचलित है।

आसवन

कटाई के बाद इसका तेल निकालने हेतु तुलसी की फसल को आसवन इकाई पर ले जाया जाता है। क्योंकि तुलसी का तेल अपेक्षाकृत सस्ता तेल है, अतः इसके आसवन के लिए बहुधा जलवाष्प आसवन विधि का प्रयोग कृषकों द्वारा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

किया जाता है।आसवन की इस इकाई को चलाने के लिए अतिरिक्त ईंधन की आवश्यकता नहीं पड़ती। आसवन करने से पूर्व कटी हुई फसल को खेत में 6-8 घंटे के लिए खुला छोड़ दिया जाता है। ऐसा करने से पत्तियों में उपस्थित अतिरिक्त नमी समाप्त हो जाती है। सम्पूर्ण पौधे का आसवन करने पर 0.25% तक तेल की उपज प्राप्त होती है जबकि पौधे के पुष्पक्रम (बल्लरी) के आसवन से 0.4% तक तेल की उपज प्राप्त की जा सकती है।

तुलसी की खेती से अनुमानित आय

तुलसी के एक एकड़ क्षेत्र से एक कटाई में 20-25 कि.ग्रा. तक तेल प्राप्त किया जा सकता है जोकि औसतन 225-250/- रु. प्रति. कि.ग्रा. की दर से बिकता है। तुलसी की खेती करने पर प्रति एकड़ लगभग 1,000 रु. तक की लागत आती है। इस प्रकार इसकी एक एकड़ क्षेत्र में खेती करने से लगभग 4-5000 रु. तक की शुद्ध आय ढाई महीनों में प्राप्त की जा सकती है।

क्षेत्रीय अनुसंधान प्रयोगशाला जम्मू द्वारा खेती करने के उद्देश्य से तुलसी की कई उत्कृष्ट किस्में तैयार की गई हैं जिनमें आर.आर.एल.ओ.सी.-11, प्रमुख है।

तुलसी के औषधीय गुण

भारतीय समाज में तुलसी के पौधे का धार्मिक महत्व तो है ही, इसका वैज्ञानिक महत्व भी कम नहीं है. इसके पत्ते, मंज्जर तथा टहनी विभिन्न प्रकार की बीमारियों में औषधि के रूप में काम आती हैं. अनुसंधानों से ज्ञात हुआ है कि तुलसी के पत्तों से ''ओसोण'' निकलता है, जो वायुशोधक का काम करता है. यही वजह है कि सदियों से हमारे पूर्वज धार्मिक पौधे के रूप में तथा विभिन्न किंवदंतियों में तुलसी की महत्ता के गुण-गान करते रहे और देवता के रूप में अपने आंगन में या मन्दिरों के आसपास इसे स्थापित करके इसे पूजते रहे हैं. एक समय था जब लोग एक ऐसे हिन्दू घर की कल्पना भी नहीं कर सकते थे जहां तुलसी का एक भी पौधा न हो। तुलसी के महत्व को समझकर लड़कियों को यह नाम भी दिया जाता था. इसके अतिरिक्त तुलसी का वैज्ञानिक महत्व तथा कीटनाशक होने के कारण देवताओं के पूजन शुद्धि के लिए नैवेद्य में तुलसी पत्र डाला जाता है. तुलसी के पत्ते के अलावा इसके मज्जर तथा जड़ का उपयोग भी विभिन्न दवाओं के रूप में किया जाता है.

धार्मिक अनुष्ठानों में भी तुलसी की कण्ठी माला पहनी जाती है. इस प्राचीन परम्परा के पीछे भी यही कारण है कि इसे पहनने से अनेक रोगाणुओं से शरीर की रक्षा होती है. इस तरह हमारी जिन्दगी से तुलसी बहुत ही नज़दीक से जुड़ी हुई है. प्राय: इसका उपयोग निम्नलिखित विकारों को दूर करने में उपयोगी पाया गया है—

- तुलसी का नियमित सेवन करने से मुंह से आने वाली दुर्गन्ध समाप्त हो जाती है.
- तुलसी का काढ़ा पीने से सर्दी, जुकाम, सिर दर्द, बुखार आदि तकलीफों से आराम मिलता है.
- इस पौधे की जड़ पीसकर द्रव रूप में लगाने से बिच्छू, मकड़ी, सांप आदि के जहर के लिए औषधि बनाई जाती है.
- तुलसी के पांच पत्ते और दो काली मिर्च मिलाकर खाने से वात रोग का नाश होता है.
- तुलसी की पत्तियों के रस को शहद के साथ मिलाकर चाटने से चक्कर आना बन्द हो जाते हैं.
- प्रात:काल खाली पेट में तुलसी के पत्ते चबाकर खाने से पाचन शक्ति तेज होती है.
- आंखों और कानों की वेदना दूर करने में तुलसी के पत्तों का रस अच्छी औषधि मानी जाती है.
- तुलसी के पत्ते को घी में लौंग के साथ भून कर खाने से सुरसुरी में आराम मिलता है.
- तुलसी के पत्ते का रस और नारियल के तेल के साथ तैयार किये गये तेल को लगाने से सिर दर्द, जुकाम आदि दूर किया जा सकता है.
- पीने के पानी में अथवा चाय के पानी में लगातार नियमित रूप से कुछ पत्तियां डालकर सेवन करने से शरीर की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है.
- तुलसी का पत्ता तथा पान का पत्ता दोनों का रस निकालकर बराबर मात्रा में मिलाकर बच्चों के पेट फूलने की शिकायत होने पर 10-10 बूंदे दिन में 3-4 बार देने से लाभ होता है.
- तुलसी की पत्तियों और अदरक को पीस कर उनका रस निकाल कर एक चम्मच दो-दो घंटे पर सेवन करने से पेट दर्द ठीक हो जाता है.
- तुलसी की पत्तियां काली मिर्च के साथ पीसकर सूँघने से सिरदर्द में आराम मिलता है.
- तुलसी के पत्ते का रस एक-एक चम्मच सुबह-शाम पीने से चाहे जैसा मलेरिया हो समाप्त हो जाता है.
- तुलसी के सात पत्ते, नागरबेल का एक पत्ता और काली मिर्च के तीन दाने प्रतिदिन चबायें. इस प्रयोग को आठ-दस दिन तक करने से बार-होने वाले बार टांसिल्स, खांसी और सर्दी में लाभ होता है.
- खांसी, दमा, इओसिनोफिल आदि में तुलसी के दस पत्ते, एक चम्मच वायविडंग का काढ़ा बनाकर पीने से लाभ होता है.
- बवासीर में तुलसी के बीज 10 से 20 ग्राम कूटकर रात को मिट्टी के बर्तन में छह गुने पानी में भिगोयें. सुबह उसमें जीरा और शक्कर मिलाकर उस पानी को पीने से खून गिरना बंद हो जाता है. दही के साथ तुलसी के बीज का चूर्ण लेने से भी मल के साथ जाता रक्त बंद हो जाता है.
- तुलसी के पत्ते चबाकर ऊपर से पानी पीने से कैंसर में लाभ होता है.
- **तुलसी के पत्तों के सेवन से रक्तचाप सामान्य होता है.**

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

12. आसवन की विभिन्न विधियां तथा सही आसवन संयंत्र की विशेषताएं

(Various Distillation Techniques and the characteristics of an accurate Distillation Plant)

किसी भी वाष्पशील वस्तु को अवाष्पशील वस्तु से अलग करने की विधि को आसवन विधि कहते हैं। विभिन्न औषधीय एवं सगंधीय फूल-पौधों से सुगंधीय तेल के उत्पादन के लिए आसवन विधि का प्रयोग किया जाता है। यूं तो आसवन की अनेकों विधियां (Distillation processes) होती हैं, लेकिन औषधीय एवं सगंधीय फूल-पौधों, जैसे मेन्था, लेमनग्रास, जावासिट्रोनेला, गुलाब, खस, पामारोजा, जामारोजा, जिरेनियम, यूकिलिप्टस आदि से सुगंधित तेल उत्पादन हेतु आसवन की तीन प्रमुख विधियां अपनाई जाती हैं-जल आसवन विधि (Hydro distillation method), जल -वाष्प आसवन विधि (Hydro-steam distillation method) तथा वाष्प आसवन विधि (Steam distillation method)।

1. जल आसवन विधि (Hydro distillation method)

जल आसवन विधि या भभका विधि (Water or hydro distillation method), सुगंधीय तेल उत्पादन करने की एक प्राचीन विधि है। इस विधि में एक बड़े तांबे के बर्तन में आसवन हेतु पुष्प/पौध सामग्री मय पानी के रख दी जाती है तथा बर्तन के ढक्कन को पूर्णतया बन्द कर दिया जाता है, जिससे वाष्प ऊपर से विसर्जित न हो सके। ढक्कन के ऊपर एक छिद्र होता है जो बाँस के पाईप के माध्यम से अन्य तांबे के सील बंद (कन्डेन्सरनुमा) बर्तन से जुड़ा होता है। यह कन्डेन्सरनुमा बर्तन पानी में रखा होता है, जिसे आसवन के दौरान हिलाते रहने के कारण, तेल एवं पानी का वाष्प रूपी मिश्रण ठन्डा होता रहता है। तेल हल्का होने के कारण इस कन्डेन्सरनुमा तांबे के बर्तन के पानी की ऊपरी सतह पर तैरता रहता है, जिसे आसवन के उपरान्त अलग कर लिया जाता है। वर्तमान में यह विधि मुख्यतः गुलाब, खस, केवड़ा तथा रजनीगंधा से सुगंधीय तेल निकालने के लिए प्रयोग में लाई जाती है। इस विधि की प्रमुख कमियां निम्नानुसार हैं--

- इस पद्धति से आसवन में समय अधिक लगने के कारण ईंधन अधिक लगता है।
- इस विधि द्वारा आसवन करने से कई बार तेलों में जलने की महक आने लगती है, जिससे तेल का बिक्री मूल्य कम हो जाता है।
- आसवन कार्य में समय अधिक लगने के कारण तेल के कुछ घटक नष्ट हो जाते हैं। इससे तेल की गुणवत्ता में कमी आती है जिससे उसका बिक्री मूल्य प्रभावित होता है।

2. जल-वाष्प आसवन विधि (Hydro-steam distillation method)

जल आसवन विधि प्राचीन होने के कारण तथा वाष्प विधि ज्यादा महंगी होने के कारण अपेक्षाकृत कम प्रचलन में हैं। वर्तमान में भारत के 60 प्रतिशत कृषकों द्वारा जल-वाष्प आसवन विधि (Hydro-steam distillation method) ही प्रयोग में लाई जा रही है। इस विधि के अनुसार कार्य करने वाले आसवन संयंत्र को क्षेत्र आसवन संयंत्र (Field distillation unit) भी कहा जाता है। इस विधि पर आधारित आसवन संयंत्र के चार प्रमुख भाग निम्नानुसार होते हैं :—

- आसवन आशोत्र (Distillator)
- संघनित्र (Condenser)
- संग्रहक (Receiver)
- भट्टी (Furnace)

इस विधि में आसवन आशोत्र (डिस्टिलेटर) के अन्दर एक विशेष प्रकार की जाली, तले के कुछ ऊपर बनाई जाती है। जाली के ऊपर कटी हुई फ़सल रखकर डिस्टिलेटर के निचले हिस्से में पानी भर दिया जाता है। डिस्टीलेटर का ऊपरी भाग ढक्कन से पूर्णतया बन्द करके उसके निकास पाईप को कन्डेन्सर से जोड़ दिया जाता है, जिसे ठंडे पानी के परिभ्रमण (Circulation) से ठण्डा रखा जाता है। डिस्टीलेटर को भट्टी के ऊपर रखकर भट्टी में अग्नि प्रज्वलित की जाती है। भट्टी की उष्मा से जल का वाष्पीकरण होता है। वाष्प, डिस्टीलेटर के अन्दर भरी पौध सामग्री में से होकर, अपने साथ वाष्पशील तेल तथा पौधों में उपस्थित

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पानी के मिश्रण को साथ में लेकर संघनित्र (कन्डेन्सर) द्वारा ठन्डी होकर तरल पदार्थ में परिवर्तित हो जाती है, तथा संग्रहक (रिसीवर/सैपरेटर) में एकत्रित होती जाती है। तेल का घनत्व पानी से कम होने के कारण तेल पानी की ऊपरी सतह पर तैरता रहता है, जिसे बाद में अलग कर लिया जाता है।

पौध सामग्री में से आखिरी बूंद तक तेल निकालने के लिए पौध सामग्री में पर्याप्त मात्रा में भाप प्रवाहित करना आवश्यक होता है। साधारणत: आधुनिक आसवन संयंत्रों से आसवन की प्रक्रिया 3 से 4 घंटों में पूर्ण हो जाती है। अधिकतम तेल का उत्पादन प्रथम 45 से 60 मिनिट में होता है। जब संग्रहक (रिसीवर) में प्राप्त हो रहे मिश्रण में तेल की बूंदें दिखाई देना बन्द हो जायें तब आसवन की प्रक्रिया को रोक देना चाहिए। इस विधि से जापानी मिन्ट, पिपरमिन्ट, स्पीयरमिन्ट, बर्गामोट मिन्ट, लेमनग्रास, जावासिट्रोनेला, पामारोजा, जामारोजा, जिरेनियम, युकिलिप्टस आदि फसलों से सुगंधीय तेल प्राप्त किया जा सकता है। यह विधि छोटे पैमाने पर पैदा की जाने वाली सगंध फसलों से तेल निकालने हेतु अत्याधिक उपयुक्त है। इस पद्धति पर निर्मित आसवन संयंत्र सस्ते होते हैं, जिन्हें कोई भी साधारण कृषक लगा सकता है। यही कारण है कि औषधीय एवं सुगंधीय पौधों के क्षेत्र में कार्य कर रही देश की विभिन्न प्रतिष्ठित संस्थाओं द्वारा इसी सिद्धांत पर उन्नत प्रकार की क्षेत्र आसवन इकाईयां स्थापित करने की संतुति की जाती है।

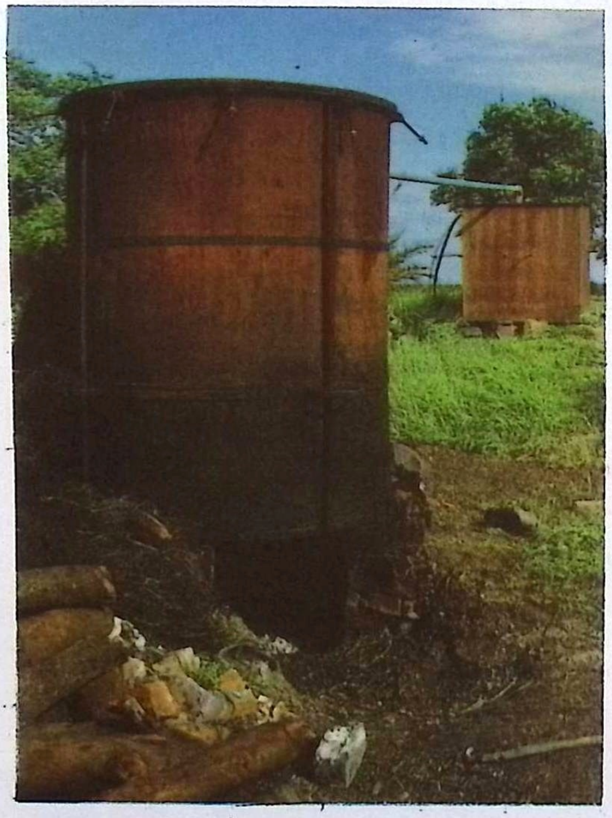

परम्परागत पद्धति पर आधारित सस्ता जल-वाष्प आसवन संयंत्र

3. वाष्प आसवन विधि

यद्यपि वाष्प आसवन विधि (Steam distillation method) का संयंत्र, जल-वाष्प आसवन विधि के संयंत्र के कुछ-कुछ समान ही होता है, लेकिन इस विधि में अलग से बॉयलर (boiler) होता है। इस विधि में सर्वप्रथम बॉयलर में वाष्प (भाप) तैयार की जाती है, तथा बाद में इस वाष्प को पाईप द्वारा डिस्टिलेटर के अन्दर भारी दाब (under high pressure) से प्रवाहित किया जाता है। यह विधि विशेष तौर पर सूखी फसलों व कड़क फसलों जैसे खस, चन्दन के तने, साइपेरस की जड़ों, सूखे फूलों, तथा अन्य औषधीय तथा सुगंधीय पौधों की सूखी एवं हरी फसल से सुगन्धित तेल उत्पादन के लिए उपयुक्त है। सबसे उपयुक्त विधि होने के उपरान्त भी इस विधि का ज्यादा प्रचलन में न होने का कारण है-इसके साथ अलग से बॉयलर होना जिसकी कीमत काफी ज्यादा होने के कारण छोटे स्तर पर खेती करने वाले कृषक इसे खरीदने का सामर्थ्य नहीं रख पाते।

4. भोपाल मॉडल पर आधारित आसवन संयंत्र

उपरोक्तानुसार वर्णित विभिन्न आसवन प्रक्रियाओं की अच्छाइयों को समाहित करते हुए, विभिन्न संस्थाओं द्वारा विकसित आसवन संयंत्रों के डिज़ाइनों में संशोधन करते हुए तथा आसवन एवं बागवानी के क्षेत्रों में व्यवहारिक अनुभवों के आधार पर भोपाल में एक अत्याधुनिक आसवन संयंत्र विकसित किया गया है जिसे ''भोपाल मॉडल'' का नाम दिया गया है। इस संयंत्र में बॉयलर के स्थान पर उचित संरचना वाली भट्टी एवं डिस्टिलेटर, मय बॉयलर के स्थापित किया गया है। इस प्रकार की व्यवस्था होने से कृषक को अलग से बॉयलर खरीदने के लिए अधिक खर्च नहीं करना पड़ता है। इस आसवन संयंत्र से उत्पादित सुगंधीय तेल तथा वाष्प आसवन विधि द्वारा उत्पादित होने वाले सुगंधीय तेल की गुणवत्ता एवं मात्रा में कोई अन्तर नहीं आता है जबकि अन्य आसवन प्रक्रियाओं की अपेक्षा इसमें अनेकों उपयोगी विशेषताएं हैं, जिन्हें निम्नानुसार देखा जा सकता है—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

'भोपाल मॉडल' के आसवन संयंत्र की प्रमुख विशेषताएं

- यह संयंत्र 4 मि.मी. मोटी हल्की फौलाद (Mild Steel) का बना होता हुआ है तथा इसमें एक बैच में एक चौथाई टन (250कि.ग्रा.) से 2 टन तक पत्तियां (हर्ब) आसवित करने की क्षमता होती है।

- यह संयंत्र चलाने में अत्यधिक आसान है तथा कोई अकुशल श्रमिक भी इसे संचालित कर सकता है।

- इस संयंत्र के डिस्टीलेटर (जिसका वज़न लगभग एक क्विंटल होता है) के ढक्कन को खोलने तथा उठाने के लिए ऐसा प्रावधान किया गया है जिससे एक सामान्य क्षमता वाला श्रमिक भी इसे खोलकर तथा उठा कर अलग रख सकता है जबकि परम्परागत तरीके से बनाए गए आसवन संयंत्रों के ढक्कन को खोलने तथा बंद करने के लिए 3-4 मजदूरों की जरुरत पड़ती है।

- एक आसवन संयंत्र का अधिक से अधिक उपयोग करने (इसमें ज्यादा से ज्यादा बैच निकाल सकने) की दृष्टि से यह आवश्यक है कि आसवन प्रक्रिया पूरी हो जाने के उपरान्त जो सामग्री (आसवित हो चुके पत्ते अथवा हर्ब अथवा घास) बचे-उसे शीघ्रता से निकाला जा सके, ताकि एक तो आसवन संयंत्र में पहले के उबले हुए पानी का दोबारा उपयोग हो सके (जिससे 50% तक ईंधन की बचत हो जाए) दूसरे इसमें अगले बैच हेतु हर्ब शीघ्रता से भरी जा सके ताकि इससे ज्यादा से ज्यादा बैच (24 घंटों में 5-6 बैच) निकाले जा सकें। इस प्रकार की व्यवस्था हेतु इस आसवन संयंत्र में चेनपुली का प्रावधान किया गया है जिससे आसवन प्रक्रिया पूरी होने के मात्र दस मिनट के अन्दर ही आसवित की जा चुकी हर्ब बाहर निकाली जा सकती है तथा अगले बैच की हर्ब आसवन संयंत्र में तत्काल डाली जा सकती है। इससे पूर्वतया (पहले के बैच हेतु गर्म हो चुके) गर्म पानी का लाभ भी प्राप्त होता है तथा काफी कम समय में आसवन प्रक्रिया भी पूरी हो जाती है। इस प्रकार इस आसवन संयंत्र से 24 घंटे में घास अथवा पत्तियों के 5-6 बैच आसानी से आसवित किए जा सकते हैं।

परम्परागत आसवन संयंत्रों में यह सुविधा नहीं होती क्योंकि एक बार हर्ब का एक बैच आसवित कर लेने के उपरान्त उनका डिस्टिलेटर दो-तीन घंटों तक ठंडा नहीं हो पाता, जिससे अगले बैच हेतु हर्ब नहीं डाली जा सकती। इससे आसवन संयंत्र के अंदर विद्यमान पूर्वतया गर्म पानी का लाभ नहीं लिया जा सकता तथा क्योंकि

''भोपाल मॉडल'' पर आधारित आधुनिक जल-वाष्प आसवन संयंत्र

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

- संयंत्र के पूर्णतया ठंडा हो जाने के बाद ही हर्ब बाहर निकाली जानी संभव होती है, अत: ऐसे (परंपरागत) संयंत्रों से 24 घंटे में 2 से ज्यादा बैच आसवित नहीं किए जा सकते।
- इस आसवन संयंत्र में भट्टी की संरचना ऐसी की गई है जिससे कम ईंधन में ज्यादा ऊष्मा मिल सकती है। इस मॉडल के साथ लगी भट्टी ऊष्मा अवरोधक भी है। इसके अतिरिक्त इसकी संरचना (काफी कम परिवर्तनों के साथ) ऐसी बनाई गई है कि इसे चलाने हेतु ईंधन के विभिन्न स्रोतों - लकड़ी, कोयला, डीज़ल, केरोसीन, क्रूड आयल अथवा मार्क (आसवित की जा चुकी हर्ब/घास आदि) का उपयोग किए जाने की भी व्यवस्था है।
- इस आसवन संयंत्र में धुएं के निष्कासन हेतु चिमनी की व्यवस्था है जिससे कार्य करने वाले श्रमिकों को धुएं के प्रदूषण की समस्या का सामना नहीं करना पड़ता। इसके अतिरिक्त इसकी चिमनी धुएं को खींचने की क्षमता रखती है जिससे जो अग्नि तेज होती है, वह आसवन प्रक्रिया को तेज करती है। ऐसी कोई भी व्यवस्था आसवन संयंत्रों के परंपरागत माडलों में नहीं पाई जाती। संभवतया यही कारण है कि उनमें एक बैच की हर्ब आसवित करने में 6-7 घंटे का समय लग जाता है।
- इस आसवन संयंत्र के बाहर एक ऊष्मा अवरोधक परत (Insulated layer) की व्यवस्था की गई है जिससे आसवन प्रक्रिया तेज होती है तथा 30 प्रतिशत ईंधन की बचत होती है।
- इस संयंत्र में भट्टी के भीतर हवा प्रवाहित करने हेतु ब्लोअर का प्रावधान है जिससे ऊष्मा निरंतर प्रवाहित होती है तथा आसवन प्रक्रिया तेज होती है। इससे वाष्प का सही प्रवाह बना रहता है जिस पर अंतत: सुगंधीय तेल की मात्रा तथा गुणवत्ता निर्भर करती है।
- इस आसवन संयंत्र के डिस्टीलेटर-सह-बॉयलर की तली में पानी का स्तर नियंत्रित करने के लिए ऑटोमैटिक प्रावधान किए गए हैं जिससे तली का पानी सूखता नहीं है तथा तेल जलता नहीं है (तेल के जलने की महक नहीं आती)। इससे तेल की गुणवत्ता पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता।
- इस आसवन संयंत्र में डिस्टीलेटर की बनावट चौकोर न होकर गोल रखी गई है जिससे इसमें हर्ब/घास अच्छी तरह से दबा-दबा कर भरी जा सकती है तथा डिसीलेटर-सह-बॉयलर के किनारों से वाष्प का रिसाव भी नहीं होता।
- इस आसवन संयंत्र में सर्कुलेशन हेतु कन्डेन्सर में ठंडा पानी निरंतर प्रवाहित करने हेतु उपयुक्त व्यवस्था की गई है जिसमें न तो विद्युत का ज्यादा व्यय होता है तथा न ही किसी प्रकार की परेशानी आती है।
- इस आसवन संयंत्र की संरचना ऐसी बनाई गई है कि यदि उद्यमी/किसान इस संयंत्र को जल आसवन विधि की बजाए अलग बॉयलर से संचालित करना चाहे तो इसमें ऐसा प्रावधान भी किया गया है।

नि:संदेह बाजार में सस्ते आसवन संयंत्र भी उपलब्ध हैं जो मात्र 15-20,000 रू. में भी फैब्रीकेट किए जा सकते हैं, परंतु यदि उनमें होने वाले तेल के वेस्टेज तथा गुणवत्त का आंकलन किया जाए तो ''भोपाल मॉडल'' उनसे कहीं अधिक उपयोगी तथा सुविधाजनक है। नि:संदेह इस पर प्रारंभ में अपेक्षाकृत अधिक लागत आती है परंतु इससे जुड़ी अन्य विभिन्न विशेषताओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आसवन संयंत्रों के उपलब्ध विभिन्न मॉडलों में लंबी रेस का घोड़ा ''भोपाल मॉडल'' ही है। भोपाल मॉडल के अनुसार निर्मित 50 से अधिक आसवन संयंत्र मध्यप्रदेश के साथ-साथ देश के विभिन्न भागों जैसे राजस्थान, आंध्रप्रदेश, महाराष्ट्र आदि में स्थापित हो चुके हैं तथा ये सफलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं। इस मॉडल पर बने आसवन संयंत्रों की प्राप्ति हेतु निम्नलिखित पते पर सम्पर्क किया जा सकता है —

एम.एंड एम. एग्रो एरोमेटिक आयल्स्
75, इब्राहीमपुरा,
तलैया रोड,
भोपाल (म.प्र.)
फोन : (0755) 534204/241204

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

13. सफेद मूसली की कृषि तकनीक

सफेद मूसली को मानव मात्र के लिए प्रकृति द्वारा प्रदत्त अमूल्य उपहार कहा जाए तो शायद अतिश्योक्ति नहीं होगी। अनेक आयुर्वेदिक, एलोपैथिक तथा यूनानी दवाईयों के निर्माण हेतु प्रयुक्त होने वाली इस दिव्य जड़ी-बूटी की विश्व भर में काफी अधिक मांग है जिसमें निरन्तर वृद्धि हो रही है। यूं तो यह औषधीय पौधा प्राकृतिक रूप से हमारे देश के जंगलों में पाया जाता है, परंतु अंधाधुंध तथा अपरिपक्व विदोहन के कारण अब यह पौधा लुप्त होने की कगार पर है तथा यही कारण है कि अब इसकी विधिवत खेती करने की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ है। सौभाग्यवश इसकी खेती करने की दिशा में किए गए प्रयोग न केवल अत्यधिक सफल रहे हैं बल्कि व्यावसायिक रुप से इसकी खेती अविश्वसनीय रुप से लाभकारी भी पाई गई है।

सफेद मूसली एक कंदयुक्त पौधा होता है जिसकी अधिकतम ऊंचाई डेढ़ फीट तक होती है तथा इसकी कंदिल जड़ें (जिन्हें कंद अथवा फिंगर्स कहा जा सकता है) ज़मीन में अधिकतम 10 इंच तक नीचे जाती हैं। भारतवर्ष के विभिन्न भागों में जंगलों में प्राकृतिक रूप में पाया जाने वाला यह पौधा यूं तो क्लोरोफाइटम बोरिविलिएनम (Chlorophytum Borivilianum) के नाम से जाना जाता है परंतु "इंडियन मेटीरिया मेडिका" में इसका नाम क्लोरोफाइटम अरुंडीनेशियम (Chlorophytum Arundinaceum) दर्शाया गया है। गुजराती भाषा में यह पौधा धोली मूसली के नाम से, उत्तरप्रदेश में खेरूवा के नाम से, मराठी में सुफ़ेद अथवा सुफेता मूसली के नाम से, मलयालम में शेदेवेली के नाम से,तमिल भाषा में तानिरवितांग के नाम से तथा अरबी भाषा में यह शकेक्वेले हिंदी (Shaqaqule Hindi) के नाम से जाना जाता है। मध्यप्रदेश के जंगलों में यह पौधा बरसात के समय अपने आप उग आता है तथा आदिवासी लोग इसे उखाड़ कर सस्ती दरों पर बाजार में बेच देते हैं। क्योंकि बहुधा यह मूसली ठीक से तैयार नहीं हो पाती (मैच्योर नहीं हो पाती), अत: इसके औषधीय गुणों में भी कमी रहती है। इसके फलस्वरूप बाजार में इसके उचित दाम नहीं मिल पाते तथा यह बाज़ार में 15-150 रुपये प्रति कि.ग्रा. की दर से बेच दी जाती है जबकि अच्छी गुणवत्ता वाली विधिवत सुखाई हुई मूसली की बाजार में 1500/- रुपये प्रति कि.ग्रा. तक कीमत भी मिल जाती है।

सफेद मूसली की विभिन्न प्रजातियाँ/किस्में

यूं तो मूसली की विभिन्न प्रजातियाँ पाई जाती हैं जैसे - क्लोरोफाइटम बोरिविलिएनम, क्लोराफाइटम ट्यूबरोज़म, क्लोरोफाइटम अरुन्डीनेशियम, क्लोरोफाइटम एटेनुएटम, क्लोरोफाइटम ब्रीविस्केपम आदि, परंतु मध्यप्रदेश के जंगलों में अधिकांशत: उपलब्धता क्लोरोफाइटम बोरिविलिएनम तथा ट्यूबरोज़म की ही है। इन दोनों में मुख्य अंतर यह है कि ट्यूबरोज़म में क्राउन के साथ एक धागा जैसा लगा होता है तथा उसके उपरांत इसकी मोटाई बढ़ती है, जबकि बोरिविलिएनम में कंद के फिंगर की मोटाई ऊपर ज्यादा

अपने प्रारंभिक दिनों में सफेद मूसली (क्लोरोफाइटम बोरिविलिएनम) का पौधा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होती है तथा या तो पूरी फिंगर की मोटाई एक जैसी रहती है अथवा यह नीचे की ओर घटती जाती है। क्योंकि ट्यूबरोज़म के संदर्भ में छिलका उतारना कठिन होता है अत: यह खेती के लिए उपयुक्त नहीं मानी जाती तथा अधिकांशत: क्लोरोफाइटम बोरिविलिएनम की ही खेती की जाती है।

मूसली के औषधीय उपयोग

विभिन्न दवाईयों के निर्माण हेतु सफेद मूसली का उपयोग हमारे देश में बरसों से होता आ रहा है। मूलत: यह एक ऐसी जड़ी-बूटी मानी गई है जिसमें किसी भी प्रकार की तथा किसी भी कारण से आई शारीरिक शिथिलता (Physical Weakness) को दूर करने की क्षमता पाई गई है। यही कारण है कि कोई भी आयुर्वेदिक टॉनिक (जैसे-च्यवनप्राश आदि) इसके बिना संपूर्ण नहीं माना जाता। यह इतनी पौष्टिक तथा बलवर्धक होती है कि इसे "दूसरे शिलाजीत" की संज्ञा दी गई है तथा इसे चीन/उत्तरी अमेरिका में पाए जाने वाले पौधे जिन्सेंग जिसका वानस्पतिक नाम "पेनेक्स" है, जैसा बलवर्धक माना गया है। विदेशों में इससे कैलॉग जैसे फ्लेक्स बनाए जाने पर भी कार्य चल रहा है जो नाश्ते के रूप में प्रयुक्त किए जा सकेंगे। इसके अतिरिक्त इससे माताओं का दूध बढ़ाने, प्रसवोपरान्त होने वाली बीमारियों तथा शिथिलता को दूर करने तथा मधुमेह आदि जैसे अनेकों रोगों के निवारण हेतु भी दवाईयां बनाई जाती हैं। इसी प्रकार ऐसी अनेकों आयुर्वेदिक, एलोपैथिक तथा यूनानी औषधियाँ हैं जो इस जड़ी-बूटी से बनाई जाती/जा सकती हैं तथा जिसके कारण यह एक उच्च मूल्य जड़ी-बूटी (High Value Herb) बन गई है तथा भारत के साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में भी इसकी प्रचुर मांग है।

मूसली की खेती की आवश्कता क्यों?

जैसा कि उपरोक्तानुसार वर्णित है, सफेद मूसली विभिन्न औषधियों के निर्माण हेतु प्रयुक्त होने वाली एक अमूल्य जड़ी-बूटी है जिसकी देशीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक मांग है। परंतु जिस तेजी से यह मांग बढ़ रही है उसकी तुलना में इसके उत्पादन तथा आपूर्ति में बढ़ोत्तरी नहीं हो पाई है। अभी तक इसकी आपूर्ति का एक ही साधन था-जंगलों से इसकी प्राप्ति। परंतु निरंतर तथा अंधाधुंध दोहन के कारण एक तो उपयुक्त गुणवत्ता वाली मूसली मिल पाना मुश्किल हो गया है, दूसरे इसकी आपूर्ति में भी निरंतर कमी आ रही है जबकि मांग निरंतर बढ़ रही है। एक अनुमान के अनुसार अंतराष्ट्रीय स्तर पर मूसली की काफी अधिक मांग है जिसमें निरन्तर वृद्धि हो रही है। इस बढ़ती हुई मांग की आपूर्ति तभी संभव है यदि इसकी विधिवत खेती की जाए।

इस वस्तुस्थिति के फलस्वरुप हमारे देश के विभिन्न भागों में मूसली की विधिवत खेती प्रारंभ हुई है जिसके परिणाम दर्शाते हैं कि यदि वैज्ञानिक तरीके से मूसली की खेती की जाए तो यह न केवल परंपरागत खेती की तुलना में, बल्कि यह (लगभग) किसी भी प्रकार की खेती की तुलना में कई गुना ज्यादा लाभकारी है तथा इसकी खेती से औसतन प्रति एकड़ 50-60 हज़ार रुपये तक का शुद्ध लाभ कमाया जा सकता है। इसकी खेती के लिए मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश, बिहार, उड़ीसा, हरियाणा, दिल्ली आदि प्रदेशों की जलवायु काफी अनुकूल होने के कारण प्रस्तुत लेख में इसकी खेती की तकनीक तथा अन्य पहलुओं पर विवरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

सफेद मूसली के पूर्ण विकसित कन्द

मूसली की खेती कैसे करें?

जैसा कि उपरोक्तानुसार वर्णित है, मूसली मूलत: एक कंदरुपी पौधा है जोकि हमारे देश के जंगलों में प्राकृतिक रुप से उगता है। क्योंकि यह प्राकृतिक रुप में उगता है अत: स्वभाव से ही यह एक "हार्डी" (hardy) पौधा है जिसकी विधिवत खेती काफी सफल रही है। इसकी खेती से संबंधित किये गए सफल प्रयोगों के आधार पर इसकी खेती के लिये विकसित की गई कृषि तकनीक (Agro-Technology) के विभिन्न पहलुओं को निम्नानुसार देखा जा सकता है-

खेती के लिये उपयुक्त भूमि

क्योंकि मूसली मूलत: एक कन्द है जिसकी बढ़ोत्तरी जमीन के अंदर होती है अत: इसकी खेती के लिये प्रयुक्त की जाने वाली

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जमीन नर्म होनी चाहिये। वैसे अच्छी जल निकासी वाली रेतीली दोमट मिट्टी (Sandy Loam soil) तथा काली कपासिया मिट्टी जिसमें जीवाश्म की पर्याप्त मात्रा उपस्थित हो, इसकी खेती के लिये सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। भूमि ज्यादा नर्म (पोली) भी नहीं होनी चाहिये अन्यथा कन्द की फिंगर्स पतली रह जाऐंगी। प्राय: राजस्थान की रेतीली मिट्टी में यह समस्या देखी जाती है। क्योंकि वहां भूमि ज्यादा पोली होती है जिससे मूसली की फिंगर्स मोटी तथा गूदेदार होने की बजाए पतली-पतली रह जाती है। जिससे इसका उत्पादन प्रभावित होगा।

फसल के लिये पानी की आवश्यकता

मूसली की अच्छी फसल के लिये पानी की काफी आवश्यकता होती है। यूं तो जून माह में लगाए जाने के कारण जून-जुलाई-अगस्त के महीनों में प्राकृतिक बरसात होने के कारण इन महीनों में कृत्रिम रुप से सिंचाई करने की आवश्यकता नहीं होती, फिर भी यह ध्यान दिया जाना आवश्यक है कि जब तक फसल उखाड़ न ली जाए तब तक भूमि में हल्की नमी बनी रहनी चाहिये। अत: बरसात के उपरांत लगभग प्रत्येक 10 दिन के अंतराल पर खेत में पानी देना उपयुक्त होगा। पौधों के पत्ते सूखकर झड़ जाने के उपरांत भी जब तक कंद खेत में हों, हल्की-हल्की सिंचाई प्रत्येक दस दिन में करते रहना चाहिये जिससे भूमिगत कन्दों की विधिवत बढ़ोत्तरी होती रहे। सिंचाई के लिये यदि खेत में "स्प्रिंकलर्स" लगे हों तो यह सर्वाधिक उपयुक्त होगा। सिंचाई का माध्यम तो कोई भी प्रयुक्त किया जा सकता है परन्तु सिंचाई नियमित रूप से होते रहना चाहिये। यद्यपि सिंचाई की जाना आवश्यक है परन्तु खेत में पानी रुकना नहीं चाहिए अन्यथा इससे फसल का उत्पादन प्रभावित होगा। सिंचाई के लिये कुआं, ट्यूबवेल, नहर आदि जो भी संभव हो, माध्यम का उपयोग किया जा सकता है।

मूसली की खेती के प्रमुख लाभ

- *अत्यधिक लाभकारी फसल- मात्र 6 से 8 माह में प्रति एकड़ 50-60 हज़ार रुपये का शुद्ध लाभ देने वाली फसल.*
- *इसकी किसी प्रकार की प्रोसैसिंग करने की आवश्यकता नहीं-कोई मशीन लगाने की ज़रूरत नहीं। सीधे उखाड़ कर, छील कर तथा सुखा कर बेच सकते हैं।*
- *बाजार की समस्या नहीं- व्यापक बाजार उपलब्ध है.*
- *मूसली की खेती के लिए कृषि तकनीक विकसित हो चुकी है.*
- *अकुशल श्रमिकों से कार्य चल सकता है.*
- *मूसली की खेती के लिये व्यावहारिक प्रशिक्षण उपलब्ध है.*
- *काफी लोगों को रोजगार उपलब्ध करवाती है.*
- *मौसम के परिवर्तन का फसल पर ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ता।*
- *यदि प्रारंभिक स्तर पर किसान मंहगा बीज न ले सकें तो सस्ते पौधे लेकर इनका विकास स्वयं भी कर सकते हैं।*

खाद की आवश्यकता

मूसली की खेती के लिए पाँच प्रकार की खाद / तत्व प्रयुक्त किये जा सकते हैं - गोबर खाद, रासायनिक खाद, हरी खाद (ग्रीन मैन्यूर), हड्डी खाद, सॉइल कंडीश्नर आदि। मूसली की खेती हेतु इनकी आवश्यकता निम्नानुसार होगी-

क. गोबर अथवा कम्पोस्ट खाद

गोबर की खाद अथवा कम्पोस्ट खाद मूसली की फसल के लिये अत्यधिक उपयोगी रही है। यद्यपि यह संबंधित कृषक की क्षमता, खाद की उपलब्धता आदि पर निर्भर करेगा (उदाहरणार्थ कई फार्मों पर प्रति एकड़ 65 ट्राली तक गोबर की खाद डाले जाने संबंधी प्रयोग किये गए हैं), परन्तु फिर भी अच्छी फसल के लिये प्रति एकड़ 5 से 10 ट्राली अच्छी पकी हुई गोबर की खाद डाला जाना उपयुक्त रहता है। गोबर की खाद खेत को तैयार करते समय बिजाई से पूर्व डाली जानी चाहिये तथा खेत में अच्छी तरह मिला दी जानी चाहिये।

ख. रासायनिक खाद

यद्यपि रासायनिक खाद का उपयोग लाभकारी रहा है परन्तु यथासंभव इसका उपयोग न किया जाए तो उपयुक्त रहेगा। विदेशी खरीददारों (Export) के दृष्टिकोण से भी जहां तक संभव हो इसका उपयोग नहीं किया जाना चाहिये।

ग. हरी खाद अथवा ग्रीन मैन्यूर

जनवरी - फरवरी माह में मूसली के कंदों की खुदाई के उपरांत अगली फसल (मई-जून) तक खेत खाली रहता है। ऐसे समय में खेत में अल्पावधि वाली कोई फसल जैसे सन, बरू अथवा धतूरा उगा लिया जाना चाहिये तथा मई-जून में खेत की तैयारी करते समय इस फसल में हल चला कर इसे खेत में ही मिला दिया जाना चाहिये। इस प्रकार की हरी खाद डालने के काफी अच्छे परिणाम देखे गये हैं।

घ. हड्डी खाद

प्राय: कंदयुक्त फसलों के लिये हड्डी खाद काफी लाभकारी सिद्ध हुई है। यद्यपि इसकी डाली जाने वाली प्रति एकड़ मात्रा किसान की क्षमता पर निर्भर करेगी परन्तु क्योंकि इसमें माईक्रोन्यूट्रिएन्टस रहते हैं अत: न्यूनाधिक मात्रा में इसका डाला जाना फसल के लिये उपयोगी पाया गया है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

च. सॉयल कंडीशनर (Soil conditioner)

परीक्षणों में यह देखा गया है कि जिस खेत में मूसली की खेती लेना हो, वहां यदि सॉयल कंडीशनर का उपयोग किया जाए तो एक तो उससे भूमि नर्म हो जाती है दूसरे इससे उपज में भी वृद्धि होती देखी गई है। इस संदर्भ में विशेष रुप से हिन्दुस्तान एंटी-बॉयोटिक्स का ''माइसिमिल'' काफी प्रभावी पाया गया है।

खेत की तैयारी

मूसली की फसल के लिये खेत की तैयारी करने के लिये सर्वप्रथम खेत में गहरा हल चला दिया जाता है। यदि खेत में ग्रीन मैन्यूर के लिये पहले से कोई अल्पावधि वाली फसल उगाई गई हो तो उसे काट कर खेत में डाल कर मिला दिया जाता है। तदुपरान्त इस खेत में गोबर की पकी हुई खाद 5 से 10 ट्राली प्रति एकड़ भुरक कर इसे खेत में मिला दिया जाता है। इसके उपरांत एक बार पुन: गहरी जुताई कर दी जाती है।

बैड्स बनाना

मूसली की अच्छी फसल के लिये खेत में बैड्स बनाये जाना आवश्यक होता है । इस संदर्भ में 3 से 3.5 फीट चौड़े सामान्य खेत से कम से कम 6 इंच से 1.5 फीट ऊंचे रेज़ बैड्स (Raised beds) बना दिए जाते हैं। इनके साथ-साथ पानी के उचित निकास हेतु नालियों की पर्याप्त व्यवस्था की जाती है तथा बैड्स के किनारों पर आने-जाने (Movement) के लिये पर्याप्त जगह छोड़ा जाना आवश्यक होता है। यदि ज्यादा चौड़े बेड्स न बनाने हों तो आलू की तरह के ''सिंगल बैड्स'' भी बनाए जा सकते हैं। हालांकि इसमें काफी ज्यादा जगह घिरेगी परन्तु मूसली उखाड़ते समय यह ज्यादा सुविधाजनक रहेगा।

मूसली की बिजाई हेतु प्रयुक्त होने वाला बीज अथवा प्लांटिंग मेटेरियल

मूसली की बिजाई इसके घनकंदों अथवा ट्यूबर्स अथवा फिंगर्स से की जाती है। इस संदर्भ में पूर्व की फसल से निकाले गये कंदों/फिंगर्स का उपयोग भी किया जा सकता है अथवा जंगलों से भी इस प्रकार के कंद एकत्रित किये अथवा करवाये जा सकते हैं। बीज के लिये ट्यूबर्स अथवा फिंगर्स का उपयोग करते हुये यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये कि फिंगर्स के साथ पौधे के डिस्क अथवा क्राउन का कुछ भाग अवश्य साथ में लगा रहे अन्यथा पौधे के उगने (germination) में परेशानी आ सकती है। इसके साथ-साथ प्रयुक्त किये जाने वाले ट्यूबर अथवा फिंगर का छिलका (Skin) भी क्षतिग्रस्त नहीं होना चाहिये। इस प्रकार मान लो एक पौधे में 20 फिंगर्स हैं तो उससे 20 बीज बन सकते हैं, परन्तु डिस्क अथवा क्राऊन का कुछ भाग सभी के साथ लगा होना चाहिये। यदि कंद छोटे हों तो पूरे के पूरे पौधे का उपयोग भी बिजाई हेतु किया जा सकता है। ऐसा भी किया जा सकता है कि जब फसल उखाड़ी जाये तो पौधे के जो लम्बे-लम्बे अथवा पूर्ण विकसित फिंगर्स अथवा ट्यूबर्स हों उन्हें तो अलग करके तथा छील करके बिक्री के लिये भिजवा दिया जाये तथा जो फिंगर्स छोटे रह गये हों उन्हें बीज के रूप में प्रयुक्त कर लिया जाये। फिंगर्स तभी तक अलग-अलग किए जा सकते हैं जब तक पौधों में से पत्ते न निकलें अन्यथा इन्हें अलग-अलग करना फायदेमन्द नहीं रहेगा। प्राय: एक ट्यूबर (बीज) का वज़न 0.5 ग्राम से 20 ग्राम तक हो सकता है परन्तु अच्छी फसल की प्राप्ति हेतु ध्यान रखना चाहिये कि प्राय: ट्यूबर 5 ग्राम से 10 ग्राम तक के वजन का हो। अच्छी फसल की प्राप्ति के लिये अच्छी गुणवत्ता तथा प्रामाणिक बीज किसी स्थापित फार्म से लेना (कम से कम प्रथम फसल के लिये) चाहिए।

जंगलों से प्राप्त किया जाने वाल बीज

क्योंकि मूसली एक उच्च मूल्य (High value) उत्पाद है इसलिए इसका बीज भी काफी मंहगा होता है। प्राय: बाजार में इसकी कीमत 300 रु. से 600 रु. प्रति कि.ग्रा. तक ली जाती है। क्योंकि एक एकड़ में लगभग 3 से 6 क्विंटल बीज लगेगा जिसका अर्थ है कि बीज की न्यूनतम लागत लगभग 1.5 लाख रु. आऐगी जिसको खरीदना प्रत्येक किसान के लिए संभव नहीं होगा।

इस समस्या का एक हल यह हो सकता है कि पहले वर्ष में किसान जंगलों से मूसली एकत्रित करवा लें। प्राय: बरसात के प्रारंभ होते ही मूसली के पौधे उगने लगते हैं जिन्हें बनवासी लोग जंगलों से उखाड़ कर बेचने के लिए बाजारों में लाते हैं। इस प्रकार उनसे ये पौधे खरीद करके इनकी खेतों में ट्रांसप्लांटिंग कर ली जानी चाहिए। इस प्रकार से जंगल से उखाड़ी हुई मूसली काफी सस्ते दामों (प्राय: 25 रु. से 100 रु. प्रति कि.ग्रा. तक) प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार की मूसली को सीधे (पूरे के पूरे पौधे को) खेत में लगा दिया जाता है। क्योंकि यह मूसली अपेक्षाकृत काफी कमज़ोर होती है, अत: इसे पूर्णतया विकसित होने में समय लग सकता है। इस प्रकार की लगाई गई मूसली से प्राय: पहले साल फसल नहीं ली जाती अथवा इसकी कीमत काफी कम मिलती है। परन्तु अगले वर्ष में ये अच्छी तरह विकसित हो जाते हैं तथा अच्छा उत्पादन देने के काबिल हो जाते हैं। तीसरे वर्ष में तो ये बीज तथा उत्पादन दोनों के लिए तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार जंगल से मूसली के पौधे प्राप्त करके मंहगे बीज की समस्या भी हल की जा सकती है।

क्या बीजों (Seeds) से भी मूसली की बिजाई की जा सकती है?

मूसली के पौधे जब लगभग 2 माह से अधिक अवधि के हो जाते हैं तो उन पर पहले फूल तथा बाद में छोटे-छोटे बीज आते हैं जो पकने पर काले रंग के (प्याज के बीजों जैसे) हो जाते हैं। ये बीज काफी छोटे होते हैं तथा इनका संग्रहण काफी मुश्किल होता है। प्राय: पौधों पर पौलीथीन की थैलियां बांध कर इनका संग्रहण किया जाता है। यद्यपि बीजों से मूसली के पौधे तैयार करने की दिशा में भी शोध कार्य चल रहे हैं परन्तु अभी इस क्षेत्र में ज्यादा सफलता प्राप्त नहीं हो पाई है। बीजों से पौधे तैयार करने

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

में एक परेशानी यह भी देखी गई है कि इसमें पौधा तैयार होने में काफी समय (2 वर्ष तथा इससे अधिक भी) लग जाता है तथा पौधे पर्याप्त हृष्ट-पुष्ट भी नहीं हो पाते। अतः अच्छी फसल की प्राप्ति हेतु तथा कम समयावधि की आवश्यकता को देखते हुये सीधे डिस्क अथवा क्राउन युक्त कंदों/फिंगर्स से बिजाई करना ही सर्वश्रेष्ठ पाया गया है।

अ. प्लांटिंग मेटेरियल की मात्रा

जैसा कि उपरोक्तानुसार वर्णित है, मूसली की बिजाई हेतु 5 से 10 ग्राम वज़न की क्राउनयुक्त फिंगर्स सर्वाधिक उपयुक्त रहेंगी जिनका 6X6" की दूरी पर रोपण किया जाता है। एक एकड़ के क्षेत्र में अधिकतम 80,000 बीज (क्राउनयुक्त फिंगर्स) लगेंगे जिनमें से कुछ बीज 2 ग्राम के भी हो सकते हैं, कुछ 3 ग्राम के, कुछ 3.5 ग्राम के अथवा कुछ 10 ग्राम के। इस प्रकार एक एकड़ के क्षेत्र हेतु लगभग 3 से 6 क्विंटल प्लांटिंग मेटेरियल (औसतन 4 क्विंटल) की आवश्यकता होगी। यदि ट्यूबर्स छोटे हों अथवा थोड़े सूख गये हों (परन्तु उगने लायक हों) तो कम मात्रा से भी काम चल सकता है।

ब. बिजाई से पूर्व प्लान्टिंग मेटेरियल का ट्रीटमेन्ट

लगाये जाने वाले पौधे रोगमुक्त रहें तथा इनके नीचे किसी प्रकार की बीमारी आदि न लगे इसके लिये प्लांटिंग मेटेरियल को लगाने से पूर्व इन्हें 2 मिनट तक बाबस्टीन के घोल में अथवा एक घंटा गौमूत्र में डुबोकर रखा जाना चाहिए जिससे ये रोगमुक्त हो जाते हैं।

बिजाई की विधि

खेत की तैयारी करने के उपरांत 3 से 3.5 फीट चौड़े, जमीन से 1-1½ फीट ऊँचें बैड बना लिये जाते हैं। बरसात प्रारंभ होते ही (15 जून के लगभग) इन बैड्स में लकड़ी की सहायता से (जोकि इस कार्य हेतु विशेष रुप से बनाई जा सकती है), अथवा खुर्पी की सहायता से कतार से कतार तथा पौधे से पौधा 6X6 इंच की दूरी रखते हुए छेद कर लिये जाते हैं। छेद करने के पूर्व यह देखना आवश्यक है कि हाल ही में बारिश हुई हो अथवा उसमें पानी दिया गया हो (जमीन गीली होनी चाहिये)। कई किसान सूखी जमीन (मानसून से पूर्व) भी इसकी बिजाई कर देते हैं। ऐसी स्थिति में यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि जमीन में पड़े-पड़े गर्मी के मारे कंद सूख न जाऐं। इस प्रकार एक बैड में छः कतारें बन जाती हैं। यदि सिंगल बेड की विधि अपनानी हो तो बेड के ऊपर ठीक बीच में लकड़ी अथवा खुर्पी से छेद बना लिया जाता है। फिर इस प्रत्येक छेद में हाथ से एक-एक डिस्क युक्त अथवा क्राऊन युक्त फिंगर अथवा सम्पूर्ण पौधे का रोपण कर दिया जाता है। यदि फिंगर बहुत छोटी हों तो 2-2 फिंगर्स को मिलाकर भी रोपण किया जा सकता है परन्तु सभी फिंगर्स में क्राऊन का कुछ भाग संलग्न रहना चाहिये। यदि बीज बड़ा हो (5 ग्राम से अधिक हो) तो 6X6 इंच वाली दूरी को बढ़ाया भी जा सकता है। रोपण करते समय यह

मूसली की खेती अपनी प्रारंभिक अवस्था में

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ध्यान रखना चाहिये कि फिंगर जमीन में 1 इंच से ज्यादा गहरी न जाये। फिंगर ज़मीन में सीधी लगाई जानी चाहिये अर्थात काऊन वाला भाग ऊपर तथा फिंगर का अंतिम सिरा नीचे। रोपण के उपरान्त इस पर हाथ से ही मिट्टी डाल देनी चाहिये अथवा छेद ऊपर से बंद कर दिया जाना चाहिये। इस प्रक्रिया में प्रायः एक व्यक्ति लकड़ी अथवा खुर्पी से आगे-आगे छेद बनाता चलता है तथा दूसरा फिंगर्स का रोपण करता जाता है।

पौधों का उगना तथा बढ़ना

बिजाई के कुछ दिनों के उपरांत ही पौधा उगने लगता है तथा इसमें पत्ते आने लगते हैं। इसी बीच फूल तथा बीज आते हैं तथा अक्टूबर-नवम्बर माह में पत्ते अपने आप सूखकर गिर जाते हैं और पौधे के कन्द जमीन के नीचे रह जाते हैं।

मूसली की फसल से होने वाले उत्पादन की मात्रा

मूसली की फसल में होने वाले उत्पादन की मात्रा अनेकों कारकों पर आधारित होती है, जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण है इसका बीज। ऐसा पाया गया है कि छोटे बीजों से (प्रायः 5 ग्राम से कम वज़न वाले बीजों से) प्रायः 4-5 गुना बड़ा कन्द तैयार होता है, (अर्थात् इसमें लगने वाली सभी फिंगर्स को मिलाकर कंद का वज़न प्रयुक्त किये गए बीज की तुलना में 4-5 गुना बड़ा होगा) जबकि इससे ज्यादा वज़न वाले कन्दों से प्रायः 3 गुना बड़ा कन्द तैयार होता है। वैसे यूं तो 2 ग्राम से लेकर 270 ग्राम तक के कन्द देखे गये हैं परंतु एक अच्छी फसल से औसतन 20-25 ग्राम वज़न वाले कन्द प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार यद्यपि एक पौधे में लगने वाले फिंगर्स की संख्या भी 2 से लेकर 65 तक देखी गई है परंतु औसतन एक पौधे में 10 से 12 फिंगर्स होना पाया गया है। इस प्रकार ऐसा माना जा सकता है कि डाले गये बीज की तुलना में मूसली का 5 से 6 गुना ज्यादा उत्पादन होगा।

मूसली की खेती के रास्ते में प्रमुख कठिनाईयाँ

- *मूसली का बीज काफी महंगा होने के कारण प्रारंभिक खर्चा (initial investment) ज्यादा है.*
- *श्रमसाध्य (Labour intensive) है। इसकी खेती के लिये काफी अधिक श्रमिकों की आवश्यकता होती है.*
- *इसकी खेती उपजाऊ तथा पानी की सुविधायुक्त भूमि में ही संभव है.*

मूसली की उत्कृष्ट फसल का एक दृष्य

मूसली की फसल में होने वाली प्रमुख बीमारियाँ तथा प्राकृतिक आपदाऐं

मूसली की फसल में प्रायः कोई विशेष बीमारी नहीं देखी गयी है अतः इसमें किसी प्रकार के कीटनाशकों का उपयोग करने की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि पौधे का कन्द भूमि में रहता है अतः इस फसल पर किन्हीं प्राकृतिक आपदाओं जैसे ओलावृष्टि आदि का प्रभाव भी नहीं हो पाता। हाँ, यदि पानी के उचित निकास की व्यवस्था न हो तथा पौधे की जड़ों के पास पानी ज्यादा दिन तक खड़ा रहे, तो पैदावार पर प्रभाव पड़ सकता है तथा कन्द पतले हो सकते हैं। कई बार दीमक, फंगस तथा फ्यूज़ेरियम का "अटैक" भी फसल पर हो सकता है जिसके प्रभावी नियंत्रण की व्यवस्था समय रहते कर ली जानी चाहिए। वैसे यह पौधा किसी प्रकार की बीमारी अथवा प्राकृतिक आपदाओं के प्रभाव से लगभग मुक्त है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यदि मूसली की फिंगर्स/ट्यूबर्स पतली हो जायें तो?

क्योंकि मूसली की फसल का प्रमुख उत्पाद उसकी फिंगर्स ही हैं जिन्हें छीलकर तथा सुखाकर सूखी मूसली तैयार की जाती है, अत: ये फिंगर्स मोटी तथा अधिक से अधिक गूदायुक्त होनी चाहियें ताकि छीलने पर ज्यादा मात्रा में गूदायुक्त फिंगर्स प्राप्त हो सकें (फिंगर्स के पतले होने पर ज्यादा गूदा प्राप्त नहीं होगा)। प्राय: भूमि के ज्यादा नर्म (पोला) होने पर फिंगर्स जमीन में ज्यादा गहरी चली जाती हैं तथा पतली रह जाती हैं। अत: एक तो खेत की तैयारी करते समय इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिये कि भूमि ज्यादा नर्म (पोली) न हो तथा यदि भूमि ज्यादा नर्म पोली अथवा रेतीली है तो बेड्स की ऊपरी सतह पर 6-9 इंच मोटी काली मिट्टी की परत अथवा तालाब की मिट्टी की परत बिछा दी जानी चाहिए, दूसरे यदि खुदाई के उपरांत पौधे में ऐसी फिंगर्स निकलती हैं तो उन्हें उत्पादन के रूप में प्रयुक्त करने के बजाय प्लांटिंग मेटेरियल के रूप में प्रयुक्त कर लिया जाना चाहिये।

जमीन से पौधों/कन्दों को उखाड़ना (Harvesting)

यद्यपि पौधों के पत्ते सूख जाने पर (बिजाई से लगभग 90-95 दिन के उपरांत) ऐसा माना जाता है कि फसल तैयार हो गई है तथा कन्द निकाले जा सकते हैं, परन्तु ऐसा कदापि नहीं करना चाहिये। पत्तों के सूखकर गिर जाने के उपरांत भी एक-दो महीने तक के लिये कन्दों को जमीन में ही रहने दिया जाना चाहिये तथा पत्तों के सूख जाने के उपरांत भी खेत में हल्का-हल्का पानी का छिड़काव करते रहना चाहिये। प्रारंभ में (कच्चे) कन्दों का रंग सफेदी लिये हुये होता है जो कि धीरे-धीरे भूरा होने लगता है। जमीन में जब कन्द पूर्णतया पक जाते हैं (अथवा mature हो जाते हैं) तो इनका रंग गहरा-भूरा (blackish-brown) हो जाता है। अत: जब कंदों का रंग गहरा-भूरा हो जाए तो कुदाली की सहायता से एक-एक करके कन्दों को निकाला जा सकता है। प्राय: कंद निकालने का कार्य मार्च-अप्रैल माह में किया जाता है। कंदों को निकालने का कार्य हाथ से ही (ट्रेक्टर आदि से नहीं) क़रना चाहिये जिससे सभी कन्द बिना क्राउन से अलग हुये निकाले जा सकें तथा जिन कन्दों का उपयोग बीज (प्लांटिंग मेटेरियल) बनाने हेतु करना हो, वे बीज के रूप में प्रयुक्त किये जा सकें तथा जिनको तोड़कर, छीलकर तथा सुखाकर सूखी मूसली के रूप में बेचा जाना हो, उन्हें बिक्री हेतु प्रयुक्त किया जा सके।

यदि कंदों को ज़मीन से न उखाड़ा जाये तो?

कई बार फसल तैयार हो जाने के उपरांत भी किसान कन्दों को जमीन से उखाड़ना नहीं चाहते तथा इन्हें जमीन में ही रहने देना चाहते हैं। ऐसा कई बार चाह कर भी किया जा सकता है अथवा मजबूरी वश भी हो सकता है (उदाहरणार्थ समय पर श्रमिक न मिलें अथवा किसान के पास समय न हो)। परन्तु इसमें कोई ज्यादा परेशानी की बात नहीं होती क्योंकि बरसात में ये कंद (जो उखाड़े नहीं गए थे) जमीन में पड़े-पड़े गल जायेंगे तथा अगली बरसात में इनमें से अपने आप नये पौधे निकल आयेंगे। परन्तु इसमें कमी यह रहती है कि अगला पौधा (पिछले कंद की तुलना में जो जमीन में ही गल गया था) मात्र 50 से 100 प्रतिशत तक ही बढ़ पाता है। उदाहरणार्थ यदि पहला कंद 10 ग्राम का था तो यह एक साल के उपरांत यह मात्र 15 से 20 ग्राम तक ही हो पाएगा जबकि यदि इसे उखाड़ कर लगाया जाता तो इसमें 4 से 5 गुना की बढ़ोत्तरी हो जाती। फिर भी यह तय है कि यदि कंद न भी उखाड़ा जाये तो उसमें कोई हानि नहीं होगी तथा इसमें प्रतिवर्ष अपने आप कुछ न कुछ वृद्धि होती रहेगी। ऐसी वृद्धि प्राय: सात साल तक देखी गई है तथा सात साल के बाद इन कंदों का बढ़ना प्राय: बंद हो जाता है।

खेत से मूसली के कन्दों को उखाड़ता एक श्रमिक

कंदों की धुलाई

क्योंकि जमीन से कंद उखाड़ने पर उनके साथ मिट्टी आदि लगी रहती है अत: छीलने से पूर्व उन्हें धोया जाना आवश्यक होता है। इस सदर्भ में उखाड़े हुये कंदों की टोकरियों को पानी के बहाव के नीचे रख कर कंदों की धुलाई की जा सकती है। इसके उपरांत धुले हुये कंदों की छिलाई की प्रक्रिया प्रारंभ होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मूसली के कंदों की छिलाई

जिन कन्दों का उपयोग बीज (प्लांन्टिंग मेटेरियल) हेतु करना हो, उन्हें छोड़कर शेष मूसली को विपणन हेतु भिजवाने से पूर्व उसके कन्दों/ट्यूबर्स/फिंगर्स की छिलाई करना अथवा उनका छिलका (Skin) उतारना अत्यावश्यक होता है ताकि छिलका उतारने पर यह अच्छी तरह से सूख जाए तथा इसे बिक्री हेतु प्रस्तुत किया जा सके। यद्यपि यह कार्य यूं तो अत्यधिक आसान है तथा अकुशल श्रमिक/ बच्चे भी इसे कर सकते हैं परन्तु यह काफी अधिक श्रमसाध्य (Labour intensive) है तथा इसमें काफी समय लगता है, क्योंकि मूसली के प्रत्येक कंद/फिंगर को छीलना पड़ता है। वर्तमान में मूसली की छिलाई हेतु प्रचलित प्रमुख विधियां निम्नानुसार हैं —

क. पत्थर से घिसाई

प्राय: परम्परागत रुप से जंगलों से एकत्रित की जाने वाली मूसली का छिलका उतारने हेतु मूसली को पत्थर से घिसा जाता है जिससे उसका छिलका उतर जाता है। परन्तु यह विधि ज्यादा उपयुक्त नहीं है, क्योंकि (i) पत्थर से घिसने पर मूसली में से कई बार छिलके के साथ काफी ज्यादा मात्रा में गूदा निकल जाता है जिससे अनावश्यक हानि होती है, (ii) कई बार मूसली के कुछेक स्थानों पर गूदा साथ ही रह जाता है जिससे उत्पाद की गुणवत्ता प्रभावित होती है, (iii) इस प्रकार से छिली हुई मूसली की बाजार में मांग (acceptability) भी प्राय: कम रहती है।

ख. मूसली को गीला करके उसका छिलका उतारना

प्राय: ग्रामीण क्षेत्रों में जहां जंगलों से मूसली एकत्रित की जाती है, कच्ची मूसली को जंगल से उखाड़ने के उपरान्त उनका ढेर लगा दिया जाता है तथा उन पर प्रतिदिन पानी का हल्का-हल्का छिड़काव किया जाता है। कुछ समय के उपरान्त यह मूसली या तो स्वयं ही छिलका छोड़ने लगती है या इसे आसानी से मसल कर छिलका निकाल दिया जाता है। यह विधि विशेष रूप से जंगलों से उखाड़ी हुई कच्ची मूसली का छिलका उतारने के लिए उपयोगी हो सकती है परन्तु इस विधि से पूर्णतया पकी हुई (Matured) मूसली से छिलका उतारने का सुझाव देना शायद उपयुक्त नहीं होगा।

ग. चाकू से छिलाई

पत्थर पर घिसाई की बजाए चाकू से मूसली की छिलाई करना ज्यादा सुविधा जनक होता है। इसमें वेस्टेज भी कम होता है तथा इससे उत्पाद भी अच्छी गुणवत्ता का तैयार होता है। यह विधि काफी आसान भी है तथा कोई भी अकुशल मजदूर भी ऐसी छिलाई का कार्य कर सकता है। यहां तक कि बच्चे भी यह कार्य कर सकते हैं। इस प्रकार एक दिन में एक व्यक्ति लगभग 1 किलोग्राम से 5 कि.ग्रा. तक मूसली छील लेता है।

नि:संदेह छिलाई का कार्य काफी श्रमसाध्य कार्य है परन्तु यह कार्य हाथ से ही किया जाता है तथा इसका अभी कोई विकल्प उपलब्ध नहीं हो पाया है। यद्यपि इस संदर्भ में किन्हीं रसायनों के प्रयोग पर शोध चल रहा है जिनमें मूसली को भिगोने पर इसका छिलका स्वत: ही निकल सके परन्तु ऐसा अभी व्यवहारिक नहीं हो सका है। इस प्रकार के रसायनों के उपयोग से मूसली के औषधीय गुण भी प्रभावित होना संभावित हैं अत: इस दिशा में अभी विशेष प्रगति नहीं हो पाई है तथा अच्छी गुणवत्ता की सूखी मूसली प्राप्त करने हेतु अभी तक हाथ से छिलाई करना ही सर्वश्रेष्ठ विधि मानी जा रही है। इसकी छिलाई हेतु मशीनें बनाने की दिशा में भी कार्य चल रहा है परन्तु अभी तक इस संदर्भ में कोई सफलता नहीं मिल पाई है।

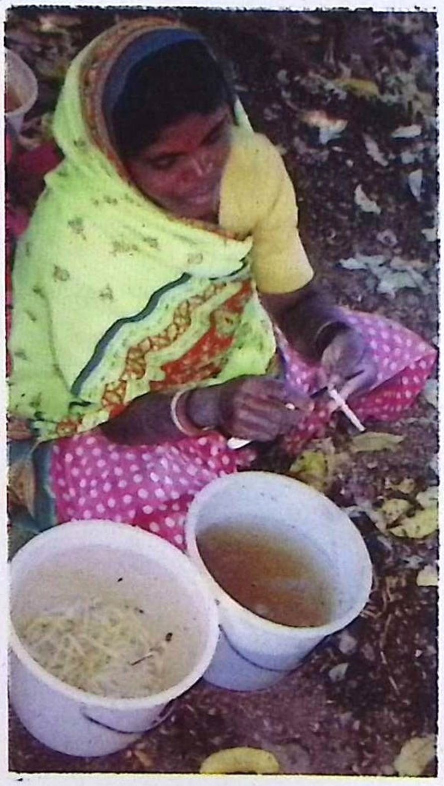
मूसली की छिलाई करती एक महिला श्रमिक

किसे कहेंगे अच्छी गुणवत्ता की मूसली ?

- जो छिलने तथा सूखने पर पूर्णतया सफेद रहे.
- जिसके सूखने पर अपेक्षाकृत ज्यादा उत्पादन मिले.
- जिसमें किसी प्रकार के काले/भूरे धब्बे न हों.

छिली हुई मूसली को सुखाना

छीलने के उपरांत छिली हुई मूसली को सुखाया जाता है ताकि उसमें उपस्थित नमी पूर्णतया सूख जाए। ऐसा प्राय: छिली हुई मूसली

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

को धूप में डालकर किया जाता है। प्राय: दो-तीन दिन तक खुली धूप में रखने से मूसली में उपस्थित नमी पूर्णतया सूख जाती है।

मूसली की पैकिंग

सूखी हुई मूसली को विपणन हेतु प्रस्तुत करने से पूर्व उसकी विधिवत पैकिंग की जाती है। यह पैकिंग प्राय: पौलीथीन की थैलियों में की जाती है ताकि यह सुरक्षित रह सके तथा इस पर किसी प्रकार से नमी आदि का प्रभाव न पड़े।

जमीन से उखाड़ने से लेकर सुखाने तक में मूसली के वज़न में कमी

जमीन से उखाड़ने के उपरांत मूसली की छिलाई करने तथा उसे सुखाने की प्रक्रिया में मूसली के वज़न में अंतर होना स्वभाविक है परन्तु सूखने के उपरान्त बचने की मात्रा मूसली के फिंगर्स की मोटाई (मांसलता) पर ज्यादा निर्भर करती है क्योंकि कुछ फिंगर्स ज्यादा मोटी होती हैं जबकि अन्य पतली होती हैं। यदि फिंगर्स ज्यादा मोटी होंगी तो छिलाई के उपरांत अंतत: सूखने पर इनका वज़न उन फिंगर्स की अपेक्षा अधिक रहेगा जो पतली फिंगर्स को छीलने तथा सुखाने के उपरांत प्राप्त होंगी। वैसे इस छीलने तथा सुखाने की प्रक्रिया में ताजी मूसली (खेत से उखाड़ी हुई मूसली) का लगभग 20 से 25 प्रतिशत तक सूखी मूसली के रूप में प्राप्त होता है।

आगामी फसल हेतु मूसली के बीज का संग्रहण कैसे किया जाए ?

मूसली के कन्दों की खुदाई के उपरांत कन्दों के साथ लगी हुई बड़ी फिंगर्स को तोड़कर, छीलकर तथा सुखा कर बिक्रित किया जा सकता है जबकि शेष बची हुई क्राउन सहित फिंगर्स, जो प्राय: साइज़ में छोटी होती हैं, का उपयोग बीज (प्लांटिंग मेटेरियल) के रूप में किया जा सकता है। क्योंकि ये कंद मार्च-अप्रैल माह में निकाले जाते हैं तथा इन्हें मई-जून तक सुरक्षित रखा जाना आवश्यक होता है (क्योंकि इनकी बिजाई मई-जून में ही होगी) अत: तब तक के लिये इनका भण्डारण सावधानीपूर्ण करना आवश्यक होता है। इन कंदों को कोल्ड स्टोरेज में रखना भी ज्यादा उपयुक्त नहीं पाया गया है क्योंकि इससे पौधों का उगाव (germination) प्रभावित होता है। यद्यपि यदि बीजों के संग्रहण के लिये एक विशेष चैम्बर बनाया जा सके जिसमें 70 से 80 अंश तक आर्दता मेन्टेन की जा सके तो यह सर्वश्रेष्ठ होगा, परन्तु सभी किसानों के लिये ऐसा मँहगा चेम्बर बना पाना संभव नहीं हो पाता। अत: कम लागत में इस प्रकार की व्यवस्था स्थापित किये जाने की दिशा में शोध कार्य चल रहे हैं। वैसे इन कंदों को एक छाया वाले स्थान में एक गढ्ढे में रखकर ऊपर से मिट्टी डालकर सुरक्षित रखे जाने हेतु प्रयोग किया जा सकता है।

टीक, पोपुलर अथवा पपीते के साथ अंर्तवर्तीय फसल (Inter Crop) के रूप में मूसली की खेती

यद्यपि मूसली अपने आप में इतनी अधिक लाभकारी फसल है कि इसकी खेती मुख्य फसल के रूप में ही की जानी चाहिये परन्तु अंर्तवर्तीय फसल के रूप में भी इसकी खेती काफी सफलतापूर्वक की जा सकती है। अभी कई कम्पनियों द्वारा टीक के बीचों-बीच अंर्तवर्तीय फसल (inter-crop) के रूप में मूसली की खेती की जा रही है। विशेष रूप से ऐसे पौधे जिनसे "रिटर्न" मिलने में काफी अधिक समय लगता हो, के बीचों-बीच मूसली की खेती करके प्रारंभिक वर्ष में ही (बिना कोई विशेष खर्च किये) लाभ कमाया जा सकता है। पपीते के साथ भी अंर्तवर्तीय फसल के रूप में मूसली की खेती की जा सकती है। इस संदर्भ में विशेषज्ञों का विचार है कि टीक के बीचों-बीच 1.5 फीट के दायरे में मूसली के 11 पौधे रोपित कर दिये जायें तथा इन पर मिट्टी चढ़ा कर इन्हें 18 महीने तक पड़ा रहने दिया जाए (प्रथम वर्ष में न निकाला जाए)। यदि ड्रिप अथवा स्प्रिंकलर्स से इनकी सिंचाई व्यवस्था हो सके तो यह और भी ज्यादा लाभकारी होगा। ऐसी जगह में से घास आदि निकालने की भी आवश्यकता नहीं होगी। इस प्रकार 18 महीने के उपरांत बिना किसी अतिरिक्त खर्च के मूसली के पौधों में स्वत: ही 4 से 5 गुना बढ़ोत्तरी हो जाएगी। इस प्रकार टीक, नींबू, पपीता, पोपुलर आदि के साथ अंर्तवर्तीय फसल के रूप में मूसली की खेती करना व्यावसायिक रूप से काफी लाभकारी हो सकता है। वैसे भी मूसली एक छाया पसन्द (Shade Loving) पौधा है जिसकी खेती बड़े पौधों एवं वृक्षों के बीचोंबीच करने के साथ-साथ हल्दी, तुवर, कालमेघ आदि जैसे पौधों के साथ अंतर्वर्तीय फसल के रूप में करने से अपेक्षाकृत अच्छी पैदावार प्राप्त की जा सकती है।

मूसली की खेती के लिये बीजों (प्लांटिंग मेटेरियल) की प्राप्ति

वर्तमान में मूसली का बीज अनेक व्यक्तियों/संस्थाओं द्वारा प्रदान किया जा रहा है। यूं तो मूसली का बीज जंगलों से भी प्राप्त किया जा सकता है परन्तु इसका उगाव (germination) तथा गुणवत्ता के बारे में निश्चित रूप से कुछ कह पाना संभव नहीं होगा। हालांकि जितने भी मूसली के उत्पादक हैं उनसे मूसली का बीज (ट्यूबर्स) प्राप्त किए जा सकते हैं परन्तु यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि ये ट्यूबर्स पूर्णतया विकसित एवं अच्छे गूदेदार हों तथा इनमें "फंगस" आदि न लगी हुई हो। मूसली के बीजों के प्रदायकर्ताओं के पतों की जानकारी हेतु सेडमैप द्वारा प्रकाशित पुस्तक "औषधीय पौधों की विपणन निर्देशिका" का अवलोकन भी किया जा सकता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मूसली का उत्पादन तथा इसकी खेती से अनुमानित लाभ

प्राय: एक एकड़ के क्षेत्र में मूसली के लगभग 80,000 पौधे लगाए जाते हैं। यदि इनमें से 70,000 अच्छे पौधे भी अंत में बचते (Survive करते) हैं जिनमें एक पौधे का औसतन वजन 25 ग्राम होता है तो किसान को लगभग 1700 किलोग्राम मूसली प्राप्त होगी जो कि छीलने तथा सूखने के उपरांत लगभग 3 से 3.5 क्विटंल रह जाएगी (सूखने पर मूसली का वजन 20 से 25 प्रतिशत रह जाता है)।

इसके अतिरिक्त इसमें एक एकड़ की बिजाई हेतु प्लांटिंग मेटेरियल भी बच जाएगा। वैसे जो लोग मूसली की वास्तविक रूप से खेती कर रहे हैं वे प्रति एकड़ औसतन 3 से 5 क्विंटल सूखी मूसली की पैदावार होना बताते हैं। यदि वर्तमान बाजार मूल्य (जो कि 1000 रुपये से 1500 रुपये प्रति किलोग्राम तक है), के अनुसार देखा जाए तो इस 3.5 क्विटंल सूखी मूसली से औसतन 3.5 लाख रुपये की प्राप्तियां होंगी। मूसली को छीलने के उपरान्त इसकी गुणवत्ता के अनुसार ग्रेडिंग की जाती है जिसमें कुछ मूसली सर्वश्रेष्ठ क्वालिटी की होगी, कुछ मीडियम की तथा कुछ तीसरे दर्जे की (जिनका भाव 1000 रु. से लेकर 1500 रु. प्रति कि.ग्रा. तक मिल सकता है) तथा 50000 रुपये से लेकर एक लाख रुपये तक के मूल्य का प्लांटिंग मेटेरियल प्राप्त होगा। यदि इसकी खेती पर होने वाले समस्त खर्चों की गणना करने के उपरांत देखा जाए (खर्चों का विवरण **मूसली की खेती पर प्रति एकड़ होने वाले आय-व्यय का ब्यौरा** के अंतर्गत दिया गया है) तो इस 6 से 9 माह की फसल से प्रति एकड़ 1.80 लाख रुपये तक का लाभ (शुद्ध लाभ 50000 रु.) प्राप्त किया जा सकता है, जो कि किसी भी अन्य औषधीय फसल की खेती की तुलना में कहीं अधिक है।

मूसली की बिक्री दर का निर्धारण

मूसली की बिक्री दर का निर्धारण उसकी गुणवत्ता के अनुसार किया जाता है। अच्छी गुणवत्ता की मूसली बाजार में 1500 रु. प्रति कि.ग्रा. तक बिक जाती है जबकि हल्की क्वालिटी की मूसली की बिक्री दर 25 से 250 रु. प्रति कि.ग्रा. तक रहती है। इस प्रकार गुणवत्ता के अनुसार मूसली की कीमत प्राय: 25 रु. से लेकर 1500 रु. प्रति कि.ग्रा.(तथा इससे अधिक भी) तक हो सकती है।

नोट : मूसली की खेती के क्षेत्र में विभिन्न विशेषज्ञों द्वारा किये गये शोध कार्यों के अलग-अलग परिणाम हो सकते हैं। हो सकता है कोई विशेषज्ञ इस लेख में दिए गए किन्हीं विवरणों/बिन्दुओं से सहमत न हों। अत: यद्यपि इस लेख में यथासंभव उन्हीं विवरणों को सम्मिलित करने का प्रयास किया गया है, जो वास्तविक रूप से हो रही मूसली की खेती पर आधारित हैं। फिर भी इनमें थोड़ा बहुत विरोधाभास हो सकता है।

मूसली की खेती पर प्रति एकड़ होने वाले आय-व्यय का ब्यौरा

मूसली की खेती दोनों विधियों से की जा सकती है - (i) अच्छी गुणवत्ता के पूर्णतया विकसित बीज (ट्यूबर्स) लगाकर तथा (ii) जंगल से पौधे प्राप्त करके उन्हें अपने खेत में तैयार करके। इन दोनों विधियों से मूसली की खेती करने पर इस पर आने वाली लागत तथा प्राप्तियों में काफी अन्तर आ जाता है। सीधे ट्यूबर्स

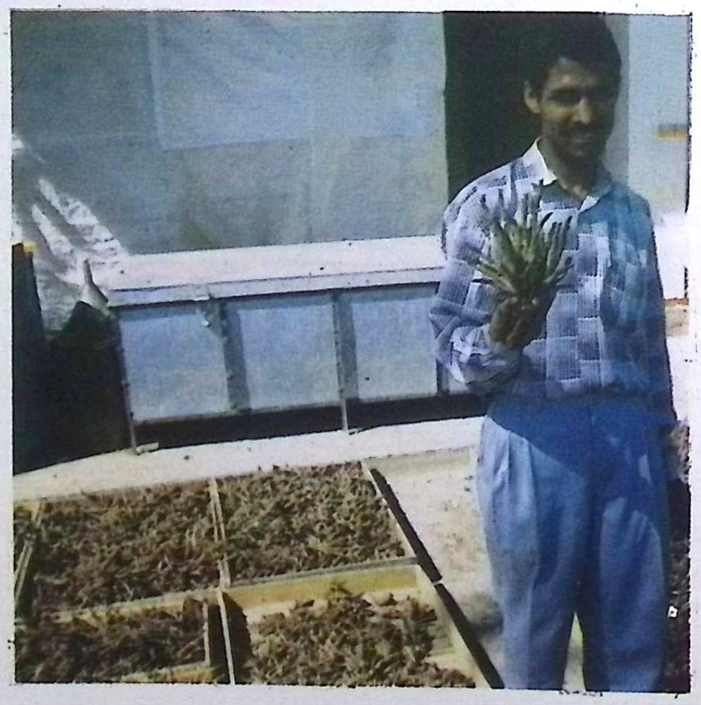

विधिवत की हुई खेती से निकलने वाले कन्दों का उत्पादन काफी अधिक हो सकता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तालिका क्र. क

(i) पूर्णतया विकसित ट्यूबर्स (उपयुक्त बीज) से मूसली की खेती करने पर होने वाले आय-व्यय का विवरण

क. व्यय (प्रति एकड़)

1. बीज (प्लांटिंग मेटेरियल की लागत) (लगभग 4 क्विंटल प्रति एकड़, 500 रु.प्रति कि.ग्रा. की दर से)	=	2,00,000/-
2. गोबर खाद की लागत (10 ट्राली, 500 रुपये प्रति ट्राली की दर से)	=	5,000/-
3. भूमि की जुताई तथा तैयारी (दो बार जुताई)	=	1,000/-
4. जमीन तथा बैड तैयार करने की लागत	=	2,000/-
5. रासायनिक खाद, स्प्रे तथा अन्य भू-टॉनिकों की कीमत	=	2,000/-
6. ग्रीन मैन्यूर तैयार करने तथा मल्चिंग की लागत	=	5,000/-
7. निराई-गुड़ाई की लागत (दो बार निराई-गुड़ाई करने की लागत)	=	3,000/-
8. बिजाई की लागत	=	2,000/-
9. कंद उखाड़ने तथा धोने आदि की लागत	=	5,000/-
10. विविध खर्चे	=	5,000/-
11. मूसली छीलने तथा सुखाने पर खर्च (100 रुपये प्रति किलोग्राम की दर से 400 किलोग्राम हेतु)	=	40,000/-
कुल खर्च	=	**2,70,000/-**

ख. प्राप्तियां (प्रति एकड़)

1. सूखी हुई 3.5 क्विंटल मूसली की बिक्री से प्राप्तियां (1000/- प्रति किलोग्राम की दर से)	=	3,50,000/-
2. प्लांटिंग मेटेरियल के रूप में प्राप्तियाँ	=	1,00,000/-
कुल प्राप्तियां	=	4,50,000/-
कुल लाभ (प्रति एकड़)	=	1,80,000/-

ग. शुद्ध लाभ (प्रति एकड़) = 50,000/-

*** बीज की कीमत 200 रु. प्रति कि.ग्रा. से लेकर 600 रु. प्रति कि.ग्रा. तक भी हो सकती है।**

से खेती करने पर जहां बीज पर लागत काफी अधिक आती है वहीं उससे प्राप्तियां भी काफी अधिक होती है जबकि जंगल से पौधे प्राप्त करने पर बीज की लागत तो कम आती है परन्तु इससे उत्पादन भी कम मिलता है तथा प्राप्तियाँ भी अपेक्षाकृत कम होती हैं। इस संदर्भ में पूर्णतया विकसित ट्यूबर्स से मूसली की खेती करने पर होने वाले आय-व्यय का विवरण तालिका क्र. क में दिया गया है।

जंगल से पौधे प्राप्त करके मूसली की खेती करना

मूसली मूलत: जंगली जड़ी-बूटी है तथा विशेषतया मध्यप्रदेश एवं महाराष्ट्र के जंगलों में यह बहुतायत में पाई जाती है। मानसून प्रारंभ होते ही मूसली के पौधे जंगलों में दिखने लगते हैं। इन पौधों को यदि जंगल से प्राप्त करके विधिवत खेत में तैयार किया जाए तो इसकी गुणवत्ता काफी बढ़ जाती है तथा यह कार्य आर्थिक रूप से भी काफी लाभकारी है। परन्तु जंगल से इस प्रकार मूसली प्राप्त करने के लिए वन विभाग के स्थानीय कार्यालय से अनुमति प्राप्त करना तथा इसके लिए टी.पी. (ट्रांजिट पास) बनवाना अनिवार्य होता है। इस प्रकार यदि जंगल से मूसली प्राप्त करके उसे खेत में तैयार किया जाए तो उस पर आने वाली लागत तथा उससे होने वाली प्राप्तियाँ तालिका क्र. ख के अनुसार निम्नानुसार होंगी -

उपरोक्तानुसार देखा जा सकता है कि यदि शुद्ध व्यवसायिक दृष्टिकोण अपनाया जाये तो सफेद मूसली काफी अधिक लाभकारी फसल है। न केवल इसकी खेती व्यावसायिक रुप से लाभकारी है बल्कि इसके विपणन में भी कोई विशेष परेशानी नहीं है। इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न क्षेत्रों, विशेष रुप से मध्य भारत तथा आसपास के क्षेत्रों की जलवायु तथा अन्य परिस्थितियां इसकी खेती के लिए काफी अधिक अनुकूल हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तालिका क्र. ख

(ii) जंगल से मूसली के पौधे प्राप्त करके उन्हें अपने खेत में तैयार करने पर होने वाले आय-व्यय का विवरण

(क)	व्यय (प्रति एकड़)		
1.	बीज (प्लांटिंग मेटेरियल की लागत)	=	40,000/-
2.	गोबर खाद की लागत	=	5,000/-
3.	भूमि की जुताई तथा तैयारी (दो बार जुताई)	=	1,000/-
4.	जमीन तथा बैड तैयार करने की लागत	=	2,000/-
5.	ग्रीन मैन्यूर तैयार करने तथा मल्चिंग की लागत	=	2,000/-
7.	निराई-गुड़ाई की लागत (दो बार निराई-गुड़ाई करने की लागत)	=	3,000/-
8.	बिजाई की लागत	=	2,000/-
9.	कंद उखाड़ने तथा धोने आदि की लागत	=	5,000/-
10.	विविध खर्चे	=	5,000/-
11.	मूसली छीलने तथा सुखाने पर खर्च (100 रुपये प्रति किलोग्राम की दर से 200 किलोग्राम हेतु)	=	20,000/-
	कुल खर्च	=	90,000/-
(ख)	प्राप्तियां (प्रति एकड़)		
1.	सूखी हुई 2 क्विंटल मूसली की बिक्री से प्राप्तियां (500/- प्रति किलोग्राम की दर से)	=	1,00,000/-
2.	प्लांटिंग मेटेरियल के रूप में प्राप्तियां	=	75,000/-
	कुल प्राप्तियां	=	1,75,000/-
(ग)	कुल लाभ (प्रति एकड़)	=	85,500/-
(घ)	शुद्ध लाभ	=	10,000/-

विभिन्न औषधीय एवं सुगंधीय पौधों के बीज/प्लांटिंग मेटेरियल प्राप्त करने तथा इनकी खेती हेतु मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करें –

VPCPL वेन्केटेश्वरा प्रोजैक्ट कन्सल्टैंसी प्रा.लि.

131, बजाज नगर, नागपुर (महा.) - 440010 फोन : (0712) 235710 फैक्स : (0712) 552541

● *उपलब्ध बीज :* मुश्कदाना, अश्वगंधा, सर्पगंधा, सोनामुखी, चंद्रशूर, तुलसी, रोशा घास, ईसबगोल, मुलैठी, कालमेघ, अकरकरहा, सदाबहार, दवना, बावची ● *उपलब्ध प्लांटिंग मेटेरियल :* लेमनग्रास, जावा सिट्रोनेला, बच, सतावर, ब्राम्ही, गुग्गुल, जापानी पोदीना, जिरेनियम, पचौली ☞ *अन्य सेवाएं :* उपरोक्त पौधों की आधुनिक तकनीक से व्यवसायिक खेती हेतु मार्गदर्शन, इनके उत्पादन तथा विपणन से संबंधित जानकारी तथा इनकी प्रोसैसिंग से संबंधित मार्गदर्शन एवं परामर्श.

सम्पर्क सूत्र
डॉ. धनजंय देशपांडे

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

14. पाषाणभेदी अथवा पत्थरचूर (Coleus)

पाषाणभेदी अथवा पत्थरचूर लेमिएसी (Lamiaceae) कुल का पौधा है जिसका वैज्ञानिक नाम कोलियस फोर्सखोली ब्रिक अथवा कोलियस बारबेटस बेन्थ (Coleus Forskholli Briq or Coleus Barbatus Benth) है। कन्नड़ भाषा में इसे मक्काड़ी बेरू अथवा मंगना बेरू के नाम से भी जाना जाता है। पाषाण भेद कितने अधिक औषधीय महत्व का पौधा है इसकी जानकारी हाल ही में प्राप्त हुई है तथा इसके औषधीय महत्व को देखते हुए इसे ''भविष्य के अत्यधिक औषधीय महत्व के पौधों'' के रूप में देखा जा रहा है। इसकी कंदिल जड़ें फोर्सकोलिन (कोलियोनोल) का महत्वपूर्ण स्त्रोत पाई गई हैं जिसके कारण इसे अनेकों महत्वपूर्ण दवाइयों के निर्माण हेतु प्रयुक्त किया जा रहा है तथा इसके अनेकों अन्य औषधीय उपयोग भी सामने आ रहे हैं। मुख्यतया इसका उपयोग हायपरटेन्शन, अस्थमा, हृदयरोग, किन्हीं विशेष प्रकार के केन्सर तथा आंखों की बीमारियों आदि के लिए किया जा रहा है। इनके अतिरिक्त इसका उपयोग बालों को असमय पकने से रोकने तथा पेट की बीमारियों के उपचार के लिए भी किया जाता है। इतना अधिक उपयोगी होने के कारण इसकी मांग निरंतर बढ़ती जा रही है तथा देश के कई भागों - राजस्थान, महाराष्ट्र, कर्नाटक तथा तमिलनाडु आदि राज्यों में इसकी खेती सफलतापूर्वक प्रारंभ हो चुकी है। मध्यप्रदेश में भी इसकी खेती के संदर्भ में किए गए प्रयोग अत्यधिक सफल रहे हैं तथा अभी यहाँ पर भी इसकी खेती प्रारंभ हो चुकी है।

पाषाण भेद की कृषि तकनीक

1. **भूमि की आवश्यकता :** पाषाण भेद की खेती के लिए नर्म मुलायम मिट्टी जिसमें पानी ज्यादा देर न ठहरता हो तथा जिसका पी.एच.मान 5.5 से 7 तक हो, उपयुक्त रहती है। इसकी खेती के लिए ज्यादा उपजाऊ मिट्टी की आवश्यकता नहीं होती तथा कम उपजाऊ मिट्टियों में भी यह सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है। लाल रेतीली तथा रेतीली दोमट मिट्टी इसकी खेती के लिए आदर्श मानी जाती है।

कोलियस का फैला हुआ पौधा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

2. **जलवायु :** यद्यपि इसकी खेती के लिए गर्म आर्द्र जलवायु काफी उपयुक्त पाई गई है परन्तु ऐसे क्षेत्र जहां सिंचाई की व्यवस्था हो वहां अपेक्षाकृत कम आर्द्र जलवायु में भी यह आसानी से उगाया जा सकता है। ट्रापिकल तथा सब-ट्रॉपिकल स्थितियों में 2400 मीटर की ऊंचाइयों तक में भी इसे उगाया जा सकता है। प्रायः 83 से 95 प्रतिशत तक आर्द्रता तथा 100 से 160 सेंटीमीटर तक सुवितरित वार्षिक वर्षा इसकी सही बढ़त के लिए ज्यादा उपयुक्त रहती है।

3. बिजाई की विधि

पाषाणभेद की बिजाई बीजों द्वारा भी की जा सकती है तथा कलमों (कटिंग्स) द्वारा भी। वैसे कलमों से बिजाई करना ज्यादा आसान तथा उपयुक्त रहा है। इस विधि से बिजाई करने के लिए बड़े पौधे से ऐसी कलमें काट ली जाती हैं जो 10 से 12 सेंटीमीटर (लगभग 4-5 इंच) लंबी हों तथा जिनमें 5-6 पत्ते संलग्न हों। ऐसी कलमों को छायादार नर्सरी में लगा दिया जाता है जिनसे शीघ्र ही जड़ें फूटने लगती हैं। नर्सरी में इन पौधों को पर्याप्त पानी दिया जाता है। जब ये पौधे लगभग एक माह पुराने हो जाते हैं तथा इनमें पर्याप्त जड़ें आ जाती हैं तो इन्हें बड़े खेत में लगाया जा सकता है।

4. **खेत की तैयारी तथा बिजाई :** पाषाण भेद की रोपाई का सर्वाधिक उपयुक्त समय जुलाई-अगस्त का है (जब मानसून प्रारंभ होती है।) खेत तैयार करने के लिए मानसून से पूर्व खेत की गहरी जुताई करके सर्वप्रथम उसे नर्म बनाया जाता है तथा तद्नुसार उसमें 4 टन प्रति एकड़ की दर से गोबर अथवा कम्पोस्ट खाद मिलाई जाती है। फिर इस खेत में सुविधानुसार क्यारियां बनाकर 60-60 सेंटीमीटर की दूरी पर रेज्ड बैड्स बना लिए जाते हैं। इस समय तक नर्सरी में लगाई गई पौध लगभग एक माह पुरानी हो जाती है तथा इसमें पर्याप्त जड़ें आ जाती हैं, अतः नर्सरी में तैयार इन पौधों को पौधे से पौधे की 20-20 सेंटीमीटर की दूरी रखते हुए इन बेड्स पर लगा दिया जाता है। पौध सीधे खेत में भी लगाई जा सकती है। पौध रोपण के बाद यदि बारिश न हो तो तत्काल पानी दिया जाना आवश्यक होता है। रोपण के प्रथम दो सप्ताहों में प्रत्येक तीन दिन में एक बार पानी देना आवश्यक होता है जबकि बाद में सप्ताह में एक बार पानी देना भी पौधों की अच्छी बढ़त के लिए पर्याप्त होता है।

पौधों की संख्या

एक एकड़ के क्षेत्र में लगाने के लिए कुल 33600 कलमों (कटिंग्स) की आवश्यकता होती है।

6. पाषाण भेद की प्रमुख किस्में

पाषाण भेद की दो प्रमुख किस्में जोकि इसकी खेती के लिए उपयुक्त पाई गई हैं, वे हैं- गारमल तथा मैमुल।

7. निराई-गुड़ाई की आवश्यकता

मानसून की फसल होने तथा पर्याप्त सिंचाई किए जाने के कारण प्रारंभिक अवस्था में पाषाणभेद की निराई-गुड़ाई तथा फसल को घास रहित करने की आवश्यकता होती है। अतः प्रारंभिक अवस्था में फसल को घास रहित रखना होगा। पौधे बड़े हो जाने के उपरांत निराई-गुड़ाई की आवश्यकता नहीं रहती।

8. पौधों पर फूल आना

पौधों के बढ़ने पर इन पर फूल आने लगते हैं जो हल्के जामुनी रंग के होते हैं। इन फूलों को प्रारंभिक अवस्था में ही अंगूठे के नाखून का जोर लगाकर अथवा कैंची से काट दिया जाना चाहिए ताकि ज्यादा मात्रा में जड़ें प्राप्त हो सकें।

9. फसल को होने वाली प्रमुख बीमारियां तथा कीट व्याधियां

बैक्टीरियल विल्ट प्रमुख बीमारी तथा पत्ती काटने वाले केटरपिलर, मीली बग तथा जड़ छेदक नीमाटोड्स इस फसल को हानि पहुंचाने वाले प्रमुख कीट हैं। इनसे बचाव के लिए 10 मि.ली. मिथाईल पेराथियान 10 लीटर पानी में घोलकर पौधों तथा उनकी जड़ों पर छिड़काव करने से यह समस्या समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार बैक्टीरियल विल्ट बीमारी के दिखने पर तत्काल 0.2 प्रतिशत केप्टान घोल स्प्रे किया जा सकता है। नीमाटोड्स से सुरक्षा के लिए 8 किलोग्राम प्रति एकड़ की दर से कार्बोफ्यूरॉन के ग्रेनुअल्स का उपयोग किया जा सकता है।

फसल की खुदाई

जैसा कि उपरोक्तानुसार वर्णित है, पाषाणभेद की प्रमुख उपज उसकी जड़े हैं। प्रायः रोपण के पांच माह (150 दिन) के अंदर पौधे खुदाई के लिए तैयार हो जाते हैं। इस स्थिति पर पहुंच जाने पर पौधों को हाथ से ही जड़ सहित उखाड़ लिया जाता है। तदुपरांत पौधों की जड़ों को अलग करके ठीक से साफ कर लिया जाता है तथा छोटे-छोटे टुकड़ों में काटकर किसी छायादार स्थान पर सुखा लिया जाता है। यही सूखी जड़ें अच्छी तरह बोरियों में भर कर बिक्री के लिए भेज दी जाती हैं।

कुल प्राप्तियां

औसतन एक एकड़ में 600 से 1000 किलोग्राम तक सूखी जड़ें प्राप्त हो जाती हैं जिनका औसतन वर्तमान बाजार मूल्य यदि 35 रुपये प्रति किलोग्राम माना जाए तो इस 6 माह की फसल से औसतन लगभग 20 से 30000 रुपये की प्राप्तियां प्रति एकड़ हो सकती हैं।

निःसंदेह पाषाणभेद को भविष्य की औषधीय फसल माना जा सकता है। इसके इतने अधिक औषधीय उपयोग हैं कि इसका बाजार बढ़ते ही जाना है। यह फसल इतनी अधिक कठोर (हार्डी) प्रवृत्ति की है कि इसकी खेती भी अत्यधिक आसान है। वैसे अभी इसकी बड़े स्तर पर व्यवसायिक खेती प्रारंभ भी नहीं हो पाई है अतः समस्त पहलुओं को देखते हुए पाषाण भेद की खेती मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, बिहार आदि राज्यों के किसानों के लिए वरदान सिद्ध हो सकती हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

15. मस्कदाना अथवा मुश्कदाना

मस्कदाना अथवा मुश्कदाना जोकि 'कस्तूरी-भिण्डी अथवा 'लता कस्तूरी' के नाम से भी जाना जाता है, पौष्टिक पदार्थों की दुनिया में टॉनिक के रूप में अपनी पहचान बरसों से बनाये हुए है। कफ एवं वात रोगों में भी इसका प्रयोग नया नहीं है परन्तु हृदय रोग के नियंत्रण में अब इसकी भूमिका अहम् होती जा रही है। डीहाइड्रेशन के समय भी इसका प्रयोग किया जाता है। सुगंधीय होने के कारण यह पौधा इत्र-जगत में भी अपनी प्रभावी छाप छोड़ने में सफल रहा है। ऐसे महत्वपूर्ण औषधी-धारक पौधे "मस्कदाना" की विधिवत खेती भी अब प्रारंभ हो चुकी है जोकि काफी सफल रही है।

झाड़ी के रूप में उगने वाली 'एबील मोस्कस मस्कोट्स' नामक यह वनस्पति एक इंच लम्बे रोमयुक्त पीटियोल के साथ आधी इंच लंबाई की स्टिप्यूल युक्त छोटे (2 से 3 इंच लम्बे) होते हैं। आमतौर पर मिश्रित वनस्पतियों के संग उगने वाला यह पौधा मध्यप्रदेश के बस्तर, रायपुर, बिलासपुर, मंडला तथा रायगढ़ जिले के मिश्रित वनों में बहुतायत में पाया जाता है।

संग्रहित बीज का प्रयोजन

कस्तूरी भिण्डी का बीज 'मस्कदाना' के नाम से औषधि-जगत में जाना जाता है। यदि इसे दांत के नीचे रख कर दबाया जाए तो इसमें से कस्तूरी जैसी खुश्बू आती है। इसका स्वाद अत्यंत तीव्र होता है तथा यह एक उत्तम पौष्टिक टॉनिक के रूप में प्रयुक्त होता है। इसके बीजों से कफ-शीत निरोधक दवाईयां भी बनाई जाती हैं। वात रोग, पेट विकारों तथा आंतों की व्याधियों में भी इसकी औषधि उपयोगी होती है। पान मसाला तथा ज़र्दा आदि के निर्माण में भी इसका उपयोग बहुतायत से होता है।

मस्कदाना की फसल

अनियमित दांतों वाली पत्तियां धारित करती है। इसके सवा इंच लंबे सेंपल्स पांच भागों में बंटे होते हैं। तीन इंच लंबा करौला जरदा-पीले रंग का होता है जिसके बीच में हल्का बैंगनी रंग इसे अत्यंत आकर्षक बनाता है। पोलीनेशन के लिए इसके पुष्पों की यह संरचना एवं रंगीन प्रदर्शन, प्रकृति की विशेष देन है। इसके फल यद्यपि देखने में भिण्डी के फलों के समान लगते हैं परन्तु उनसे ये अपेक्षाकृत

यूनानी पद्धति से निर्मित इसकी औषधियां डिहाइड्रेशन, पेट विकार, वमन तथा पेशाब संबंधी विकारों में गुणकारी हैं। गनोरिया तथा खाज-खुजली हेतु भी इसकी जड़ एवं पत्तियों से यूनानी दवाई बनाई जाती है। कस्तूरी-सहश खुशबू उत्पादित करने वाला यह बीज अपनी तीव्र सुगंध के लिये भी मशहूर है तथा इसी कारण इसका नाम रखा गया है-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मस्कदाना अथवा ''मुश्कदाना''। परंपरागत उपरोक्त व्याधियों के उपचार के क्षेत्र को पीछे छोड़कर अब मस्कदाना हृदय रोग की चिन्तामयी-दुनिया में प्रवेश कर हृदय-रोगियों के लिए संजीवनी के रूप में उभरकर सामने आया है। इससे निर्मित उच्च कोटि के तेल का निर्यात यूरोप में किया जाता है जबकि इसके बीजों का निर्यात जावा तथा वेस्टइंडीज में होता है। बीजों तथा जड़ों के साथ-साथ इसका डंठल भी काफी उपयोगी है जिसे गुड़ बनाने वालों, खांडसारियों तथा शक्कर कारखानों में प्रयुक्त किया जाता है, जिससे अतिरिक्त आय होती है।

मस्कदाना की कृषि तकनीक

भूमि : यद्यपि रेतीली भूमि से लेकर चिकनी भूमि तक की मृदाओं में यह पौधा उगते तथा पनपते देखा गया है, परंतु यह पौधा जल भराव ''वाटर लौगिंग'' बरदाश्त नहीं कर सकता है। वैसे जिन भी क्षेत्रों में खाने वाली भिण्डी अच्छी तरह उगाई जाती हो वहां पर इसकी खेती सफल हो सकती है।

जलवायु : पाला इस प्रजाति का सबसे बड़ा दुश्मन है, अत: शीतकाल में अधिक ठण्ड पड़ने वाले क्षेत्र इसकी खेती के लिए वर्जित हैं। लगभग 1200 से 1400 मिलीमीटर वर्षा इसके लिये पर्याप्त होती है। वैसे मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार आदि प्रदेशों की जलवायु इसकी खेती के लिए काफी अनुकूल है।

रोपण विधि

यह पौधा बीज डालकर पैदा किया जाता है। 45 से.मी. दूरी पर स्थित 2.5 से.मी. गहरी नालियों में 30 से.मी. के अंतराल में इसका बीज रोपित किया जाता है। बीज बुआई का उपक्रम वर्षा ऋतु में सम्पन्न किया जाता है। भूमि की तैयारी हेतु वर्षा के ठीक पहले, तीन बार जुताई करने से, इसकी बढ़त में चार चांद लग जाते हैं। बिजाई के लिये प्रति एकड़ लगभग एक से डेढ़ किलोग्राम बीजों की जरूरत पड़ती है। वर्तमान में बीज की दर लगभग 50 से 75 रू. प्रति किलोग्राम है।

इसकी बुआई के पूर्व गोबर की खाद को मिश्रित कर मिट्टी को उर्वरित किया जाता है। अमोनियम-सल्फेट का पुट देना इस पौधे की बढ़त के लिए उपयुक्त होता है। इस प्रकार इसकी अच्छी फसल प्राप्त करने के लिए प्रति एकड़ 10 क्विंटल गोबर खाद अथवा कम्पोस्ट खाद तथा 1.5 से 2 क्विंटल अमोनियम सल्फेट के छिड़काव की अनुशंसा की जाती है।

सिंचाई

बुआई के तुरंत बाद पहली सिंचाई तब आवश्यक होती है, यदि समय पर बारिश न गिरे। इसके बाद अंकुरित भिण्डी वर्षाकाल में स्वमेव बढ़ती जाती है।

वर्षा ऋतु के उपरांत अच्छी बढ़त के लिये यदि महीने में इसकी दो या तीन बार सिंचाई, प्रारंभिक स्थिति में कर दी जाए तो काफी अच्छे परिणाम मिलते हैं।

निंदाई-गुड़ाई एवं विरलन

वर्षाकाल में निंदाई करना जरूरी है। वर्षा ऋतु के बाद भी अवांछनीय घास एवं अन्य फालतू उपजों को निंदाई कर के निकाल देने से बढ़त में मदद मिलती है। वर्षा के बाद गुड़ाई की सलाह दी जाती है। गुड़ाई के समय ही पौधों का विरलन करना भी लाभकारी होता है।

कीटनाशकों का छिड़काव

वर्षा के ठीक बाद अधिकतर तने काटने वाले कीड़ों का प्रकोप इस पौधे पर होते देखा गया है जो ऊपरी ''ग्रोइंग शूट'' को काट देता है। अत: सुरक्षार्थ ''मोनो-क्रोटोफॉस'' अथवा ''इंडोसल्फान'' नामक कीटनाशक दवा का छिड़काव लाभकारी रहता है। इसके लिए एक लीटर पानी में दो ग्राम दवा मिलाकर 0.2 प्रतिशत कंसन्ट्रेशन का घोल बनाकर छिड़काव करने की सलाह दी जाती है।

फसल की कटाई

फसल के पक जाने पर पके हुए ''केप्सूल'' फलों को तोड़ लिया जाता है। यह उपक्रम प्रति सप्ताह तब तक दुहराया जाता है जब तक पके फल मिलते रहते हैं। प्राय: नवम्बर-दिसम्बर माह तक सभी फल पक जाते हैं।

फलों के बीजों का संग्रहण

पके हुए केप्सूल फलों को धूप में सुखाया जाता है। फटे हुए केप्सूलों को छाया में सुखना उचित होगा। इसके बाद सूखे तथा फटे हुए फलों को पटककर बीज एकत्रित कर लिया जाता है। सूखे हुए बीजों की सफाई कर उन्हें पॉलीथीन की थैलियों में भरकर संग्रहित कर लिया जाता है।

मस्कदाना की खेती से संभावित प्राप्तियां

मस्कदाना की खेती से एक एकड़ में 200 से 250 कि.ग्रा. तक बीज प्राप्त होते हैं जिनकी प्रति किलोग्राम बिक्री दर यदि 50 रू. भी मानी जाए तो इससे प्रति एकड़ 10000 रू. की प्राप्तियां होंगी। इसके अतिरिक्त इसकी जड़ों तथा डंठलों की बिक्री से भी आमदनी होगी। इस प्रकार इस फसल से मात्र छ: माह में प्रति एकड़ 15000 रू. प्राप्त होंगे। इसमें से लगभग 2000 रू. विभिन्न कृषि क्रियाओं तथा बीज-खाद आदि पर व्यय होंगे। इस प्रकार इस फसल से मात्र छ: माह की अवधि में प्रति एकड़ 13000 रू. का लाभ कमाया जा सकता है। इस प्रकार इस पौधे की खेती करना काफी लाभकारी है।

नोट : वर्तमान में मस्कदाना बीज का बाजार ज्यादा अच्छा नहीं है अत: इसकी खेती करने से पूर्व मार्केट का जायजा लेने हेतु बाजार का सर्वेक्षण अवश्य कर लें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

16. कलिहारी (Gloriosa Superba Linn)

रसोन लिलिएसी (Liliaceae) कुल की यह एक सुन्दर बहुवर्षीय आरोही लता है, जिसे विभिन्न नामों जैसे, करिहारी, अग्निशिखा, गर्भनुत, उल्ट-चंडाल, विलांगुली, कंडीलफूल, विशल्या, सुपर्व लिली व मालावार ग्लोरी लिली आदि नामों से भी जाना जाता है। इसका कांड पोला, पतला 20 फुट तक लम्बा तथा वर्षा ऋतु में प्रतिवर्ष कन्दवत मांसल बहुवर्षीय भौमिक कांड से निकलता है। भौमिक कांड हलाकार, वक्र, स्थान-स्थान पर संकुचित लगभग एक फुट तक लम्बा और $1^1/_2$ इन्च व्यास का सिरों पर नुकीला होता है। इसका ऊपरी रंग मटमैला बादामी व अन्दर से यह आलू के समान रंग का होता है। इसके पत्र प्रायः वृत्तरहित लटवाकार-भालाकार बांस या अदरक के पत्रों के आकार के करीब 6-8 इन्च लम्बे तथा डेढ़ इन्च चौड़े व नोक पर सूत्रकार घुमावदार होते हैं, जो आरोहण करने में सहायक होते हैं। इसके पुष्प बड़े आकर्षक, एकल या गुच्छबद्ध होते हैं। परिपुष्प के दल प्रायः 6 होते हैं, जो 2-3 इन्च लम्बे, 1/2 इन्च चौड़े, तरंगित धार, प्रारम्भ में हरे फिर पीले और अन्त में रक्तवर्ण हो जाते हैं। इसके 6 पुंकेशर व एक स्त्रीकेशर सुनहरे पीले रंग के होते हैं। इसका पुष्पदंड प्रायः 6-7 इन्च लम्बा होता है तथा फल 2 इन्च तक लम्बे तीन लम्बी धारियों युक्त कुण्ठितशीर्ष के होते हैं, जो अन्दर भी तीन भागों में विभक्त होते हैं। इनके अन्दर केशरिया लाल रंग के गोलाकार कालीमिर्च के आकार के 20 तक बीज होते हैं। इसमें वर्षा ऋतु में फूल तथा फल आते हैं और शीत ऋतु आते-आते इसकी लता सूख जाती है। फल चटकने पर बीज झिल्ली से ढंके होने के कारण जल्दी नहीं गिरते।

कलिहारी के फूल देखने में अत्यधिक सुन्दर तथा मनोहारी होते हैं। जंगलों में झाड़ियों में यद्यपि इन्हें अपने आप उगते देखा जा सकता है परन्तु इसके अन्दर विद्यमान औषधीय उपयोगों के कारण आज यह लुप्त प्रायः जड़ी-बूटियों में शुमार हो गई है तथा शासन द्वारा इसे जंगलों से लेने पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। यद्यपि अभी भी किन्हीं क्षेत्रों में इसका फूल घर में अथवा बगीचे में लगाना अपशगुन माना जाता है तथा संभवतया इसी वजह से इसे कलह की जड़ (कलिहारी) तथा किन्हीं ग्रामीण क्षेत्रों में इन्हें "लड़ईयां के फूल" अथवा "करकिचयाऊँ" के नाम से भी जाना जाता है। परन्तु शायद ही कुछ लोग जानते होंगे कि आज इस पौधे की खेती न केवल व्यवसायिक रूप से अत्यधिक लाभकारी है बल्कि समय की अनिवार्य आवश्यकता भी बन

कलिहारी का मनोहारी पौधा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चुकी है। अभी तक इसकी खेती के संदर्भ में हुए प्रयोगों ने इसके बारे में प्रचलित समस्त गलत धारणाओं को झुठला दिया है तथा आज कलिहारी को औषधीय क्षेत्र में सर्वाधिक मांग वाली वस्तु (Hot Cake) कहा जाए तो शायद अतिश्योक्ति नहीं होगी। कलिहारी की इस बढ़ती हुई मांग तथा शासन द्वारा इसे जंगलों से लेने पर प्रतिबन्ध लगा दिए जाने के कारण अब यह अनिवार्य हो गया है कि कलिहारी की विधिवत खेती की जाए।

कलिहारी की अपने-आप उगने वाली लतायें समस्त भारतवर्ष में 6,000 फीट की ऊंचाई तक तथा श्रीलंका, बर्मा, मलाया, चीन व अफ्रीका में उत्पन्न होती हैं। बाग-बगीचों में भी इसके कँद शोभा के लिए लगाये जाते हैं। इसके कंदों, फलों व बीजों में 0.2 से 0.3% कोल्चिसिन व ग्लोरिओसिन क्षाराभ द्रव्य तथा सुगंधित तैल, वोन्जाइक अम्ल, सेलीसिलिक एसिड, कोकिन, शर्करा, वसाम्ल तथा कुछ रालीय पदार्थ पाए जाते हैं, जिनके कारण इसके कांड, फल व बीजों की मांग अधिक होने के कारण इसकी कृषि तमिलनाडू में प्रारम्भ हो गई है। मध्यप्रदेश में भी इसकी विधिवत खेती सफलतापूर्वक प्रारम्भ हो चुकी है। कलिहारी के बीजों व छिलके का औसत भाव 350-800 रु. व सूखे कन्दों का भाव 35-50 रु. प्रति किलो रहता है। बगीचों में शोभायमान लता रोपण हेतु गीले कन्दों का भाव अमेरिका में 2.5 से 3 डालर प्रति नग है, वहीं कालचीसीन का निर्यात् भाव 33,000/- से 80,000/- रु. प्रति किलो है।

विभिन्न भाषाओं में कलिहारी के नाम

Botanical	:	**Gloriosa Superba**
English	:	**Glory or Superb Lily**
Bengali	:	**Bisha**
Gujrati	:	**Dudhi Ovachang**
Konkani	:	**Vaganankta**
Malayalam	:	**Kantal**
Marathi	:	**Wat Nakhi**
Urdu	:	**Kanol**
Tamil	:	**Akkinichilam**
Telgu	:	**Adavinabhi**
Sanskrit	:	**Agnimukhi**

कलिहारी शोथ, कण्ठमाल, गठिया व वात, वेदना, कुष्ट व अर्श में, टॉनिक के रूप में तथा मूढ़-गर्भपातन में भी उपयोगी है। यह जटिल प्रसव को आसान बना देने एवं गर्भपात अथवा प्रसव के उपरान्त पेट में बचे आंवल व मांस के टुकड़ों को आसानी से बाहर निकाल देने की क्षमता भी रखती है। इसके बीजों का औषधीय उपयोग तो होता ही है, साथ ही इसका उपयोग फसलों की नस्ल सुधार में गुणसूत्र (Chromosomes) की संख्या दुगनी करने के लिए भी किया जाता है, जिसके कारण इसकी विदेशों में भी भारी मांग है। कलिहारी एक उपविष है और अल्प मात्रा में देने पर दीपन, कटु, पौष्टिक व ज्वररोधी तथा अधिक मात्रा में देने पर गर्भनिस्सारक है। **इसके विशिष्ट औषधीय योग कासिसादी तैल, लांगली लौह व लांगली रसायन हैं।**

शास्त्रों में इसके अन्य उपयोग निम्नानुसार हैं—

—कलिहारी में गर्भ में संकुचन करने की अद्भुत क्षमता होती है अतः गर्भाशय संबंधी रोगों में इसका काफी उपयोग है।

—इसकी जड़ के काढ़े से हाथ-पैर धोने से गर्भ में ही समाप्त हुई सन्तान से उत्पन्न योनि की समस्त पीड़ा दूर हो जाती है।

—इसका नाभि के पास लेप करने से प्रसव आसान हो जाता है।

—किसी कारणवश शरीर में लोहा अथवा पत्थर घुस गया हो तो उस स्थान पर इसकी जड़ पीसकर लेप लगा दिया जाए तो लोहा/पत्थर बाहर आ जाएगा।

—कलिहारी, पाषाण भेद, शतावरी, दंतीमूल, बच्छनाग की समान मात्रा का पानी में बना लेप पेड़ू व पेट पर लगाने से मूढ़गर्भ (जटिल गर्भ) अथवा टेढ़ा पड़ा गर्भ भी शीघ्र हो जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

—प्रसव के उपरान्त आंवल नहीं निकलने की स्थिति में इसकी जड़ का लेप हथेली तथा पैरों के तलवों पर लगा लेने से आंवल शीघ्रता से बाहर आ जाता है।

—गर्भपात के लिए पेड़ू, भग व नाभि पर इसकी जड़ का लेप कर लेना ही पर्याप्त होता है।

—कलिहारी की जड़ के रस का उपयोग उदरशूल, बवासीर, कुष्ठ रोग तथा पेट के कीड़े निकालने में भी किया जाता है।

में होने वाली वनस्पति है और इसके लिए उष्ण तथा नम जलवायु उपयुक्त होती है।

2. भूमि

यद्यपि इसकी खेती के लिए 6 से 7 पी.एच. मान वाली बलुई दुमट मिट्टी अच्छी होती है किन्तु इसकी खेती अच्छी जल निकास वाली प्रत्येक प्रकार की मिट्टी, यहां तक कि

कलिहारी के आरोहण हेतु की गई व्यवस्था

पथरीली, कंकड़ीली भूमि में भी की जा सकती है।

—रूककर वेदना दे रहे मासिक-धर्म के समय इसकी जड़ के रस में भीगा फोआ (गीला किया हुआ कपास) योनि में रखने से मासिक-धर्म सुलभ हो जाता है।

कलिहारी की खेती के लिए कृषि तकनीक

1. जलवायु

कलिहारी जून-जुलाई से अक्टूबर-नवम्बर तक वर्षाकाल

3. खेत की तैयारी

इसकी खेती करने के लिए ग्रीष्म ऋतु में गहरी जुताई करके 60-60 से.मी. पर मेड़ियां व नालियां बना कर मेड़ियों में कन्दों को रोपित करके इसकी बिजाई की जाती है।

4. फसल की बुवाई

वैसे तो कलिहारी के पौधे बीजों को नर्सरी में बोकर भी तैयार करके रोपित किये जा सकते हैं, परन्तु ऐसा करने से

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पहले वर्ष में केवल कन्द ही तैयार हो पाते हैं तथा इन पर फूल तथा बीज नहीं आ पाते। परन्तु यदि इनकी बिजाई ऐसे कन्दों से की जाती है जिनका वजन 50-60 ग्राम का हो तो उनके रोपण वर्ष से ही फल व बीज प्राप्त किये जा सकते हैं। अतः जहां बीज से फसल तैयार करनी हो, वहां इसे नर्सरी में 4-6 इन्च की दूरी पर वर्षा प्रारम्भ होते ही बो दिया जाना चाहिए व एक वर्ष इसी नर्सरी में पड़े रहने देना चाहिये। दूसरे वर्ष इन कन्दों को खोद कर उन्हें 0.1% फफूंद नाशी घोल से उपचारित कर वर्षा ऋतु में मेड़ियों में 60 से.मी. कतार से कतार व 45 सें.मी. कंद से कंद की दूरी रख कर 6-9इंच गहरा लगा देना चाहिये। चूंकि यह एक आरोही लता है, अतः इसके आरोहण हेतु झाड़ियों व पेड़ों की सूखी डालियों को प्रत्येक कन्द के बगल में गाड़ देना चाहिए। यदि कन्द उपलब्ध हों तो कन्द सीधे भी बीजे जा सकते हैं जिनसे पहले वर्ष से ही फूल तथा बीज प्राप्त होने लगते हैं।

5. खाद एवं उर्वरक

खेत की तैयारी के समय ही प्रति हैक्टेयर 15 टन कम्पोस्ट या गोबर खाद, 125 किलो नत्रजन, 50 किलो स्फुर व 75 किलो पोटाश जमीन में मिला देना चाहिये। बहुवर्षीय फसल होने के कारण खाद व उर्वरक की यही मात्रायें रोपण से अगले वर्षों में भी नियमित वर्षा प्रारम्भ होते ही दे देनी चाहियें। नत्रजन की आधी मात्रा खेत तैयारी के समय तथा शेष 2 समान भागों में दें, किन्तु टापड्रेसिंग करते समय पौधों को क्षति न हो इसका ध्यान रखना होगा। मध्यम आकार की झाड़ियों के बगल में भी कलिहारी के कन्द लगाकर इसकी फसल ली जा सकती है।

बीज की मात्रा

कलिहारी के लाभप्रद फलन हेतु ऐसे कन्दों का ही रोपण किया जाता है जिनका वजन 50-60 ग्राम से कम न हो। चूंकि एक कंद से एक ही पौधा निकलता है, अतः कन्दों के आकार व वजन के आधार पर आवश्यक रोपण सामग्री की मात्रा निर्धारित होगी। औसतन डेढ़ से तीन टन अथवा 41500 कन्द प्रति हैक्टेयर रोपण हेतु आवश्यक होंगे।

6. सिंचाई

वर्षा ऋतु में उगने के कारण वैसे तो सामान्य वर्षा होने से इसमें सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु वर्षा ठीक न होने या बहुत ही हल्की कंकड़ीली भूमि पर बोई गई फसल की आवश्यकतानुसार सिंचाई की जानी चाहिये।

7. निंदाई-गुड़ाई

आवश्यकतानुसार एक बार अच्छी निंदाई-गुड़ाई कर खरपतवार निकाल देनी चाहिये। किन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक होगा कि पौधे टूटने न पायें अन्यथा भूमि से ऊपर के कांड मर जायेंगे और उत्पादन कम होगा।

8. आरोहण हेतु झाड़ियों का रोपण

फसल की बुआई के प्रथम व तीसरे वर्ष लताओं के आरोहण हेतु प्रत्येक कन्द के बगल में सूखी झाड़ियों या डालियों का रोपण किया जाना आवश्यक होगा ताकि इन पर पौधे चढ़ सकें।

9. पौध संरक्षण

यह पौधा अपने आप में एक उपविष है, अतः सामान्यतः इसके संरक्षण हेतु किसी कीटनाशक की आवश्यकता नहीं होती, तथा इसमें ज्यादा कीट-व्याधियां नहीं लगतीं। किन्तु कभी-कभी कुछ कीट जैसे लिली, ग्रीन केटरपिलर, लीफ-ब्लाइट व रोइजोमराट जैसे कीटों व व्याधियों का प्रकोप इस पर देखा गया है। अतः इनसे बचाव हेतु फफूंदनाशी से कन्दों का उपचार कर ही रोपण करें तथा आवश्यकतानुसार 1-2 बार उपयुक्त कीट व फफूंदनाशकों का छिड़काव करें। राइजोम राढ से बचाव हेतु फफूंदनाशी की ड्रेन्चिंग की जानी चाहिये।

10. फूल व फलन

कलिहारी के पौधों पर फूल अगस्त-सितम्बर माह में व फल अक्टूबर-नवम्बर माह तक आते हैं।

11. फसल की तुड़ाई

170-180 दिनों के बाद अधपके फल जो हल्के हरे-पीले रंग के हो जाते हैं, को तोड़ कर छाया में 10-15 दिन तक सुखाना चाहिये व फलों से बीज अलग कर अच्छी तरह से सुखा लेने चाहियें। छिलका व बीज दोनों ही उपयोगी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होते हैं, अतः इन्हें अलग-अलग बोरों में संग्रहित करना चाहिये। जब अंततः कन्दों को उखाड़ा जाए (5-6 साल की फसल के बाद) तो कंदों को सुखाने के पूर्व इन्हें धोकर छोटे-छोटे टुकड़े करके ठीक से सुखाना चाहिये, क्योंकि इन्हें सूखने में करीब 2 माह लग जाते हैं। पुनः रोपण हेतु आवश्यक कंदों को बालू के ढेर में सूखे अंधेरे कमरे में भण्डारित करना चाहिये। ये कन्द मई-जून में स्वयं ही फूटने लगते हैं। अतः अच्छा हो यदि इन्हें खेत में ही लगे रहने दें तथा जब वे जुलाई में प्रस्फुटित होने लगें तो उन्हें सावधानी से खोदकर नये स्थान पर लगा दें।

12. पैदावार

कलिहारी की खेती से प्रति हैक्टेयर 250-300 किलो बीज, 150-200 किलो छिलके व पांचवें वर्ष में 2.5 से 3 टन सूखे कन्द प्राप्त होते हैं। चूंकि यह एक बहुवर्षीय फसल है, अतः एक बार रोपित कन्दों से 5 वर्ष तक बीजों का उत्पादन लिया जा सकता है व अंतिम वर्ष में कंद भी खोद लेने चाहियें।

13. कलिहारी की फसल से संबंधित आय-व्यय का विवरण

कलिहारी की फसल से 5 वर्षों में प्रति हैक्टेयर औसतन 5 से 6 लाख रुपये का शुद्ध लाभ कमाया जा सकता है। कालमेघ जैसी अंर्तवर्तीय फसलें उगाकर व नवम्बर में इसकी फसल सूखने के बाद उसी खेत में अगर भूमि के ऊपरी भाग व झाड़ियों (Stakes) को निकाल कर सिंचाई करके बिना जुताई के ही उतेरा के रूप में सरसों या धनिया की फसल लेना चाहें तो मात्र एक दो सिंचाई करके ही अतिरिक्त लाभ भी कमाया जा सकता है। दो कतारों के बीच में शीत ऋतु में अन्य लाभप्रद सब्जियों का रोपण करके अतिरिक्त लाभ भी कमाया जा सकता है। क्योंकि कलिहारी के कंद जो अन्दर ही अन्दर बढ़ते रहते हैं करीब 9-12 इन्च गहराई तक रहते हैं, अतः इन कन्दों को इन फसलों से कोई क्षति नहीं होती है।

बहुवर्षीय फसल होने से तथा आरोह व्यवस्था प्रथम व तृतीय वर्ष में करने पर यद्यपि इन वर्षों में अधिक व्यय आता है, किन्तु बीजों का उत्पादन प्रथम वर्ष से पांचवें वर्ष तक बराबर मिलता रहता है व पांचवें वर्ष कन्दों को भी निकाल कर बेचने से अतिरिक्त आय होती है। अतः एक बार रोपण करने के उपरान्त 5 वर्ष तक उसी खेत से निरन्तर आमदनी ली जा सकती है। प्रति हैक्टेयर व्यय व आय का विवरण अगले पृष्ठ पर दिया गया है। इस लाभ की मात्रा वर्षा ऋतु में कालमेघ जैसी अन्तर फसलें लेकर तथा सिंचाई सुविधा होने पर शीत व ग्रीष्म ऋतु में दो कतारों के बीच में सब्जी या कोई अन्य औषधीय फसल लेकर और भी बढ़ाई जा सकती है।

कलिहारी की खेती के लिए राष्ट्रीयकृत बैंकों या सहकारी बैंक से आवश्यकतानुसार ऋण सुविधा प्राप्त की जा सकती है। फसल का बीमा भी यूनाईटेड इण्डिया इन्श्यूरेन्स कम्पनी से सूखा, बाढ़, अग्नि आदि से सम्भावित क्षति के संबंध में करवाया जा सकता है।

कलिहारी की फसल के विपणन हेतु कहां संपर्क करें?

कलिहारी की फसल के उत्पादों का क्रय भारत स्थित विभिन्न फार्मेसियों व काष्ट औषधि व्यापारियों द्वारा किया जाता है। यह विदेशों को निर्यात भी की जाती है, अतः इसके विपणन की कोई विशेष समस्या नहीं है.

उल्लेखनीय है कि कलिहारी एक विलुप्त-प्रायः पौधा है और इसे भारत सरकार की निर्यात हेतु प्रतिबंधित पौधों की सूची में सम्मिलित किया गया है। अतः इसकी काश्त करते समय जिले के मुख्य वन अधिकारी को सूचित करना अनिवार्य होगा। इसके साथ ही इस संदर्भ में अपने स्थानीय पटवारी से इस आशय का प्रमाण-पत्र बनवा लेना भी उपयुक्त होगा कि संबंधित क्षेत्र में अथवा खसरा क्रमांक . . . . . में . . . . . क्षेत्र में इस बार कलिहारी की खेती की गई है। निःसन्देह कलिहारी एक अत्यधिक मांग वाली वस्तु है तथा शासन द्वारा इसे जंगलों से लेने पर प्रतिबंध लगा देने के कारण अब इसकी आपूर्ति केवल खेती करके ही संभव है जिसके कारण इसकी मांग तथा दरें निरन्तर बढ़ते ही जाना हैं। आशा है, इसकी बढ़ती मांग को ध्यान में रखकर कृषक इसकी खेती करके ज्यादा से ज्यादा लाभ कमायेंगे।

नोट.—अभी तक कलिहारी जंगलों से प्राप्त हो जाती थी अतः अभी इसकी कृषि तकनीकी (Agro-Technology) पूर्णतया विकसित नहीं हो पाई है तथा अभी भी इसकी खेती से जुड़े कई प्रश्नों के उत्तर कृषि वैज्ञानिकों के पास नहीं हैं। इसकी कृषि तकनीकी से संबंधित अभी भी ऐसे अनेकों बिन्दु हैं जो धीरे-धीरे स्पष्ट होंगे।

कलिहारी की खेती से संबंधित अन्य प्रमुख बिन्दु

1. कलिहारी की खेती बीजों से पौध बनाकर भी की जा सकती है तथा सीधे कन्दों को रोपित करके भी। यद्यपि

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बीजों से पौध बनाकर इसकी खेती करना अत्यधिक सस्ता है परन्तु अभी इस विधि में ज्यादा सफलता नहीं मिल पाई है। वैसे इस प्रकार तैयार की गई पौध से पहले वर्ष में फल देने वाले पौधे प्राप्त नहीं हो पाते तथा फल प्राप्त होने में 2 अथवा 3 साल लग सकते हैं। सीधे कन्द खरीदकर उनसे खेती करना यद्यपि काफी महंगा कार्य है परन्तु इससे प्रथम वर्ष में ही उत्पादन मिलने लगता है।

2. कलिहारी किन्हीं बड़े पौधों के बीच भी उगाई जा सकती है—यथा आंवला, नींबू, संगतरा, आदि। इससे इसकी फसल पर होने वाले व्ययों को कम किया जा सकता है।

3. कलिहारी की लताएं अक्टूबर-नवम्बर माह में सूखने लगती हैं तथा अगले वर्ष पुनः जून-जुलाई में प्रस्फुटित होने लगती हैं। इस प्रकार नवम्बर से मई माह तक इस खेत में कोई दूसरी फसल (जो कंदीय न हो) जैसे जर्मन चमेली, धनियां, सरसों, तोरिया आदि ली जा सकती है।

4. यदि इसकी खेती खेतों के किनारों पर अथवा झाड़ियों के आस-पास की जाए तो आरोहण व्यवस्था पर कोई विशेष खर्चा नहीं होगा।

कलिहारी की फसल पर होने वाले प्रति एकड़ आय-व्यय का विवरण

क्र.	खर्च की मद	प्रथम वर्ष	द्वितीय वर्ष	तृतीय वर्ष	चतुर्थ वर्ष	पांचवां वर्ष
क. कुल खर्चे						
1.	भूमि की तैयारी पर व्यय	1000/-	-	-	-	-
2.	रोपण सामग्री पर व्यय (16500 नग अथवा 825 कि.ग्रा. कंद कीमत लगभग 5 रु. प्रति कंद अथवा 100 रु. प्रति कि.ग्रा.)	82,500/-	-	-	-	-
3.	रोपण कार्य व निराई-गुड़ाई पर व्यय (50 कार्य दिवस वार्षिक)	2,500/-	2,000/-	2,000/-	2,000/-	2,000/-
4.	आरोहण व्यवस्था पर व्यय (1 रु. प्रति पौधा)	17,000/-	-	17,000/-	-	17,000/-
5.	खाद, टॉनिक्स तथा पैस्टीसाइडज्स आदि पर व्यय (5 टन खाद 200 रु. प्रति टन की दर से)	2,500/-	2,500/-	2,500/-	2,500/-	2,500/-
6.	सिंचाई व्यवस्था पर व्यय	800/-	800/-	800/-	800/-	800/-
7.	मजदूरी आदि पर व्यय (बीज तुड़ाई, कंद खुदाई, बीज निकलाई आदि हेतु)	500/-	500/-	500/-	500/-	1,500/-
	कुल खर्चे	**1,06,800/-**	**5,800/-**	**22,800/-**	**5,800/-**	**23,800/-**
ख. कुल प्राप्तियां						
1.	बीज की बिक्री से प्राप्तियां (500 रु. प्रति कि.ग्रा. की दर से)	75,000/- (150 कि.ग्रा. बीज)	1 लाख रु. (200 कि.ग्रा. बीज)	1.25 लाख रु. (250 कि.ग्रा. बीज)	1.50 लाख रु. (300 कि.ग्रा. बीज)	2 लाख रु. (400 कि.ग्रा. बीज)
2.	कंदों की बिक्री से प्राप्तियां (40 रु. प्रति कि.ग्रा. की दर से)	-	-	-	-	1.20 लाख रु. (3 टन कंद)

लाभ = पांच वर्षों में कुल लागत = 1,45,000/- पांच वर्षों में कुल प्राप्तियां = 6.50 लाख रु.

ग. पांच वर्षों की फसल से कुल लाभ = 5.05 लाख रु.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

17. पिप्पली अथवा लेंडी पीपल

पिप्पली का वैज्ञानिक नाम Piper Longum है। इसे हिन्दी में पीपर अथवा पीपला, मराठी में पिंपली, पानपिपली, लेंडी पिंपली तथा संस्कृति में चंचला, चपला, मागधी आदि नामों से जाना जाता है। अंग्रेजी में इसे लांग पीपर (Long Peper) तथा लैटिन में इसे पाइपर लांगम (Piper Longum Linn) के नाम से जाना जाता है। यह पौधा पायपरेसी (Piperaceae) कुल के अन्तर्गत आता है।

पिप्पली एक बहुवर्षीय एवं लतावर्गीय वनस्पती है। इसकी पत्तियां और लताएं पान की पत्तियों जैसी मगर थोड़ी छोटी और ह्रदयाकृती जैसी होती हैं। इसके पके हुए फलों का रंग काला-हरा (Blackish Green) होता है जोकि सूखने पर काला हो जाता है। पिप्पली का फल 1.5 से 3.0 से.मी. लम्बा और 0.5-0.7 सें.मी. मोटा गोलाकार (राऊँड) होता है। यद्यपि पिप्पली के दो प्रकार—बड़ी पिप्पली तथा छोटी पिप्पली ही ज्यादा प्रसिद्ध हैं परन्तु भाव प्रकाश निघन्टु में पिप्पली की चार प्रजातियाँ वर्णित हैं—1. पिप्पली, 2. गजपिप्पली, 3. सिंहली तथा 4. वन पिप्पली।

पिप्पली की लताओं पर लगे लेंडी पीपल के फल

पिप्पली का उत्पत्ति स्थान

पिप्पली का उत्पत्ति स्थान इंडोनेशिया तथा मलेशिया है। यह वनस्पति भारत, नेपाल, श्रीलंका आदि देशों के जंगलों में भी पायी जाती है। भारत में इसकी विधिवत खेती महाराष्ट्र, केरल, आंध्रप्रदेश, कर्नाटक, तामिलनाडु, उड़ीसा, आसाम तथा पं. बंगाल में की जा रही है। वर्तमान में **महाराष्ट्र के अकोला तथा अमरावती जिलों में इसकी खेती बड़े पैमाने पर की जा रही है।** महाराष्ट्र के अकोला जिले के आकोट तथा अंजनगांव क्षेत्रों में इसकी लगभग 1500 एकड़ में खेती हो रही है। मध्यप्रदेश में भी इसकी खेती प्रारम्भ हो चुकी है तथा इसके प्रारंभिक परिणाम काफी उत्साहवर्धक हैं।

पिप्पली के औषधीय उपयोग तथा रासायनिक गुणधर्म

पिप्पली के उपयोग से सभी परिचित हैं—इसका उपयोग न केवल अनेकों औषधियों के निर्माण में किया जाता है, बल्कि मसालों के निर्माण में भी इनका काफी मात्रा में उपयोग किया जाता है।

पिप्पली के तने (स्टेम), मूल और फलों का उपयोग बहुत पुराने समय से आयुर्वेदिक तथा यूनानी दवाओं के निर्माण में होता रहा है। मुख्यतया पिंप्पली का उपयोग सर्दी, खांसी, दमा, अस्थमा, ब्रॉन्काइटिस, वात, मुलव्याध, मेदरोग, कुष्ठरोग, अपचन, पीलिया तथा जुकाम की दवाई बनाने में किया जाता है। पिप्पली में पाइपरीन, पिपलार्टिन, पायपरोलक्टम तथा 'ए' और 'बी' पायपोराडीओन आदि एल्कोलाईड्स पाये जाते हैं। पिप्पली मूलतः अग्निदीपक (पाचक अग्नि वढ़ाने वाली), वृष्य, पाक होने पर मधुर रसयुक्त, स्निग्ध वात, तथा कफनाशक होती है। यह रेचक (मल निकालने वाली) होती है तथा श्वास रोग, कास (खासी), उदररोग, ज्वर, कुष्ठ, प्रमेय गुल्म, बवासीर, प्लीहा,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शूल एवं आमवात नाशक होती है। कच्ची अवस्था में लेने पर यह कफहारी, स्निग्ध, शीतल, भारी तथा पित्तशामक होती है परन्तु सूखी अवस्था में लेने पर यह पित्त को कुपित करती है। शहद के साथ लेने पर यह मेद, कफ, श्वास और ज्वर का नाश करती है। गुड़ के साथ लेने पर यह पुराने ज्वर और अग्निमांध में लाभ करती है तथा कास (खांसी) अजीर्ण, अरूचि, श्वास, हृदय रोग, पान्डूरोग, कृमि को दूर करने वाली होती है। पिप्पली के विभिन्न योगों से बनाई जाने वाली अनेकों औषधियां बाजार में उपलब्ध हैं जैसे—पिप्पलयासव, पिप्पली क्वाथ, पिप्पलयादि चूर्ण, कृष्णादि चूर्ण, 64 प्रहरी पिप्पली, पाचक पिपली, पिपली पाक आदि। पिप्पली के उपरोक्त उपयोगों के साथ-साथ इससे पेचिश, बवासीर, मोटापा दूर करने, दांत निकलने में आसानी होने, आंखों की खुजली दूर करने, साइटिका दर्द दूर करने तथा आमातिसार आदि में भी इसके योगों से बनी दवाईयां प्रयुक्त की जाती हैं।

पिप्पली की खेती तथा कृषि तकनीक

अनेकों औषधीय उपयोगों तथा मसालों में प्रयुक्त होने के कारण पिप्पली की वर्तमान बाजार में काफी व्यापक मांग है जिसके कारण इसकी खेती की जाना काफी लाभकारी है। महाराष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों में इसकी काफी बड़े पैमाने पर खेती की जा रही है। इसकी व्यवसायिक खेती के लिये उपयुक्त कृषि तकनीक निम्नानुसार है—

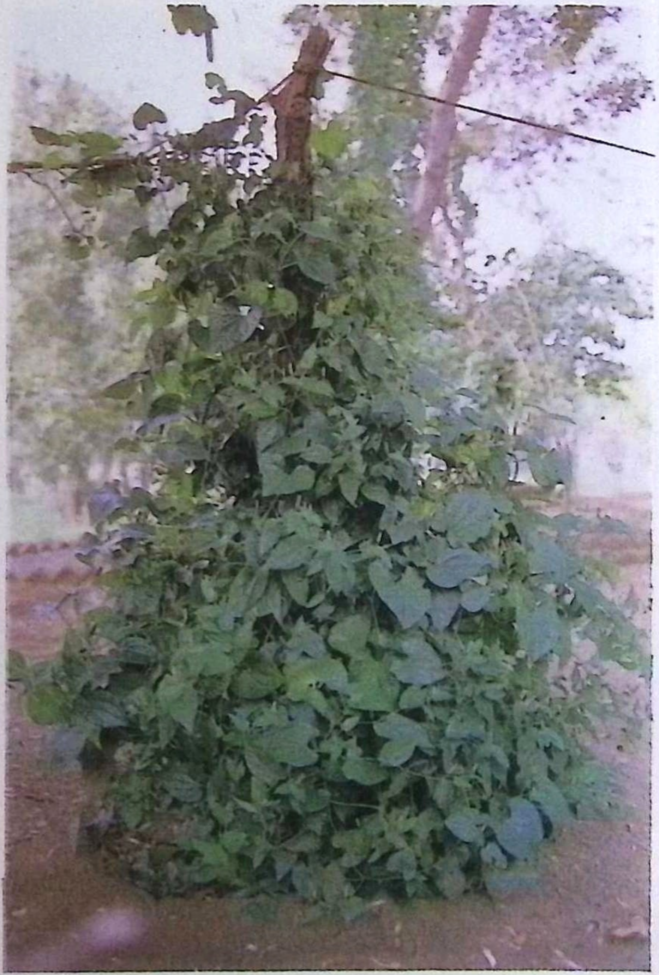

लेंडी पीपल की फैली हुई लताऐं

भूमि एवं जलवायु

पिप्पली की खेती के लिए लाल मिट्टी वाली सिल्ट दुमट से लेकर मध्यम, भारी एवं उत्तम जल निकास वाली भूमि बहुत अच्छी होती है। इसकी खेती के लिए ऊष्ण तथा अधिक आर्द्रता धारण करने वाले क्षेत्र ज्यादा उपयुक्त पाये गये हैं। **जिन स्थानों पर पान की खेती होती हो, वे इसकी खेती के लिए काफी उपयुक्त होते हैं।**

खेत की तैयारी

पिप्पली की फसल की एक बार रोपाई करने के उपरान्त यह 3-5 साल तक चलती है। जिस खेत में पिप्पली की खेती करना हो उसकी बिजाई से पूर्व दो-तीन बार जुताई करके तथा इसमें बख़र चलाकर खेत को भुरभुरा तैयार करना चाहिए। खेत समतल होना चाहिए, ताकि इसमें पानी ज्यादा समय तक खड़ा न रह सके। धूप और पाले से बचाने के लिए खेत के चारों और फूस

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तथा पत्तियों की छाड़नी (टट्टी) बना देनी चाहिए। खेत की तैयारी के समय 40-50 टन गोबर की खाद के साथ नायट्रोजन, फॉस्फोरस तथा पोटाश 20:40:40 प्रति हैक्टेयर की दर से मिट्टी में मिला देनी चाहिए। पौधों की रोपाई के एक माह पश्चात प्रति हैक्टेयर 100 कि.ग्रा. डायअमोनियम फॉस्फेट (डी.ए.पी.) और जुलाई-अगस्त में 40 कि.ग्रा. डी.ए.पी. प्रति हैक्टेयर की दर से देना अधिक उपज के लिए उपयुक्त रहता है।

पिप्पली के पौधों का प्रवर्धन

पिप्पली के पौधों का प्रवर्धन इसकी शाखाओं (कलमों) द्वारा किया जाता है। इसके पौधों का प्रवर्धन रोपण समय से 2-3 माह पूर्व करना चाहिए। अधिकांशत: इसके पौधे फरवरी-मार्च में तैयार किए जाते हैं। पौधे 8×15 सें.मी. की पौलिथीन की थैलियों में शाखा कलम द्वारा तैयार किये जाते हैं। प्रत्येक शाखा कलम 8-10 सें.मी. लम्बी, 3-6 आंख (नोडस) वाली तथा 2 से 3 पत्तीयुक्त होनी चाहिए। पौलिथीन की थैलियों में लगाने के पूर्व उन्हें स्टेक्स हार्मोन लगाना आवश्यक होता है। नर्सरी छायादार स्थान पर तैयार करनी चाहिए। नर्सरी की प्रतिदिन हल्की सिंचाई करना आवश्यक है। इसकी कलमों का रोपण प्राय: महाशिवरात्री पर्व से प्रारंभ हो जाता है।

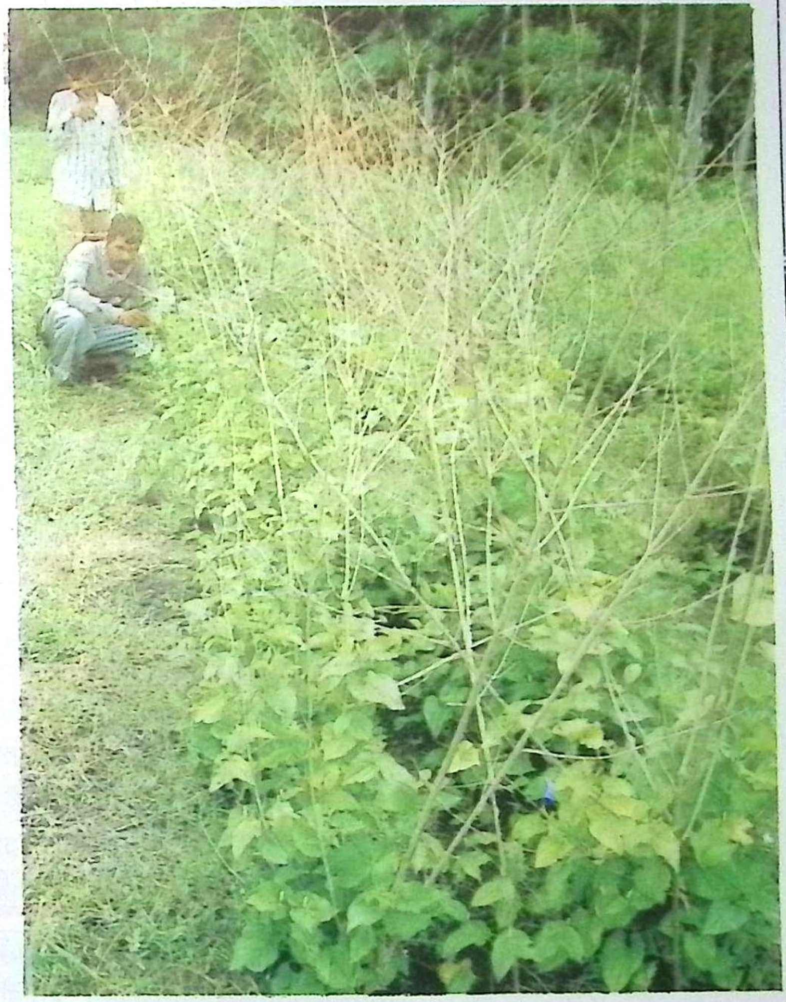

लेंडी पीपल की लताओं के लिए आरोहण व्यवस्था

रोपण का तरीका

पौधों के रोपण के लिए 1.50×3.0 मी. चौड़ी क्यारियां तैयार कर ली जाती हैं। इन क्यारियों में सिंचाई व जल निकास की व्यवस्था अवश्य करनी चाहिए। प्रत्येक क्यारी में जोड़ी की दो पक्तियां 60×60 सें.मी. की दूरी पर बनाई जाती हैं। नर्सरी में तैयार किये गए पौधों को 60×30×30 सें.मी. (जोड़ पंक्ति × पौधा) दूरी पर रोपण किया जाता है। प्रत्येक स्थान पर 2-3 पौधों को रोपण किया जाता है। एक हैक्टेयर के क्षेत्र में लगभग 70,000 कलमें लगाई जाती हैं। कलमों की वर्तमान बाजार दर लगभग 400 रु. प्रति हज़ार कलम है। रोपाई के तुरन्त बाद हल्की सिंचाई कर देनी चाहिए। पिप्पली की लताओं (बेलों) को सहारा (स्पोर्ट) देने के लिए रोपाई के समय प्रत्येक पौधे के साथ एरंड, पांगरा, अथवा अगस्ती (हट्टीया) बीजे जाते हैं ताकि इसकी बेलें उन पर चढ़ सकें। सूखी झाड़ियों का उपयोग भी लताओं को सहारा देने के लिए किया जा सकता है। पौधों की समुचित वृद्धि के लिए आवश्यकतानुसार 3 से 5 दिनों के अंतराल से सिंचाई करना आवश्यक होती है। हर साल वर्षा ऋतु के पूर्व सिंचाई के समय 20 टन गोबर की खाद प्रति हैक्टेयर की दर से मिट्टी में मिला देनी चाहिए

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

और पौधों को मिट्टी की स्पोर्ट देनी चाहिए। समय-समय पर पौधों की निराई एवं गुड़ाई करना भी आवश्यक होता है।

बढ़ने वाली लताओं को केला के स्तंभ की पत्तियों अथवा सूतली से आधार के लिए एरंड, पांगरा अथवा अगस्ती (हट्‌टीया) के पौधों के साथ बांध देना चाहिए। पिप्पली के पौधों को कीड़ों द्वारा कोई क्षति नहीं होती है तथा यह केवल टिप्पा तथा ब्लाईट द्वारा प्रभावित होती है। ब्लाईट की रोकथाम के लिए बोर्डो मिक्चर एक प्रतिशत तथा ब्लायटॉक्स 2 से 2.5 ग्राम प्रति लिटर की दर से पानी में डालकर छिड़कना चाहिए।

फसल की कटाई

रोपाई के लगभग 4-5 माह बाद लताओं में फूल आने शुरू हो जाते हैं तथा अक्टूबर-नवम्बर में पिप्पली के फल परिपक्व हो जाते हैं। फल वर्ष में एक बार ही आते हैं। प्रतिवर्ष 4-5 हफ्तों के अंतराल में फलों की तुड़ाई करीबन 3-5 साल तक मिलती रहती है। फसल लेने के उपरान्त लताओं की कटाई कर दी जाती है तथा कुछ समय के बाद पौधे से पुनः पत्तियां आनी शुरु हो जाती हैं। (इन कटी हुई टहनियों को कलमों के रूप में भी प्रयुक्त किया जा सकता है)। पिप्पली की बिजाई हेतु कलमें भोपाल से भी प्राप्त की जा सकती हैं।

पिप्पली के फलों की उपज (प्रति हैक्टेयर)

पिप्पली की खेती से प्रति एकड़ औसतन 4 से 6 क्विंटल सूखी पिप्पली के फल प्रतिवर्ष करीबन 3-5 साल तक मिलते रहते हैं। इसके अतिरिक्त पांच साल के उपरान्त इसकी जड़ों (मूल) को भी उखाड़ कर बेचा जा सकता है। इस प्रकार पांचवें वर्ष में करीब एक क्विंटल सूखी जड़ें भी इससे प्राप्त होती हैं जिनका बाजार मूल्य लगभग 15,000 रु. प्रति क्विंटल है। वैसे आंध्रप्रदेश के विशाखापट्टनम इलाके में इसकी केवल जड़ों के लिए भी खेती की जाती है।

वर्तमान में सूखी पिप्पली का बाजार मूल्य 60 से 100 रुपये प्रति कि.ग्रा. है। इस प्रकार पिप्पली की खेती से प्रति वर्ष, प्रति एकड़ औसतन 40,000 से 60,000 रुपये तक की प्राप्तियां हो सकती हैं। इसके साथ-साथ जड़ों की बिक्री से भी पांचवें वर्ष में लगभग 15,000 रु. की अतिरिक्त प्राप्तियां होंगी।

पिप्पली की खेती के लिए बीजों/कलमों का प्राप्ति स्थल

पिप्पली की खेती के लिये बीज/कलमें निम्नलिखित पतों से प्राप्त की जा सकती हैं—

- प्रभारी, औषधीय एवं सुगंधीय
  वनस्पति परियोजना,
  महात्मा फुले कृषि विद्यापीठ,
  राहुरी, जिला अहमदनगर,
  महाराष्ट्र-413722

- **प्रमुख,**
  मेडीसीनल प्लांट्स प्रोजेक्ट,
  कॉलज ऑफ हार्टीकल्चर,
  वेल्लानीकारा, **त्रिचूर-680654.**

आराध्य ग्रुप
(औषधीय एवं सुगंधीय पौधों की खेती कर रहे कृषकों का समूह)
आराध्य मार्केटिंग एंड सेल्स
1967/1, राइट टाऊन, स्टेडियम गेट नं. 4 के सामने, जबलपुर (म.प्र.)
फोन : (आ.) 0761-24770, 317779, 391072
(नि.) 411952 (फैक्स) 317779
संपर्क सूत्र : श्याम सोहाने, ब्रजेश सोहाने

इच्छुक कृषकों के लिए मुश्कदाना, बच, चन्द्रशूर, जेट्रोफा, कौंच, लेमनग्रास, पामारोजा, सिट्रोनेला, मेन्था, कलिहारी, सफेद मूसली, सतावर, गटारन, गुग्गल आदि औषधीय पौधों की व्यावसायिक स्तर पर हो रही खेती देखने हेतु भ्रमण की व्यवस्था एवं अन्य जानकारियाँ जबलपुर में उपलब्ध.

हमारी प्रमुख सेवायें
• उपरोक्त औषधीय/सुगंधीय पौधों की खेती की विधि (कृषि तकनीक) से संबंधित परामर्श • बीज एवं प्लांटिंग मैटेरियल का प्रदाय • औषधीय पौधों के उत्पादों की बिक्री में सहायता.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

18. सनाय अथवा सोनामुखी

प्रायः ऐसे कृषक अथवा उद्यमी जिनका औषधीय पौधों की कृषि के बारे में कोई अनुभव न हो अथवा जो परम्परागत कृषि छोड़कर कोई ऐसा जोखिम न उठाना चाहते हों जिसमें उन्हें ज्यादा हानि की संभावना प्रतीत होती हो अथवा जो अपनी बंजर जमीन (जिसमें कोई उपज न होती हो) का उपयोग लाभार्जन हेतु करना चाहें, अथवा ऐसे व्यक्ति जो अपनी भूमि का उपयोग तो करना चाहें परन्तु कृषि कार्य पर ज्यादा ध्यान न दे सकें (प्रायः किन्हीं नौकरी पेशा व्यक्तियों के पास ऐसी जमीनें उपलब्ध होती हैं जो खाली पड़ी रहती हैं तथा उस पर वे ज्यादा ध्यान नहीं दे पाते), तो ऐसे कृषकों/क्षेत्रों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है—सेन्ना/सनाय अथवा सोनामुखी की खेती। पूर्णतया बंजर भूमि में उपजाए जा सकने वाले इस औषधीय पौधे के लिए न तो ज्यादा पानी की आवश्यकता है, न खाद अथवा फर्टीलाइज़र की

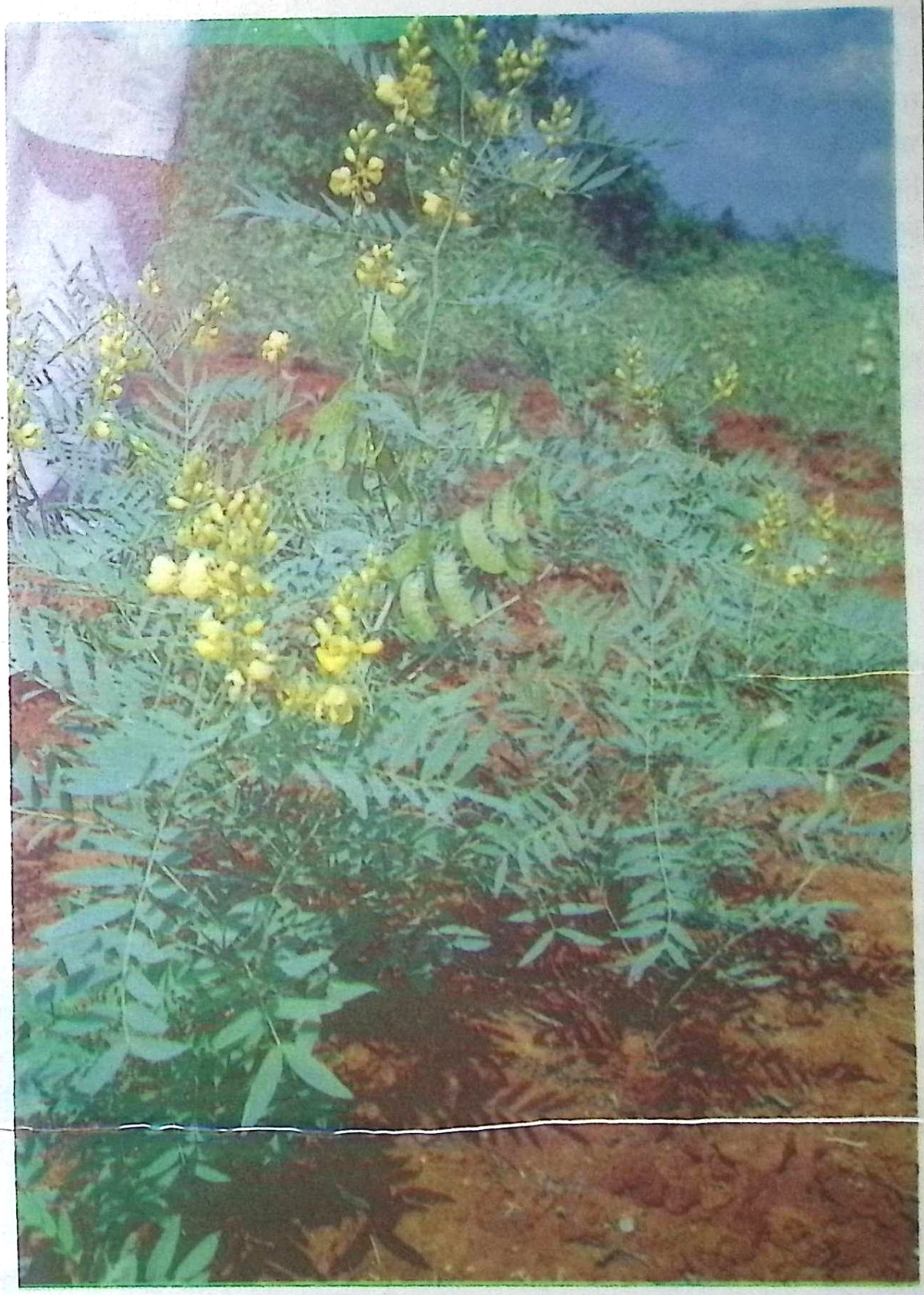

फूलों तथा फलियों से लदा सनाय का पौधा (म.प्र. के सागर जिले में श्री विनोद जैन द्वारा उत्पादित फसल का एक नमूना—उल्लेखनीय है कि श्री विनोद जैन सागर में 100 एकड़ के क्षेत्र में सनाय की सफलतापूर्वक खेती कर रहे हैं)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तथा न ही किसी विशेष सुरक्षा अथवा देखभाल की। एक बार लगा देने के उपरांत पांच वर्ष तक उपज देने वाले इस पौधे को न तो कोई जानवर (गाय, बैल, बकरी, हिरण) आदि खाते हैं तथा न ही इन्हें कोई कीट हानि पहुंचाते हैं। इस उत्पाद के लिए बाजार (बिक्री) की भी कोई समस्या नहीं है। इस प्रकार भारत के विभिन्न भागों विशेष रूप से बंजर भूमि में इस औषधीय पौधे की खेती करके पर्याप्त लाभ कमाया जा सकता है। इस पौधे की खेती करने से संबंधित अन्य विवरण निम्नानुसार हैं—

सनाय के पौधे के बारे में सामान्य विवरण

सनाय का पौधा कांटेरहित झाड़ीनुमा पौधा होता है जिसकी ऊंचाई 40 से.मी.से 120 से.मी. तक की होती है। यह एक बहुवर्षीय पौधा होता है तथा एक बार लगा देने के उपरान्त पांच वर्ष तक फसल देता है। यह पौधा मूलत: अरब देश का पौधा है तथा वहीं से यह भारत में आया था। हिन्दी में यह पौधा सेन्ना अथवा सनाय, राजस्थान में सोनामुखी तथा संस्कृत में मार्कण्डी आदि नामों से जाना जाता है। इसका वानस्पतिक नाम है—केसिया आंगस्टीफोलिया वाल (Casia Angustifolia Vahl)। अंतराष्ट्रीय बाजार में इसे इंडियन सेन्ना अथवा टिन्नेवेली सेन्ना के नाम से जाना जाता है। यह ''लेगुमीनस'' कुल का पौधा है। यद्यपि भारतवर्ष में इसकी खेती तामिलनाडु राज्य में प्रारंभ हुई थी परन्तु वर्तमान में केरल तथा राजस्थान में भी इसकी खेती काफी मात्रा में हो रही है।

क्यों है बहुपयोगी सनाय की खेती?

- किसी भी प्रकार की भूमि (विशेषतया बंजर भूमि) में पैदा हो सकती है.
- अतिरिक्त सिंचाई की आवश्यकता नहीं.
- किसी प्रकार की खाद अथवा कीटनाशकों की आवश्यकता नहीं.
- पशुओं अथवा पक्षियों से नुकसान नहीं.
- रख-रखाव पर कोई खर्च नहीं.
- ज्यादा देखभाल की आवश्यकता नहीं.
- बोने से चार माह के अंदर ही बेचने के लिए तैयार हो जाती है.
- एक बार लगा देने के उपरान्त पांच वर्ष तक फसल देती रहती है.
- पौधे में वर्षभर फूल आते रहते हैं अत: मधुमक्खी पालन हेतु लाभकारी है.
- बेकार पड़ी जमीन का उचित उपयोग.
- भूमि की ऊपरी मृदा को सुरिक्षत रखती है.
- भू-संरक्षण तथा जल संरक्षण के लिये उपयुक्त.
- फसल की प्रोसैसिंग पर कोई व्यय नहीं.
- जिस खेत में यह फसल लगाई जाए वह वर्ष पर हरा-भरा रहता है.
- फसल की बिक्री के लिए कोई समस्या नहीं। ज्यादा मात्रा में उपजाई जाए तो खरीददार स्वयं आकर ले जा सकते हैं.

सनाय की औषधीय उपयोगिता तथा उपयोग

सनाय मुख्यतया एक रेचक (Luxative) का कार्य करता है। इसकी पत्तियों तथा फलियों में सेनोसाइड पाए जाते हैं जिनका उपयोग दवाई निर्माण हेतु किया जाता है। इसकी पत्तियों में 2 से 3% तथा फलियों में 4 से 5% सेनोसाइड पाए जाते हैं। यद्यपि सनाय की पत्तियों का मुख्य उपयोग पेट की बीमारियों से संबंधित दवाई बनाने हेतु किया जाता है परन्तु इनके साथ-साथ इनसे अनेकों अन्य दवाइयां भी बनाई जा रही हैं, जैसे—पीलिया, अस्थमा, मलेरिया, बुखार, अपच आदि। वर्तमान में अनेकों आयुर्वेदिक, एलोपैथिक तथा यूनानी व होम्योपैथिक दवाइयों के निर्माता इसकी पत्तियों का उपयोग विभिन्न दवाइयों के निर्माण हेतु कर रहे हैं। उदाहरणार्थ सुप्रसिद्ध 'कायम चूर्ण' में 50% मात्रा सनाय पत्तियों की ही होती है।

सनाय की खेती के लिये उपयुक्त जलवायु

जैसा कि उपरोक्तानुसार वर्णित है, सनाय मूलत: अरब उत्पत्ति का पौधा है अत: इसके लिए शुष्क जलवायु तथा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

काफी कम वर्षा की आवश्यकता होती है। यह पौधा न्यूनतम 4 डिग्री तथा अधिकतम 50 डिग्री सेल्सियस तक की गर्मी सहन करने की क्षमता रखता है। इस प्रकार भारत के लगभग सभी राज्यों में इसकी खेती सफलतापूर्वक की जा सकती है। यद्यपि यह सभी प्रकार की भूमियों (ज्यादा लवणीय भूमियों को छोड़कर) में उगाया जा सकता है परन्तु इसकी खेती के लिए रेतीली से लेकर दोमट मिट्टी ज्यादा उपयुक्त रहती है। विशेष रूप से ऐसे क्षेत्र जहां कभी खेती न हुई हो (बंजर क्षेत्र) अथवा जहां खेती में कभी रासायनिक खाद का उपयोग न किया गया हो, में इसकी उपज काफी गुणवतापूर्ण होती है। इसके लिए काफी कम वर्षा की जरूरत होती है तथा जिन क्षेत्रों में प्राकृतिक वर्षा 30 से.मी. तक हो, इसकी खेती के लिए उपयुक्त होते हैं। इस प्रकार इस पौधे के लिए किसी अतिरिक्त सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती। अतः ऐसे क्षेत्र जो बंजर पड़े हुए हों, अथवा जहां किसी प्रकार की खेती न होती हो, जंगली क्षेत्र (जंगलों में खाली पड़े पैच) तथा ऐसे अन्य क्षेत्र जहां कोई अन्य फसल ले पाना संभव न हो अथवा जहां कृषक खेती पर ज्यादा ध्यान न दे पाएं, इसकी खेती के लिए ज्यादा उपयुक्त माने जाते हैं। जिन क्षेत्रों में सिंचाई की व्यवस्था हो, अथवा जिन क्षेत्रों में ज्यादा दिनों तक पानी भरा रहता हो (दलदली जमीनें), वहां इसकी खेती करना न तो उपयुक्त होगा तथा न ही लाभप्रद। क्योंकि इसकी जड़ें जमीन में काफी नीचे तक चली जाती हैं अतः एक बार उग जाने के उपरान्त इसकी जड़ें अपने आप पानी खोज लेती हैं। परिणामतः इन्हें सिंचाई की आवश्यकता नहीं पड़ती।

सनाय की बिजाई की विधि

सनाय की बिजाई इसके बीजों द्वारा की जाती है। इसकी बिजाई के लिए 15 जुलाई से 15 सितम्बर तक का समय उपयुक्त माना जाता है। वैसे बरसात की अंतिम बारिश के तुरन्त बाद जब खेत में पर्याप्त नमी हो तब इसकी बिजाई करना उपयुक्त रहता है। यद्यपि इसकी बिजाई हल या ट्रेक्टर से की जाना चाहिए परन्तु छिड़काव पद्धति से भी इसकी सफलतापूर्वक बिजाई की जा सकती है। हालांकि इसकी बिजाई से पूर्व खेत की कोई विशेष तैयारी करने की आवश्यकता नहीं होती फिर भी यदि एक दो बार हल चलाकर खेत की गहरी जुताई करली जाए तो उपयुक्त रहेगा। इसकी बिजाई करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि कतार से कतार तथा पौधे से पौधे की दूरी 30 सें.मी. (एक फुट) से अधिक न हो। प्रायः इसके बीजों का उगाव (Germination) 60 से 70% तक हो पाता है अतः इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि उगने के उपरान्त कम से कम पौधे से पौधे तथा कतार से कतार की दूरी 1 × 1 फीट से ज्यादा न हो। बीज एक इंच से ज्यादा गहरा नहीं बीजना चाहिए अन्यथा उसके उगने में कठिनाई हो सकती है। बीज प्रायः 3 से 15 दिनों में अंकुरित हो जाते हैं। एक एकड़ में बिजाई हेतु लगभग 4 कि.ग्रा. बीज की आवश्यकता होती है जिसकी वर्तमान दर 200 से 300 रु. प्रति कि.ग्रा. है। एक कि.ग्रा. वजन में सनाय के करीब 15,000 बीज आते हैं। यदि खेत में खरपतवार पैदा हो जाए तो एक बार निराई कर देनी चाहिए। वैसे जब पौधे बड़े हो जाएं तो उस खेत में पशु छोड़े जा सकते हैं जो घास-पात (खरपतवार) को तो खा जाते हैं परन्तु इसके पौधों को कोई नुकसान नहीं पहुंचाते।

सनाय की खेती को होने वाली प्रमुख बीमारियां

सनाय के पौधों को कोई विशेष बीमारी नहीं होती। यह पौधा बीमारियों से लड़ने की क्षमता स्वयं रखता है। बरसात के मौसम में कभी-कभी इसके पत्तों पर काले धब्बे दिखाई पड़ने लगने हैं परन्तु इसमें परेशान होने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि धूप निकलने पर ये स्वतः ही ठीक हो जाते हैं। अतः इन पर किसी दवाई अथवा कीटनाशक का उपयोग करने की आवश्यकता नहीं होती। इस पौधे को किसी प्रकार की खाद की भी आवश्यकता नहीं होती। विशेषतया रासायनिक खाद का तो कभी भूलकर भी उपयोग नहीं किया जाना चाहिए। इस पौधे को दीमक अथवा टिड्डी दल भी नुकसान नहीं पहुंचाते। इसके अतिरिक्त इस पौधे को कोई पालतू अथवा जंगली जानवर जैसे गाय, भैंस, ऊंट, बकरी, नीलगाय, हिरण, खरगोश आदि भी नहीं खाते, अतः इसकी जानवरों से सुरक्षा करने पर भी किसी प्रकार का खर्च करने की आवश्यकता नहीं होती।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

फसल की तैयारी तथा कटाई

इस फसल की एक बार बिजाई कर देने के उपरान्त उसे किसी विशेष हिफ़ाजत की आवश्यकता नहीं होती। बिजाई के करीब 100 दिनों के उपरान्त इसकी पत्तियां काटने लायक हो जाती हैं। इस स्थिति पर पहुंच जाने के उपरान्त सनाय के पौधों की कटाई कर लेनी चाहिए। पौधे को जमीन से तीन इंच ऊपर से काटना चाहिए तथा काटने हेतु तेज धार वाले हंसिए का उपयोग करना चाहिए। काटते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि पौधा जमीन से न उखड़े तथा जमीन से इतना ऊपर से कटे कि उसमें आसानी से दोबारा पत्ते आ जाएं। पत्ते समय पर काट लेने चाहिएं (जब वे पहली कटाई के समय लगभग 100 से 120 दिन के तथा बाद की कटाइयों में 60 से 75 दिन के हो जाएं) अन्यथा यदि पत्ते ज्यादा पुराने हो जाएं तो पौधे के नीचे के पत्ते झड़ने लगते हैं जिससे उपज का नुकसान होता है। इसके अतिरिक्त ज्यादा पुराना हो जाने पर पत्ते पतले तथा पौधे की टहनियां मोटी होने लगती हैं जिससे एक तो उपज में कमी आ सकती है दूसरे इससे उपज की गुणवत्ता भी प्रभावित हो सकती है। कटाई कर लेने के उपरान्त पौधों पर पुनः पत्ते आने लगते हैं जिनकी 60 दिनों के अंतराल पर कटाई कर लेनी चाहिए। इस प्रकार एक बार लगा देने के उपरान्त यह पौधा 5 साल तक उपज (पत्ते) देता रहता है तथा प्रतिवर्ष इसकी चार कटाइयां (60-60 दिनों के अंतराल पर) ली जा सकती हैं।

उपज तथा उसका संग्रहण

जैसा कि उपरोक्तानुसार वर्णित है, सनाय की फसल का प्रमुख उत्पादन होता है—इसके पत्ते। इसके पत्ते सूखने के उपरान्त भी उनका रंग हरा रहना चाहिए इसलिए फसल काटने के उपरान्त उनकी छोटी-छोटी ढेरियां लगा देनी चाहिएं जिनके थोड़ा सूख जाने पर इसकी बड़ी ढेरियां लगा दी जानी चाहिएं। पत्तों का रंग हरा रहे इसके लिए पत्तों को छाया में सुखाया जाना उपयुक्त रहता है। सूख जाने पर एक तिरपाल बिछा कर पत्तियों को झाड़ लिया जाना चाहिए जिससे पत्तियां अलग हो जाएं तथा डंठल अलग हो जाएं। यह ध्यान रखना चाहिए कि झड़े हुए पत्तों में टहनियां अथवा डंठल न रहें। ये डंठल जलाने के काम में लाए जा सकते हैं। टहनियों से झाड़े गए पत्तों को बोरों में भर कर बिक्री हेतु भिजवाया जा सकता है। क्योंकि पत्ते हल्के होते हैं अतः यह ध्यान रखना चाहिए कि जिन बोरों में पत्ते भरे जाएं वे हल्के बारदाने के बने हों। प्रायः इस कार्य हेतु 50'' × 50'' के बोरों को उपयोग में लाया जाना उपयुक्त रहता है।

क्या सनाय के पत्तों को पीस करके (पल्वराइज़ करके) भी बेचा जा सकता है?

यद्यपि पत्तों को बेचने की बजाए इनका चूर्ण बना कर (इन्हें पल्वराइज़ करके) बेचा जाए तो उत्पाद को ''हैंडल'' करना अपेक्षाकृत आसान रहता है तथा उसकी ट्रांसपोर्टेशन पर भी अपेक्षाकृत कम लागत आएगी (क्योंकि इसका ''वाल्यूम'' कम हो जाएगा) परन्तु दवा कम्पनियों द्वारा इस प्रकार का चूर्ण बनाई हुई पत्तियां पसन्द नहीं की जातीं क्योंकि इसमें मिलावट की सम्भावनाएं ज्यादा रहती हैं। अतः अधिकांशतः खरीददार पत्ती खरीदना ही पसन्द करते हैं, न कि पत्ती का चूर्ण। निर्यात भी इसके पत्तों का ही होता है।

उपज तथा उत्पादन की मात्रा

चार कटाइयों में वर्षभर में सनाय की फसल से लगभग 400 कि.ग्रा. सूखी पत्तियों का उत्पादन होता है। वर्तमान में देशीय बाज़ार में इसकी सूखी पत्तियों की बिक्री दर लगभग 20 से 25 रु. प्रति कि.ग्रा. है। प्रायः पहली बिजाई पर ही ज्यादा खर्च होता है तथा क्योंकि एक बार लगा देने के उपरान्त यह फसल 5 साल तक उपज देती है, अतः आगे की फसलों पर ज्यादा खर्च नहीं होता।

10. सनाय की फसल पर होने वाले आय-व्यय का विवरण

क्योंकि सनाय की फसल 5 वर्ष तक उपज देती है अतः इसे पंच वर्षीय फसल मान कर इस पर होने वाली आय-व्यय को निम्नानुसार देखा जा सकता है—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

1. प्रथम वर्ष की आय-व्यय का विवरण

अ. प्रति एकड़ व्यय (प्रथम वर्ष)

क.	प्रथम वर्ष में खेत की तैयारी पर व्यय	=	150 रु.
ख.	बीज की लागत (200 रु. प्रति कि. ग्रा. की दर से 4 कि.ग्रा. बीज हेतु)	=	800 रु.
ग.	फसल की बुवाई पर खर्च	=	50 रु.
घ.	फसल की निराई, कटाई, सफाई पर व्यय	=	500 रु.
च.	पैकिंग हेतु बोरों पर व्यय	=	250 रु.
छ.	फसल की ढुलाई पर व्यय तथा अन्य खर्चे.	=	250 रु.
	कुल खर्च	=	**2000 रु.**

ब. प्रति एकड़ प्राप्तियां (प्रथम वर्ष में)

400 कि.ग्रा. पत्तों की बिक्री से प्राप्तियां = 8000/-
(औसतन 20 रु. प्रति कि.ग्रा. की दर से)

स. प्रथम वर्ष में शुद्ध लाभ = **6000/-**

आगामी वर्षों (द्वितीय से पांचवें वर्ष तक) की आय-व्यय का विवरण

अ. प्रति एकड़ व्यय

द्वितीय से पांचवें वर्ष में केवल उपरोक्तानुसार दर्शाई गई 'घ', 'च' तथा 'छ' मदों पर ही खर्च होगा तथा इस प्रकार प्रति एकड़ वर्ष भर में आने वाली लागत होगी = 1000रु.

ब. प्रति एकड़ प्राप्तियां

400 कि.ग्रा. पत्तों की 20 रु. प्रति कि.ग्रा. की दर से बिक्री से प्राप्तियां = 8,000 रु.

स. प्रति एकड़ लाभ = **7000 रु.**

उपरोक्तानुसार देखा जा सकता है कि सनाय की फसल से प्रतिवर्ष प्रति एकड़ 6,000 रु. से 7,000 रु. तक का लाभ कमाया जा सकता है। यद्यपि किन्हीं अन्य औषधीय पौधों की खेती की तुलना में सनाय की खेती से होने वाले लाभ की मात्रा कम प्रतीत होती है परन्तु यह देखते हुए कि इस फसल के लिए न तो किसी विशेष प्रकार की हिफाज़त की जरूरत है तथा न ही इसकी खेती हेतु किसी विशेष तकनीकी जानकारी की जरूरत है—यह फसल काफी लाभप्रद है। इसके अतिरिक्त यह फसल बंजर भूमि (जहां कोई और फसल नहीं हो सकती) में आसानी से उपजाई जा सकती है तथा इसके लिए किसी प्रकार की अतिरिक्त सिंचाई की आवश्यकता भी नहीं होती। अतः इन समस्त पहलुओं को देखते हुए इस फसल की खेती काफी अधिक लाभप्रद है—विशेष रूप से इस कारण से भी क्योंकि इस प्रकार की भूमि में इतने कम प्रयासों से कोई भी अन्य फसल इतना लाभ नहीं दे पाती।

सनाय के बीजों का प्राप्ति-स्थल

यह निर्विवाद तथ्य है कि फसल की गुणवत्ता काफी हद तक उसकी बिजाई हेतु प्रयुक्त किए जाने वाले बीजों की गुणवत्ता पर निर्भर करती है। सनाय की खेती के संदर्भ में भी प्रयुक्त किए जाने वाले बीजों का अत्यधिक महत्व होता है। इसकी खेती के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले बीज कई स्थानों से प्राप्त हो सकते हैं जिनमें से दो प्रमुख प्रदायकर्ता हैं—

- **मे. राजस्थान एग्रो फारेस्ट्री कार्पोरेशन**
  बंगला क्र. 207,
  सेक्टर-7 (एक्सटेंशन),
  न्यू पावर हाउस रोड,
  जोधपुर (राजस्थान)-342003.
  फोन—(0291) 430271.

- **इंजी. विनोद जैन**
  भवन निर्माण विभाग,
  डा. हरि सिंह गौर विश्वविद्यालय,
  सागर (म.प्र.)
  फोन (07582) 25550 (निवास)

बीज उत्पादन स्वयं भी किया जा सकता है

यद्यपि प्रारंभ में बीज किसी प्रमाणिक संस्थान से खरीदा जा सकता है परन्तु भविष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अथवा फसल को और अधिक बढ़ाने (मल्टीप्लाई करने) की दृष्टि से यह उपयुक्त रहता है कि कृषक बीजों का उत्पादन भी स्वयं ही करें। बीज प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि किसान अपने खेत के सबसे अच्छे तथा स्वस्थ पौधों को काटें नहीं (जैसा कि वह सामान्यतया पत्तियां प्राप्त करने हेतु प्रारंभ में लगभग 100 दिनों के उपरान्त तथा बाद में 60 दिनों के उपरान्त करेंगे)। इससे इन पौधों पर

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

फलियां लगेंगी जोकि पकने पर भूरी हो जाएंगी। इन फलियों को तोड़कर धूप में सुखाकर तथा सूखी हुई फलियों को डंडों से कूटकर उनमें से बीज निकाले जा सकते हैं। ये बीज साफ करके सनाय की अगली फसल की बिजाई हेतु प्रयुक्त किए जा सकते हैं। इस प्रकार आगामी फसलों के लिए कृषक/उद्यमी सनाय के बीज स्वयं ही तैयार कर सकते हैं तथा उन्हें बाहर से बीज खरीदने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

सनाय की बिक्री तथा संभावित बाजार

एक प्रमुख औषधीय फसल होने के कारण सनाय की पत्तियों के लिए व्यापक बाजार उपलब्ध है। प्राय: सभी दवाई निर्माताओं (विशेषतया आयुर्वेदिक तथा यूनानी दवाई निर्माताओं) द्वारा इसकी बड़ी मात्रा में खरीदी की जाती है। वर्तमान में इसकी बिक्री के लिए प्रमुख मण्डियां हैं—दिल्ली, बम्बई, मद्रास, कानपुर, जोधपुर, इन्दौर, अमृतसर आदि। इसका काफी मात्रा में निर्यात भी हो रहा है, (वर्तमान में भारत से विश्व के 40 से अधिक देशों को इसका निर्यात हो रहा है) जिसमें निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। हमारे देश में सनाय के एक प्रमुख खरीददार हैं—**श्री पी. सोमासुन्दरम, पी.एस.एस. एक्सपोर्ट्स, 8, कुप्पुस्वामी स्ट्रीट (वाणी महल के सामने), टी. नगर, चेन्नई (तमिलनाडू) फोन- (044) 8230585, फैक्स (044) 8283285.**

सनाय की खेती के संदर्भ में रखी जाने वाली सावधानियां

क्योंकि सनाय मूलत: रेगिस्तान का पौधा है अत: यह अधिक वर्षा सहन नहीं कर सकता। फलत: इसकी बिजाई के संदर्भ में तथा कटाई के संदर्भ में इस बात का विशेष ध्यान रखना होगा। बिजाई करते समय यह ध्यान रखना होगा कि इसकी बिजाई बरसात की आखिरी बारिश के बाद हो। यदि इसकी बिजाई के एकदम बाद जोर की बारिश पड़ जाए तो पौधों के उगने (germination) में परेशानी आ जाएगी तथा पौधे उगेंगे नहीं। अत: इस बात का विशेष ध्यान रखना होगा तथा बिजाई के उपयुक्त समय का सही आंकलन करना होगा। यदि बीज न उगें तो पुन: बिजाई करनी होगी क्योंकि तब पहले बोये गए बीज व्यर्थ नष्ट हो जाएंगे।

सनाय के पत्तों की कटाई के समय का भी सही ध्यान रखना होगा। जब फसल कटने वाली हो तब ज्यादा बारिश नहीं पड़नी चाहिए अन्यथा पत्ते या तो सड़ जाएंगे अथवा झड़ जाएंगे। अत: बरसात से पहले ही कटाई कर ली जानी चाहिए, अन्यथा फसल का नुकसान हो सकता है।

उपरोक्तानुसार देखा जा सकता है कि एक औषधीय फसल के रूप में सनाय की खेती काफी लाभकारी है तथा विशेष रूप से ऐसे क्षेत्रों में जो पूर्णतया बंजर पड़े हुए हैं, सनाय की खेती करके पर्याप्त लाभ कमाया जा सकता है। लाभार्जन के साथ-साथ इस पौधे की खेती के कई सामाजिक तथा पर्यावरण सुरक्षा सम्बन्धी लाभ भी हैं। इस पौधे की खेती से जुड़ा एक सर्वाधिक महत्व का पहलू यह भी है कि इसके विपणन में कोई विशेष परेशानी नहीं है तथा इस पौधे की बिक्री के लिए न केवल स्थानीय अथवा राष्ट्रीय बल्कि व्यापक अंतर्राष्ट्रीय बाजार भी उपलब्ध है।

औषधीय पौधों की खेती तथा इनसे संबंधित उद्योगों पर जानकारी प्रदान करने वाला

भारतीय औद्यो. वित्त निगम (IFCI), भारतीय औद्यो. विकास बैंक (IDBI), भारतीय औद्यो. ऋण एवं निवेश निगम (ICICI) राज्य निगमों तथा व्यवसायिक बैंकों द्वारा प्रवर्तित प्रदेश का एक प्रतिष्ठित संस्थान

मध्यप्रदेश कन्सलटैंसी आर्गेनाईजेशन लि. (एम.पी.कॉन)

हमारी विशिष्ट सेवाएँ

- औषधीय एवं सुगंधीय पौधों की खेती से संबंधित परामर्श एवं मार्गदर्शन
- विभिन्न उद्योगों की प्रोजेक्ट रिपोर्ट का निर्माण
- कार्य स्थल तथा मशीनरी चयन में सहायता
- संबंधित उद्योग/व्यवसाय की संभावना जानने हेतु बाजार सर्वेक्षण
- उद्योग स्थापित करवाने हेतु "टर्न-की" आधार पर परामर्शदात्री सेवाएँ।

1979 - 1999 20 YEARS OF COMMITTED SERVICE

संपर्क करें : **एम.पी. कॉन,** गंगोत्री, पो.बॉ. क्र. 339, टी.टी. नगर भोपाल,
फोन : (0755) 774011, 774012 फैक्स : (0755) 773698

नोट : खादी ग्रामोद्योग बोर्ड की योजनान्तर्गत अत्यधिक कम दरों पर प्रोजेक्ट रिपोर्ट तैयार किए जाने की व्यवस्था है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

19. मुलहटी अथवा मुलैठी (Liquorice)

मुलहठी अथवा मुलैठी (Glycyrrhiza Glabra) को अंग्रेजी में लिकोराईस, संस्कृत में यशतीमधु, हिन्दी में मुलहटी, तमिल में अतिम, तेलगू में अतिमधुरम, फारसी में मुलैठी, बंगला में जराती मधु आदि नामों से जाना जाता है। यह एक स्वयं परागित फसल है तथा इसमें गुणसूत्रों की संख्या 2n=16 होती है।

मुलहटी का पौधा एक छोटी झाड़ी के रूप में होता है जिसकी ऊंचाई 1.5 से 2 मीटर तक होती है। इसकी पत्तियां संयुक्त व अण्डाकार होती हैं, जिनके अग्रभाग नुकीले होते हैं। इसके फूलों का रंग लैवेण्डर से बैंगनी तथा फलियाँ दबी हुईं (2 से 2.5 से.मी. लम्बी) और चपटी होती हैं जिनमें गुर्दे के आकार के 2 से 5 तक बीज होते हैं। इसकी जड़ें गोल, लम्बी, झुर्रीदार तथा फैली हुई होती हैं। इसकी जड़ों व भूमिगत तनें (काण्ड) से कई शाखाएं निकलती हैं। यह एक बहुवर्षीय (2.5 वर्ष तक की आयु की) फसल है और औषधीय उपयोग में इसकी केवल जड़ें या भूमिगत तने ही उपयोग में लाए जाते हैं।

सामान्य परिचय

पौधे का नाम	:	मुलहटी अथवा मुलैठी
पौधे का जीवन (लाईफ)	:	2.5 वर्ष (ढाई वर्ष)
बिजाई की विधि	:	कलमों से
बिजाई का समय	:	फरवरी-मार्च तथा जुलाई-अगस्त
उपयोग	:	सर्दी खांसी तथा जुकाम की दवाई बनाने में, वमननाशक तथा पिपासानाशक दवाइयों में, अमाशय रोगों में, पेट दर्द तथा जलन दूर करने में, पेप्टिक अल्सर में, अमाशय की मरोड़ में, बुद्धि वर्धन तथा एनीमिया आदि हेतु।
उपयोगी भाग	:	जड़ें
उत्पादन	:	75-80 क्विंटल सूखी जड़ें प्रति हैक्टेयर (ढाई वर्ष की फसल से)
जड़ों की बिक्री दर	:	5,000 रु. प्रति क्विंटल.

उत्पत्ति स्थान

यह पौधा जंगली रूप में उगता है और संसार के उष्ण तथा समशीतोष्ण प्रदेशों में, विशेषकर भूमध्य सागरीय देशों में यह काफी मात्रा में पाया जाता है। इसकी खेती दक्षिणी यूरोप, सीरिया, ईराक, तुर्की, अफ़गानिस्तान, स्पेन, चीन तथा

प्रदेश में मेन्था आईल एवं लेमनग्रास ऑयल के प्रमुख उत्पादक एवं खरीददार

VIJAY HERBS AND NATURAL ESSENTIAL OILS

(एसेन्शियल ऑयल्स के विकास हेतु प्रतिबद्ध एक संस्थान)

● विभिन्न एसेन्शियल्स आयल्स जैसे मेन्था आरवेन्सिस आयल, मेन्था पिपरेटा आयल, मेन्था सिटरेटा आयल, लेमनग्रास आयल, सिट्रोनेला आयल, जामारोजा आयल, पामारोजा आयल, तुलसी आयल आदि के उत्पादक इन तेलों की विक्री हेतु ● मेन्था लेमनग्रास, सिट्रोनेला, जामारोजा आदि की खेती करने के इच्छुक व्यक्ति तकनीकी सलाह एवं मार्गदर्शन प्राप्त करने हेतु ● पुनर्खरीदी करार (Buyback Agreement) के आधार पर विभिन्न एसेन्शियल आयल्स का उत्पादन करने के इच्छुक किसान संपर्क करें:

संजय सिंह कुशवाह, विजय हर्बस एंड एसेन्शियल आयल्स, ए.46, शैलेष होम्स, सर्वधर्म कालोनी, कोलार रोड, भोपाल (म.प्र.) फोन : (0755) 794181/760573 (07573) 32326.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रूस में की जाती है। पाकिस्तान के दक्षिणी जिलों तथा भारत में अण्डेमान द्वीप समूह में भी इसके पौधे पाये गये हैं। पहले यह विश्वास था कि इसकी खेती केवल ऊंचे स्थानों पर ही की जा सकती है, लेकिन मैदानी इलाकों में भी इसे उगाने हेतु किए गये प्रयास काफी सफल रहे हैं। लखनऊ, हिसार, दिल्ली, देहरादून, जम्मू, इन्दौर आदि स्थानों पर इसकी खेती से संबंधित किए गए प्रयोग काफी सफल रहे हैं।

मुलहटी की पहचान एवं इसमें की जाने वाली मिलावट

मुलहटी के पौधे की जड़ों के टुकड़ों को ही हम मुलहटी के नाम से प्रयुक्त करते हैं। प्राय: मुलहटी में मिलावट बहुत पायी जाती है। इसमें मुख्य मिलावट म्युचिरियन मुलहटी की होती है जिसे हम रती या घुमची (एवस प्रिकेटोरियस) के नाम से जानते हैं। पुरानी मुलहटी भी उपयोग के लायक नहीं रह जाती है। असली मुलहटी अन्दर से पीली, रेशेदार, हल्की गंध वाली तथा स्वाद में मीठी होती है।

गुणावधि

मुलहटी संग्रहित होने की अवधि से दो वर्ष तक उपयोगी रहती है। इसके बाद इसके गुणों में कमी आ जाती है।

मुलहटी के प्रमुख उपयोग

मुख्यतया मुहलटी का उपयोग सर्दी, खांसी तथा जुकाम की दवाई बनाने हेतु किया जाता है। मुहलटी की जड़ों और भूमिगत तनों का चूर्ण रूप में उपयोग किया जाता है। भाव प्रकाश ग्रन्थ के अनुसार यह वमननाशक और पिपासानाशक है। सभी आयुर्वेदाचार्य इसे आमाशयगत अम्लता की कमी में सहायक तथा आमाशय के क्षतिग्रस्त व्रणों के सुधार में सर्वाधिक उपयोगी मानते हैं। डॉ. कीव के अनुसार तीखे या अम्लोतेजक पदार्थों के खा लेने पर होने वाली पेट की जलन, दर्द आदि को दूर करने में यह चमत्कारी पायी गयी है। अम्ल जनित दुष्प्रभावों को दूर करने में यह क्षारों से भी अधिक अच्छा कार्य करती है। इसके उपयोग से आमाशयिक अम्ल कम होकर शूल दूर होता है। पैप्टिक अल्सर व इससे होने वाली रक्त की उल्टी में यह अत्यन्त प्रभावशाली पायी गयी है। मुलहटी चूर्ण गैस्ट्रिक व ड्योडिनल-दोनों प्रकार के अल्सरों के भरने की गति को बढ़ा देता है। अमाशय व आंत में किसी भी कारण से होने वाली मरोड़ इससे दूर हो जाती है। वैज्ञानिकों के कथन के अनुसार इससे अमाशय की रस ग्रन्थियों से ग्लाइकोप्रोटीन्स नामक रस का स्त्राव बढ़ जाता है जो जीव कोषों के जीवनकाल को तो बढ़ाता ही है, छोटी-मोटी टूट-फूट को भी तुरन्त ठीक कर देता है। यूनानी पद्धति पर आधारित उपचारों में मुलहटी अनेक पाचक योगों में डाली जाती है। यकृत रोगों में भी यह गुणकारी है। शिरा रोगों में पीड़ा निवारण हेतु, बुद्धि-वर्धन के लिए, एनीमिया (रक्त की कमी), कफ, दमा तथा टी.बी. आदि रोगों में भी इसका उपयोग किया जाता है।

पाश्चात्य देशों में मुलहटी के पौधों का उपयोग मधुरपेय उद्योग में बहुतायत से किया जाता है। इसका उपयोग एल्कोहल के उत्पादन, कीटाणुनाशक औषधियों, यीस्ट के कल्चर आदि में प्रमुखता से किया जा सकता है। तम्बाकू, सिगरेट उद्योग, पान, मिठाईयां तथा अनेक कड़वी औषधियों का स्वाद बदलने के लिए भी इसका इस्तेमाल किया जाता है। इसका उपयोग मधुर स्वाद बनाने के लिए कम ऊर्जा वाले भोज्य पदार्थों, चॉकलेट्स, चुंईगम, बीयर, केंडी आदि उद्योगों में भी किया जाता है।

मुलहटी की रासायनिक संरचना

ताजा मुलहटी में लगभग 50 प्रतिशत जल होता है जो सुखाने पर 10 प्रतिशत रह जाता है। इसका प्रधान घटक जिसके कारण यह मीठी होती है-''ग्लिसराइजन'' है जो मुलहटी की विभिन्न प्रजातियों में 5 से 20 प्रतिशत तक पाया जाता है। यह साधारण शक्कर (सुक्रोज) से 50-60 गुणा अधिक मीठा होता है। ग्लिसराइजिन मुलहटी के पौधे के जमीन से ऊपर वाले भागों में नहीं होता। इसमें 10 से 14 प्रतिशत तक ग्लाइकोसाइड भी होता है। मुलहटी में अन्य घटक जैसे कुमेरिन, फ्लेवोनोन, लिक्विरिटीन, आइसोलिक्विरीटीन, लिक्विरिटीजिनन, अम्बलीफीरोन आदि भी पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त अल्सर के घावों को शीघ्र भरने वाले विभिन्न घटक जैसे ग्लाइकोसाइड्स, लिक्विरीस्ट्रोसाइड, आइसोलिक्विरीस्ट्रोसाइड आदि भी मुलहटी में पाये जाते हैं।

मुलहटी की कृषि तकनीक

भारत में मुलहटी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं होती है इसलिए फार्मास्युटीकल व अन्य उद्योगों की मांग की आपूर्ति के लिए इसे बहुत बड़ी मात्रा में विदेशों से मंगाया जाता है। हमारे देश में अभी भी इसकी खेती ने व्यावसायिक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रूप नहीं लिया है परन्तु इसकी उपयोगिता तथा इसकी मांग को देखते हुये इसकी खेती की अपार संभावनायें हैं।

जलवायु : मुलहटी की खेती के लिए उष्ण जलवायु उपयुक्त पाई गई है। अभी तक इसकी खेती मुख्यतया हरयाणा, उत्तरप्रदेश, जम्मू तथा मध्यप्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में प्रारम्भ हो चुकी है तथा यहां पर यह काफी सफल रही है।

भूमि : मूलहटी की खेती के लिए हल्की से दोमट भूमि अर्थात् गहरी, भुरभुरी, उपजाऊ मिट्टी सर्वोत्तम रहती है, क्योंकि ऐसी भूमि में मुलहटी की जड़ों का विकास भरपूर रूप से होता है और ढाई वर्ष के पश्चात् जड़ों की खुदाई करके इन्हें सरलता से निकाला जा सकता है। तजुर्बे के आधार पर यह देखा गया है कि इसकी फसल की खुदाई के बाद भी काफी बड़ी संख्या में छोटी-छोटी जड़ों के टुकड़े भूमि में छूट जाते हैं और इन्हीं से मुलहटी की नई फसल तैयार हो जाती है। इसलिए मुलहटी की खेती एक बार यदि किसी खेत में हो जाये तो उसमें आगे के लिए उस खेत में से मुलहटी स्वत: ही उगती रहेगी तथा इसको बार-बार लगाने की आवश्यकता नहीं होगी। इस पहलू को देखते हुए मुलहटी की खेती के लिए खेत का चुनाव ध्यानपूर्वक करना होगा। ऐसा सुझाव दिया जाता है कि मुलहटी के खेत के चारों तरफ दो से ढाई फीट गहरी खाई खोद कर उसमें मोटी पोलिथीन की चद्दर (शीट) खड़ी कर देनी चाहिए तथा उसे वापिस मिट्टी से भर दिया जाना चाहिए। ऐसा करने से मुलहटी की जड़ों का जो प्रसार संबंधित खेत से 2 मीटर दूर इधर-उधर हो जाता है, उसे रोका जा सकता है।

मुलहटी की खेती के लिए खेत की तैयारी एवं खाद

मुलहटी की खेती के लिए खेत भुरभुरा तैयार होना चाहिए तथा यह समतल होना चाहिए ताकि इसमें पानी ज्यादा समय तक खड़ा न रह सके। खेत की तैयारी के समय खेत में 40-50 गाड़ी गोबर की खाद अच्छी प्रकार से मिलायें तथा आखिरी जुताई के समय 20 किलो नाइट्रोजन तत्व व 40 किलो फासफोरस तत्व मिलायें। जहां दीमक का प्रकोप हो वहां 25 किलो बी.एच.सी. प्रति हैक्टेयर या क्लोरपाईरिफॉस 5 लीटर प्रति हैक्टेयर 50-60 किलोग्राम मिट्टी में मिलाकर एक समान छिड़कें। शेष 20 किलो नाइट्रोजन का, फुटाव आने के लगभग एक माह बाद छींटा लगायें। इसके उपरान्त 40 किलोग्राम नाइट्रोजन प्रति हैक्टेयर प्रतिवर्ष मार्च माह में प्रयोग करें।

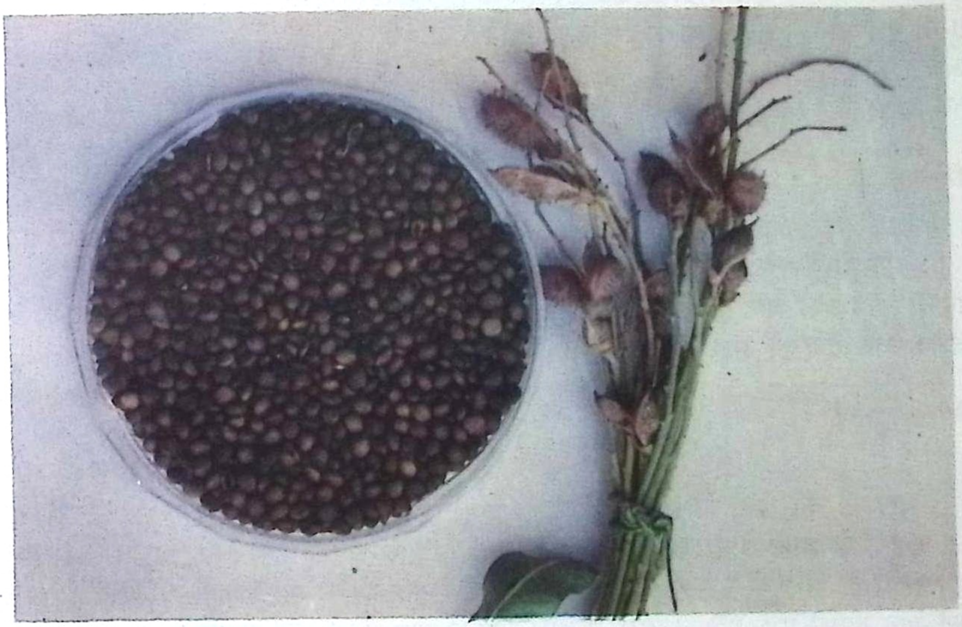

मुलहटी की फसल से तैयार होने वाले बीज तथा फलियां

मुलहटी की प्रमुख किस्में

हमारे देश में मुलहटी की कोई विशेष किस्में उपलब्ध नहीं हैं। चौ. चरण सिंह हरियाणा कृषि विश्वविद्यालय द्वारा विकसित मुलहटी की एक किस्म "हरियाणा मुलहटी नं. 1 या एच.एम.-1" की सिफारिश पूरे देश में खेती के लिए की गयी है। कृषि महाविद्यालय आनन्द (गुजरात) में किए गए प्रयोगों में मुलहटी की ई.सी.-21950 किस्म को ग्लिसराइजक एसिड की मात्रा के लिए उत्तम पाया गया है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बिजाई का समय एवं तरीका

मुलहटी की बिजाई का सबसे उत्तम समय फरवरी-मार्च महीनों का होता है। जिन क्षेत्रों में पानी का अच्छा प्रबन्ध हो (ट्यूब वेल, नहर आदि) वहां फरवरी-मार्च का समय उपयुक्त होता है, और वर्षा पर निर्भर क्षेत्रों में जुलाई-अगस्त का। लेकिन इस मौसम में फुटाव फरवरी महीने की तुलना में कम होता है। मुलहटी अथवा मुलैठी की बिजाई जड़ों से की जाती है जिसके लिए 6 से 9 इंच लम्बी जड़ों (कलमों) को (ढाई से तीन फीट की लाइन से लाइन की दूरी व कम से कम डेढ़ फीट पौधे से पौधे की दूरी) लाइनों में इस तरह दबाया जाता है कि जड़ का एक चौथाई भाग भूमि के ऊपर हो और तीन चौथाई भाग भूमि के अन्दर। जड़ों को खेत के खुड में पसरवां भी डाल सकते हैं और इसे ऊपर से 1-2 इंच मिट्टी से ढंक देते हैं। जड़ लगाने के तुरन्त बाद खेत में हल्का पानी लगायें ताकि जड़ों का जमाव अच्छा हो। यह ध्यान रहे कि पानी खेत में ज्यादा समय तक खड़ा नहीं रहना चाहिए।

सिंचाई

आरम्भ में पौधों के अच्छे जमाव के लिए नमी को बनाये रखें। एक बार लग जाने के बाद सिंचाई की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती है।

निराई-गुड़ाई

मुलहटी की खेती के प्रथम वर्ष में 2-3 गुड़ाइयों के द्वारा लाइनों के मध्य से खरपतवार निकालें। सर्दी के मौसम में मुलहटी के पौधों से पत्ते झड़ जाते हैं और ऐसा लगता है मानों खेत खाली पड़ा हो। जनवरी-फरवरी माह में खेत में भली-भांति गुड़ाई करके खरपतवारों को निकालें और खाद का प्रयोग करें। मार्च माह में पौधे फिर से हरे-भरे होना शुरु हो जाते हैं।

मुलहटी में होने वाली प्रमुख बीमारियां एवं उनकी रोकथाम

कभी-कभी इसके पत्तों पर धब्बेदार रोग लग जाता है जिससे बाद में पत्ते पीले पड़ जाते हैं। इसकी रोकथाम के लिए डाईथेन एम-45 का 0.2 प्रतिशत घोल पत्तों पर छिड़काव करें। एफिड भी कभी-कभी इसके पत्तों का रस चूसकर नुकसान पहुंचाते हैं जिन्हें मैलाथियान या थाइडान के 0.2 प्रतिशत घोल का छिड़काव करके समाप्त किया जा सकता है।

खुदाई तथा फसल की प्राप्ति

मुलहटी की फसल को उगाने के ढाई वर्ष बाद डेढ़ से दो फीट गहरा खोदकर इसकी जड़ों को निकाल लिया जाता है। खुदाई नमी वाली भूमि में आसानी से होती है इसलिए खुदाई से पहले खेत में हल्का पानी लगायें और 2 दिन के बाद खुदाई करें। खुदाई कस्सी से या डिस्कहैरो या कल्टीवेटर से की जाती है तथा पीछे-पीछे आदमियों द्वारा जड़ों को उठाया जाता है। इस प्रकार 3-4 बार हैरो या कल्टीवेटर खेत में घुमाने से अधिकांश जड़ें निकल आती हैं।

जड़ों को सुखाना

जड़ों को फर्श पर फैलाकर छाया में सुखाते हैं। सुखाने की प्रक्रिया में जड़ों की आर्द्रता 50 प्रतिशत से घटकर 10 प्रतिशत तक रह जाती है।

पैदावार

मुलहटी की अच्छी फसल से औसतन 75-80 क्विंटल सूखी जड़ें प्रति हैक्टेयर प्राप्त होती हैं।

प्लांटिंग मेटेरियल (कलमों) का प्राप्ति स्थल

बिजाई के लिए मुलहटी की कलमें-पौध प्रजनन विभाग, चौधरी चरण सिंह हरयाणा कृषि विश्वविद्यालय, हिसार-125004, अथवा औषधीय एवं सुगंधीय पौध परियोजना, कृषि महाविद्यालय, इन्दौर-452001 से प्राप्त की जा सकती हैं।

मुलहटी की बिक्री कैसे करें?

मुलहटी की जड़ों को बेचने में कोई कठिनाई नहीं है क्योंकि इसकी मांग अधिक और उपलब्धता कम है। डाबर, झंडु, वैद्यनाथ, हमदर्द, ऊंझा फार्मेसी व अन्य कई फार्मेसियां इसके प्रमुख खरीददार हैं। इसके साथ-साथ विभिन्न जड़ी-बूटी बिक्रेताओं के माध्यम से भी इसकी बिक्री की जा सकती है। मुलहटी के विभिन्न खरीददारों की जानकारी हेतु सेडमैप द्वारा प्रकाशित पुस्तक ''लघु विपणन निर्देशिका'' का अवलोकन भी किया जा सकता है। अच्छी किस्म की मुलहटी 50 रु. प्रति किलोग्राम तक बिक जाती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

20. सतावर

सतावर ''लिलिएसी'' कुल का आरोही बहुवर्षीय पौधा है जिसका वानस्पतिक नाम एस्पेरेगस रेसीमोसस है। प्राचीन ग्रंथों में इसका उल्लेख छोटी शतावरी के नाम से मिलता है। इसके अन्य नाम हैं—शतावरी, बहुसुता, भीरू, इन्दीवरी, वरी, नारायणी, शतपदी, शतवीर्या, पीवरी आदि। यह बगीचों में सजावटी पौधे की तरह भी उगाया जाता है।

मूल रूप से यह पौधा एशिया, अफ्रीका एवं आस्ट्रेलिया में पाया जाता है। भारत में यह 4000 अक्षांश ऊंचाई पर हिमालय क्षेत्रों में तथा 1200 मी. ऊंचाई पर अन्य प्रांतों में पाया जाता है। मध्यप्रदेश में यह साल व मिश्रित वनों में पाया जाता है। मध्यप्रदेश में यह ''नारबोझ'' के नाम से भी जाना जाता है।

सतावर का क्षुप 3-5 फीट ऊंचा होता है और यह लता के समान बढ़ता है। जंगलों में अथवा घरों में लगाए जाने वाले सतावर के पौधे 30-35 फुट तक के भी हो जाते हैं। इसकी शाखाएं पतली होती हैं तथा पत्तियां बारीक सुई के समान होती हैं जो 1.3 से 2.5 से.मी. तक लंबी होती हैं। इसकी शाखाओं पर आधा इंच लंबे सीधे या टेढ़े कांटे होते हैं। इसके फूल सफेद रंग के, गुच्छों में लगते हैं तथा फल छोटे-छोटे, गोल व पकने पर लाल हो जाते हैं। इसके बीज काले होते हैं। इसकी जड़ें कंदवत् लंबी-लंबी गुच्छे में होती हैं तथा एक साथ कई संख्या में होती हैं। औषधीय उपयोग में मुख्यतया इसकी यही जड़ें काम में लाई जाती हैं।

कंदिल जड़ों से युक्त सतावर का पौधा

सतावर का औषधीय महत्व

सतावर की कंदिल जड़ें मधुर तथा रसयुक्त होती हैं। ये शीतवीर्य, रसायन, मेधाकारक, जठराग्निवर्धक, पुष्टिदायक, स्निग्ध, नेत्रों के लिए हितकर, शुक्रवर्धक, दूध बढ़ाने वाली, बलकारक एवं अतिसार, वात, पित्तरक्त तथा शोथ दूर करने वाली होती हैं।

इसकी कंदिल जड़ों में सतावरिन I व सतावरिन IV रसायन पाया जाता है। सतावरिन I सार्सपोजिनिन का ग्लूकोसाइड है जिससे 3 ग्लूकोस व एक रेम्नोस शर्करा के अणु पाये जाते हैं। सतावरिन IV में दो ग्लूकोस व एक रेम्नोस शर्करा के अणु पाये जाते हैं।

शतावर की जड़ों से अनेकों औषधियां बनाई जा रही हैं जिनमें बलवर्धक टॉनिक, सेक्स टॉनिक, स्त्रियों के लिए टॉनिक, ल्यूकोरिया तथा अनीमिया के उपचार हेतु दवाइयां, भूख न लगने तथा पाचन सुधारने हेतु टॉनिक, मानसिक तनाव से मुक्ति हेतु दवाइयां, दुग्ध बढ़ाने हेतु दवाइयां आदि तथा टॉनिक प्रमुख हैं।

सतावर की खेती के लिए आवश्यक जानकारी

जलवायु : सतावर की खेती के लिए उष्ण आर्द्र जलवायु उत्तम होती है। जिन क्षेत्रों का तापमान 10^0-50^0 सेल्सियम तथा वार्षिक वर्षा 250 से.मी. तक होती हो, वे इसकी खेती के लिए उपयुक्त होते हैं।

मिट्टी : सतावर की खेती के लिए बालुई दोमट मिट्टी जिसमें जल निकास अच्छी तरह होता हो तथा जिसमें ज्यादा पानी न ठहरता हो, अधिक उपयुक्त होती है। क्योंकि यह एक कंदयुक्त पौधा है अत: दोमट रेतीली मिट्टी में इसे आसानी से खोद कर बिना क्षति के इसके कंद प्राप्त किए जा सकते हैं। यदि काली मिट्टी में इस फसल को लगाएं तो कंद मिट्टी को बलपूर्वक बांध लेते हैं तथा बाद में निकालते समय कंदों के क्षतिग्रस्त होने की संभावना अधिक रहती है। इसके अलावा काली मिट्टी में जलधारण की क्षमता अधिक होने के कारण कंद खराब होने की संभावना भी बढ़ जाती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भूमि की तैयारी : सतावर की खेती करने के पूर्व भूमि की सही तैयारी अत्यंत आवश्यक है। इसके लिए खेत की मई -जून माह में (वर्षा के पहले) 2-3 बार अच्छी तरह जुताई कर लेनी चाहिए। अगस्त माह में जब पानी गिरना कम हो जाए तो पुनः जुताई कर लेनी चाहिए एवं खेत में 6 टन गोबर की सूखी खाद प्रति एकड़ की दर से समान रूप से मिला देनी चाहिए।

विभिन्न भाषाओं में सतावर के नाम

Botanical	:	Asparagus Officinalis
English	:	Asparagus
Bengali	:	Stmuli
Gujrati	:	Satavar
Kannada	:	Jayibem
Malayalam	:	Shatavali
Marathi	:	Satavari
Punjabi	:	Shatavar
Tamil	:	Kilavari
Sanskrit	:	Shatavari

बिजाई एवं संवर्धन : सामान्यतया बीजों द्वारा पौध तैयार की जाती है। बीजों का अंकुरण प्रतिशत लगभग 40% होता है तथा प्रति एकड़ 5 कि.ग्रा. बीज की आवश्यकता होती है। रोपणी तैयार करने के लिए 1×10 मी. की क्यारी निर्मित कर उसमें से कंकड़ पत्थर अलग कर 3:1 के अनुपात में मिट्टी व गोबर की खाद मिलाकर उसे भर देना चाहिए। बीजों की बुआई मई माह में की जानी चाहिए ताकि अगस्त माह में रोपाई के लिए पौधे प्राप्त हो सकें। बीजों को हल्की मिट्टी में दबाकर ऊपर से ढंक देना चाहिए। बुवाई के तुरंत बाद सिंचाई करना आवश्यक होता है। लगभग एक माह में बीजों से अंकुरण प्रारंभ हो जाता है।

रोपाई : एक माह के पश्चात लगभग 8-10 सें.मी. ऊंचाई के पौधों को खेत में लगाया जा सकता है। अगस्त माह इसकी रोपाई के लिए उपयुक्त होता है। जब पानी रूका हुआ हो तो पौधों को 60×60 से.मी.के अंतराल पर लगा दिया जाता है। इसके अलावा फसल की खुदाई के दौरान भूमिगत जड़ों के साथ-साथ कभी-कभी छोटे-छोटे अंकुर प्राप्त होते हैं जिनसे पुनः पौध तैयार की जा सकती है। इन तनों व जड़ों से निकलने वाली पौध 'डिस्क' कहलाती है। इसे मूल पौधे से अलग करके पौलीथीन बैग या गमलों में लगाकर नए पौधे प्राप्त किए जा सकते हैं। 20 दिनों के अंदर ये पौधे भी खेत में लगाने योग्य हो जाते हैं।

सिंचाई : सतावर की फसल के लिए अधिक सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती है। शुरुआत में पौधे लगने तक हफ्ते में एक बार एवं जब पौधे बड़े हो जाएं तब एक-एक माह के अंतराल में हल्की सिंचाई की जानी चाहिए।

निंदाई-गुड़ाई : अच्छी पैदावार प्राप्त करने के लिए निंदाई-गुड़ाई बहुत आवश्यक होती है। पौधों को खरपतवार रहित करने के उद्देश्य से प्रत्येक माह पौधों के आसपास निंदाई-गुड़ाई करते रहना चाहिए।

जड़ों की खुदाई : रोपण के 12 से 18 माह के पश्चात् जब पौधा पीला पड़ने लगे तब इसकी जड़ों की खुदाई कर लेनी चाहिए। साथ ही साथ अगली फसल के लिए डिस्क भी पृथक कर लेने चाहिएं।

जड़ों को सुखाने की विधि : खोद कर निकाली गयी सतावर की ताज़ी जड़ों में 90% जल पाया जाता है। इन जड़ों को अलग-अलग करके साफ कर लिया जाता है व हल्की धूप में सुखाया जाता है। इससे पूर्व कंदिल जड़ों को चीरा लगाकर ऊपरी छिलका उतार लेना चाहिए एवं नमी तथा आर्द्रता से बचाना चाहिए।

प्रति हैक्टेयर प्राप्तियां : 18 माह के पश्चात् सतावर की प्रति एकड़ लगभग 350 क्विंटल गीली जड़ें प्राप्त होती हैं जो सुखाने के पश्चात् लगभग 35 क्विंटल रह जाती हैं। (सुखाने में लगभग 90% जल का ह्रास होता है।)

सतावर की खेती की लाभप्रदता : सतावर की खेती में उपज व लाभ निम्नानुसार होता है—

उपज/एकड़	=	35 क्विंटल (सूखी जड़ें)
व्यय/एकड़	=	20,000/- रुपये
विक्रय मूल्य/क्विं.	=	2,000/- रुपये
कुल प्राप्तियां	=	70,000/- रुपये
शुद्ध लाभ	=	50,000/- रुपये

सतावर की खेती हेतु बीज/प्लांटिंग मेटेरियल की प्राप्ति

सतावर की खेती के लिए बीज/प्लांटिंग मेटेरियल निम्नलिखित पते से प्राप्त किए जा सकते हैं—

- संचालक,
  राज्य वन अनुसंधान संस्थान,
  पोलीपाथर, जबलपुर (म.प्र.)

सतावर की जड़ों की बिक्री

सतावर की जड़ों के विपणन हेतु व्यापक बाज़ार उपलब्ध है। अनेकों आयुर्वेदिक दवाई निर्माताओं द्वारा इनका उपयोग किया जाता है जिसकी जानकारी सेडमैप द्वारा प्रकाशित पुस्तक ''लघु विपणन निर्देशिका'' से प्राप्त की जा सकती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

21. अश्वगंधा

अश्वगंधा (असंगध) जिसे अंग्रेजी में विन्टर चैरी कहा जाता है तथा जिसका वैज्ञानिक नाम विदानिया सोम्नीफेरा (Withania Somnifera) है, भारत में उगाई जाने वाली महत्वपूर्ण औषधीय फसल है जिसमें कई तरह के एल्केलॉइड्स पाये जाते हैं। अश्वगंधा को शक्तिवर्धक माना जाता है। भारत के अलावा यह औषधीय पौधा स्पेन, फेनारी आईलैण्ड, मोरेक्को, जार्डन, मिस्त्र, पूर्वी अफीका, बलुचिस्तान (पाकिस्तान) और श्रीलंका में भी पाया जाता है। भारतवर्ष में यह पौधा मुख्यतया गुजरात, मध्यप्रदेश, राजस्थान, पश्चिमी उत्तरप्रदेश, पंजाब, हरियाणा के मैदानों, महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल, कर्नाटक, केरल एवं हिमालय में 1500 मीटर की ऊंचाई तक पाया जाता है। मध्यप्रदेश में इस पौधे की विधिवत खेती मन्दसौर जिले की भानपुरा, मनासा, एवं जावद तथा नीमच जिले में लगभग 3000 हेक्टर क्षेत्रफल में की जा रही है।

अश्वगंधा के औषधीय गुण एवं उपयोग

अश्वगंधा के पौधे 3 से 6 फीट तक ऊंचे होते हैं। इसके ताज़े पत्तों तथा इसकी जड़ को मसल कर सूंघने से उनमें घोड़े के मूत्र जैसी गंध आती है। संभवतया इसी वजह से इसका नाम अश्वगंधा पड़ा होगा। इसकी जड़ मूली के जैसी परन्तु उससे काफी पतली (पेन्सिल की मोटाई से लेकर 2.5 से 3.75 से.मी. मोटी) होती है तथा 30 से 45 से.मी. तक लम्बी होती है। यद्यपि यह जंगली रूप में भी मिलती है परन्तु उगाई गई अश्वगंधा ज्यादा अच्छी होती है।

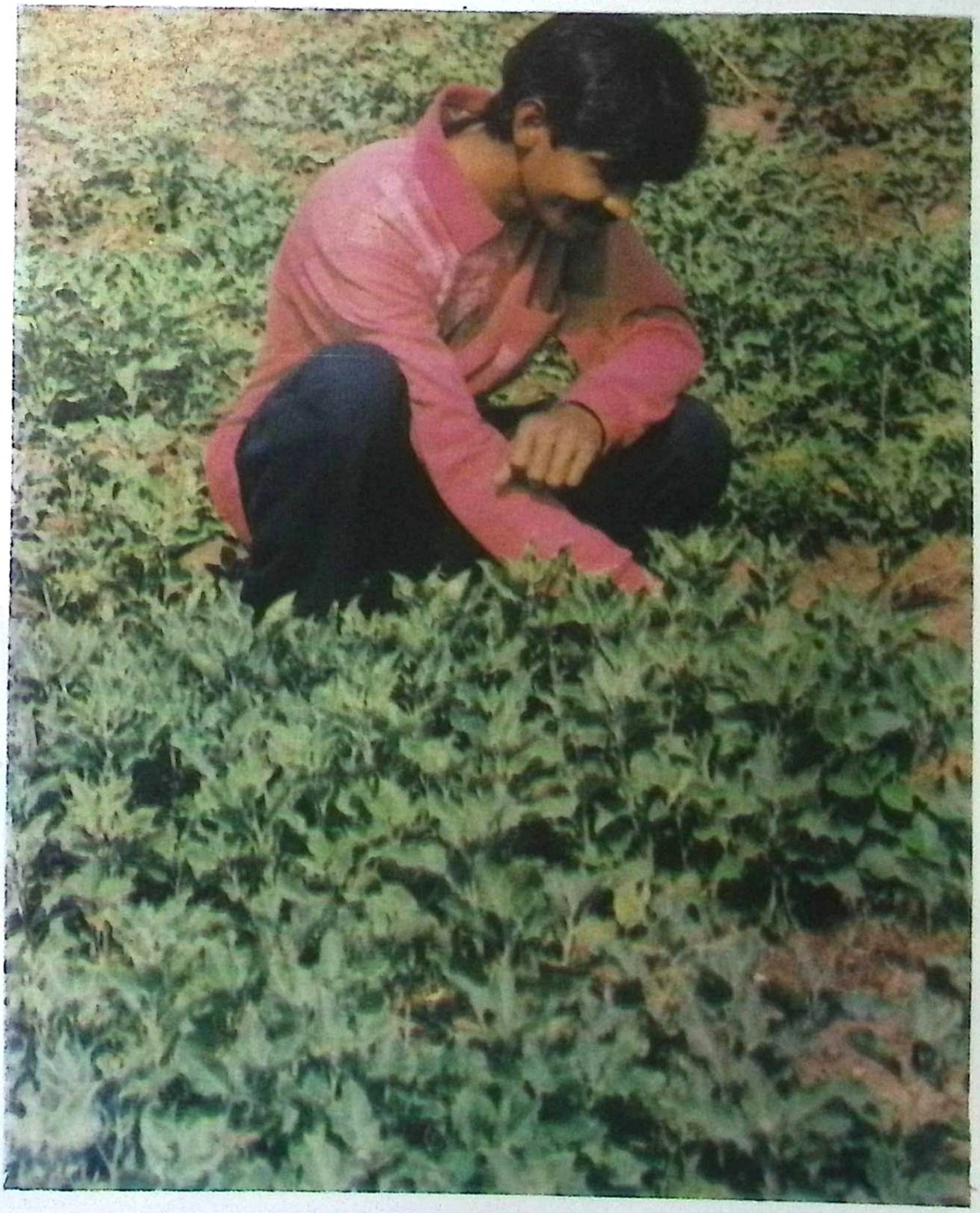

अश्वगंधा की फसल अपनी प्रारंभिक अवस्था में

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अश्वगंधा में विथेनिन और सोमेनीफेरीन एल्केलाईड्स पाए जाते हैं जिनका उपयोग आयुर्वेदिक तथा यूनानी दवाइयों के निर्माण में किया जाता है। इसके बीज, फल, छाल, एवं पत्तियों को विभिन्न शारीरिक व्याधियों के उपचार में प्रयुक्त किया जाता है। आयुर्वेद में इसे गठिया के दर्द, जोड़ों की सूजन, पक्षाघात तथा रक्तचाप आदि जैसे रोगों के उपचार में इस्तेमाल किए जाने की अनुशंसा की गई है। इसकी पत्तियाँ त्वचारोग, सूजन एवं घाव भरने में उपयोगी होती हैं। विथेनिन एवं सोमेनीफेरीन एल्केलाइड्स के अलावा निकोटीन सोमननी विथनिनाईन एल्केलाइड् भी इस पौधे की जड़ों में पाया जाता है। अश्वगंधा पर आधारित शक्तिवर्धक औषधियां बाजार में टेबलेट, पावडर एवं केप्सूल फार्म में उपलब्ध हैं। इन औषधियों को भारत की समस्त अग्रणी आयुर्वेदिक कम्पनियों द्वारा शक्तिवर्धक केप्सूल या टेबलेट फार्म में विभिन्न ब्राण्डों जैसे वीटा-एक्स गोल्ड, शिलाजीत, रसायन वटी, थ्री-नॉट-थ्री, थर्टीप्लस, एनर्जिक-31 आदि के रूप में विक्रय किया जाता है। इन औषधियों में लगभग 5-10 मिलीग्राम अश्वगंध पावडर का उपयोग एक केप्सूल या टेबलेट में किया जाता है जिसका बाजार विक्रय मूल्य 10 से 15 रुपये प्रति केप्सूल होता है, जबकि अश्वगंधा की तैयार फसल का विक्रय मूल्य मात्र 40.00 रुपये से 80.00 रुपये प्रति किलो तक मिलता है। अर्थात् अश्वगंधा फसल के बिक्री मूल्य की तुलना में अश्वगंधा से तैयार औषधि का विक्रय मूल्य लगभग दस गुना अधिक होता है। मध्यप्रदेश में उत्पन्न होने वाली समस्त अश्वगंधा की फसल स्थानीय मंडियों के माध्यम से न्यूनतम 4000 रुपये प्रति क्विंटल पर अन्य प्रदेशों में स्थापित औषधि निर्माण कम्पनियों को भेजी जाती है। मध्यप्रदेश के मन्दसौर जिले में स्थापित एक कम्पनी द्वारा औषधि का निर्माण न करते हुए केवल अश्वगंधा पावडर को तैयार करके ही बड़ी कम्पनियों को बेचा जाता है। मध्यप्रदेश में अश्वगंधा का इतने व्यापक स्तर पर उत्पादन किया जा रहा है कि यहां पर अश्वगंधा पर आधारित औषधियों को निर्मित करने अथवा अश्वगंधा का पावडर तैयार करने की इकाईयां स्थापित करने की भी व्यापक संभावना है। इसके साथ-साथ इसकी व्यवसायिक खेती को भी एक लाभकारी स्वरोजगार के रूप में अपनाया जा सकता है।

अश्वगंधा की खेती की विधि

बलुई दूमट या हल्की लाल मिट्टी, जिसका पी.एच. मान 7.5 से 8.0 हो तथा जिसमें जल निकास की पर्याप्त व्यवस्था हो, अश्वगंधा की खेती के लिए उपयुक्त होती है। कृषि वैज्ञानिकों का मत है कि अपेक्षाकृत निम्न श्रेणी की भूमि का उपयोग किये जाने पर भी इसकी खेती से संतोषजनक उत्पादन मिल सकता है। यह एक पछेती खरीफ फसल है जिसे 650 से 750 मि.मि. वर्षा वाले क्षेत्रों में अच्छी तरह से उत्पादित किया जा सकता है एवं इसकी उत्पाद गुणवत्ता भी अच्छी रहती है। अश्वगंधा की खेती के लिये जवाहर अश्वगंध-20 प्रजाति ज्यादा उपयुक्त पाई गई है।

अश्वगंधा की बिजाई की विधि

सीधे बीज से अश्वगंधा की बुआई हेतु 4-5 किलो बीज प्रति एकड़ की दर से तैयार खेत में भारी वर्षा के उपरान्त छिड़काव विधि से बोये जाते हैं। वैसे इसकी बिजाई जुलाई माह से सितम्बर माह तक की जा सकती है। बिजाई से पूर्व दो ट्राली गोबर अथवा

उखाड़ने के उपरान्त अश्वगंधा की जड़ों की कटाई

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कम्पोस्ट खाद प्रति एकड़ खेत में मिलाना अच्छी फसल के लिए आवश्यक होगा। बीजों को बोने से पूर्व उन्हें डायथेन एम-45 से 3 ग्राम प्रति किलो की दर से उपचारित किया जाता है। बिजाई के 25-30 दिन बाद विरलीकरण कर 150-200 पौधे प्रति वर्ग मीटर रखे जाते हैं। नर्सरी में पौधे तैयार करके भी रोपण किया जा सकता है। इस विधि में 2 किलोग्राम बीज को मानसून आने के समय नर्सरी में बोया जाता है। 6-7 दिनों में अंकुरण पूर्ण होने के 6 सप्ताह के पश्चात् ये पौधे रोपण हेतु तैयार हो जाते हैं। पौधे 60 से.मी. × 60 से.मी. के अन्तर पर लगाये जाते हैं। बुआई से पहले 6 किलो नाइट्रोजन एवं 6 किलो स्फुर प्रति एकड़ मिट्टी में मिलाया जाता है।

अश्वगंधा की फसल में होने वाली प्रमुख बीमारियां

अश्वगंधा की फसल पर कीट व्याधी का कोई विशेष असर नहीं होता है। कभी-कभी इस फसल में माहू कीट तथा पौध झुलसा व पर्ण झुलसा लग सकता है जिसके नियंत्रण हेतु क्रमश: मैलाथियान या मोनोक्रोटोफास एवं बीज उपचार के अलावा डायथेन एम-45, 3 ग्राम प्रति लीटर पानी घोल में तैयार कर बुआई के 30 दिन के उपरान्त छिड़काव किया जा सकता है। आवश्यकता पड़ने पर 15 दिन के अन्तर से पुन: छिड़काव किया जाना उपयोगी होता है।

फसल की कटाई एवं उपज की प्राप्ति

अश्वगंधा की फसल की कटाई इसकी बिजाई के 150 से 170 दिन के बाद (दिसम्बर से फरवरी माह तक) की जाती है। फसल की परिपक्वता इसके फलों के लाल होने एवं पत्तियों के सूखने से मालूम होती है। परिपक्वता हो जाने पर सम्पूर्ण पौधे को उखाड़ लिया जाता है तथा तदुपरान्त जड़ों के गुच्छे से 1-2 से.मी. ऊपर से तना अलग कर दिया जाता है। सुखाने की सुविधा हेतु जड़ों को 7-10 से.मी. लम्बाई के टुकड़ों में काट लिया जाता है तथा जड़ों की ग्रेडिंग कर ली जाती है। फलों को सूखे पौधे से तोड़कर उनकी गहाई करके बीज निकाल लिए जाते हैं। प्राय :अश्वगंधा की फसल से प्रति एकड़ दो से तीन क्विंटल जड़ें तथा 20 से 30 किलोग्राम बीज प्राप्त होता है।

अश्वगंधा के बीजों की प्राप्ति तथा बिक्री व्यवस्था

अश्वगंधा की बिक्री मध्यप्रदेश की मन्दसौर एवं नीमच जिलों में स्थित रामपुरा, मनासा, नीमच आदि मण्डियों के माध्यम से की जा सकती है। बीजों की प्राप्ति तथा फसल बिक्री हेतु **मे. राज एण्ड कम्पनी, काटजू मार्केट के पीछे, पारसी मन्दिर के पास, नीमच फोन (07423) 21600** से भी सम्पर्क किया जा सकता है।

अश्वगंधा की खेती के आर्थिक पहलू

छ: माह की अवधि की अश्वगंधा की खेती पर प्रति एकड़ लगभग 6,000/- रु. की लागत आती है जबकि इसके उत्पादों से लगभग 20,000/- रु. की प्राप्तियां होती हैं। यदि खेती कार्बनिक पद्धति से की जाए तो फसल की 30% अधिक कीमत मिल सकती है।

अश्वगंधा एक बहुउपयोगी औषधीय फसल है जिसे कृषक वर्ग व्यवसायिक खेती के रूप में अपनाकर अधिकाधिक लाभ प्राप्त कर सकता है।

अश्वगंधा की खेती से संबंधित प्रति एकड़ आय-व्यय का ब्यौरा

क. लागत का ब्यौरा

1.	खेत की तैयारी पर व्यय	=	500/-
2.	बीज की लागत (5 कि.ग्रा. बीज 50 रु. प्रति कि.ग्रा. की दर से)	=	250/-
3.	खाद तथा कीटनाशकों की लागत	=	2,000/-
4.	पानी देने, निराई-गुड़ाई तथा पौध संरक्षण पर व्यय	=	1,000/-
5.	जड़ें इकट्ठी करने, साफ करने, ग्रेडिंग करने तथा पैकिंग पर व्यय	=	2,000/-
		योग . .	5,750/-

ख. प्राप्तियां

1.	जड़ों की बिक्री से प्राप्तियां (तीन क्विंटल जड़ें 6,000/- रु. प्रति क्विंटल की दर से)	=	18,000/-
2.	बीजों के रूप में प्राप्तियां (30 कि.ग्रा. बीज, 50 रु. प्रति कि.ग्रा. की दर से)	=	1,500/-
		योग . .	19,500/-

ग. लाभ प्रति एकड़ = 13,750/-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

22. औषधीय पौधा - कालमेघ

वानस्पतिक परिचय

कालमेघ – एक शाक वर्ग का पौधा होता है जिसका स्वरूप मिर्ची के आकार का एक से तीन फुट तक ऊंचा होता है। इसको वानस्पतिक भाषा में एन्ड्रोग्राफिस पेनीकुलेटा (Andrographis peniculata) के नाम से जाना जाता है, जो वासाकुल वर्ग (Acanthaceae) के अंतर्गत आता है। इसे विभिन्न भाषाओं में अलग-अलग नामों से जानते हैं जैसे-हिन्दी में कालमेघ तथा कल्पनाथ; संस्कृत में-भूनिम्व, कालमेघ; बंगाली में-कालमेघ; गुजराती में-करियातु; तेगलु में-नेलवेमु; फारसी में-नैनहवन्दी; अंग्रेजी में-कालमेघ आदि। इसका संपूर्ण पौधा (पंचांग) औषधीय उपयोग में लाया जाता है। इस पौधे की उत्पत्ति भारत ही है।

कार्यकारी तत्व

कालमेघ में एण्ड्रोग्राफोलिड (Andrographolid) तथा कालमेघिन नामक तिक्त पदार्थ पाये जाते हैं। इसके गुण-लघु रूक्ष, रस-तिक्त, विपाक-कटु तथा वीर्य-उष्ण होता है। औषधीय उपयोगों में यह अग्निमांध, यकृतवृद्धि (लीवर इनलार्ज), विवन्ध, रक्त विकार शोथ, मलेरिया ज्वर, जीर्ण ज्वर तथा चर्म रोगों में प्रयुक्त होता है।

विशिष्ट योग

मुख्य रूप से इसके चूर्ण, स्वरस तथा क्वाथ का प्रयोग होता है। आयुर्वेदिक कंपनियों द्वारा कालमेघ तरल सत्व तथा होमियोपैथिक में "कालमेघ ड्रॉप" बनाया जाता है जिसका उपयोग कामला, खून की कमी तथा लीवर की बीमारियों में करते हैं।

"काल मेघवस्तु भूनिम्बों यवकार फलस्तथा। सुतिक्त लघुरूक्षोष्ण कफ पित्त विनाशनमं। दीपन: स्वेदनो ज्ञेय: कृमिघ्न: पित्तसारक:। यकृत् रोगे क्रिमौ कुण्ठ ज्वरे चातौ प्रश्स्यते।।""

कालमेघ की खेती

कालमेघ वनों में प्राकृतिक रूप से उगता है तथा इसकी खेती भी की जाती है। इसकी खेती करने के लिए सर्वप्रथम पौध/नर्सरी तैयार की जाती है तथा जब पौधे लगभग 30-35 दिन के हो जाएं तो उन्हें बड़े खेत में लगा दिया जाता है। **उपयुक्त भूमि**-उत्तम जल निकास युक्त बलुई दोमट मिट्टी इसकी खेती के लिए उपयुक्त होती है। **सिंचाई**-आवश्यकतानुसार (चूंकि यह वर्षा ऋतु की फसल है इसलिए इसकी सिंचाई आवश्यकता होने पर ही की जानी चाहिए)।

उर्वरक - फास्फोरस = 30 कि.ग्रा., पोटाश = 30 कि.ग्रा. तथा नत्रजन =60 कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर।

गोबर की खार = 10 टन/हैक्टेयर

बीज की मात्रा = 1 से 1.5 कि.ग्रा.

नर्सरी अवधि = 15 जून के करीब

रोपण = एक माह की नर्सरी से (जुलाई-अगस्त)

पौधों की दूरी = 30x30 से.मी.

कुल पौधों की संख्या प्रति हैक्टेयर = 111111

परिपक्व काल = 4-6 माह (पुष्प, फल व बीज आने पर)

प्रति हैक्टेयर खेती पर आय-व्यय का विवरण

क्र.	विवरण	दैनिक श्रमिक संख्या	दर	कुल लागत
1.	नर्सरी हेतु	5	50	250/-
2.	पौध रोपण हेतु	80	50	4,000/-
3.	कटाई एवं प्रोसेसिंग हेतु	80	50	4,000/-
4.	बीज (मात्रा) कि.ग्रा.	1.5 कि.ग्रा.	1000 रु. प्रति कि.ग्रा.	1,500/-
5.	फर्टीलाइजर			1,000/-
6.	गोबर की खाद	10 टन	250 प्र.ट.	2,500/-
7.	अन्य खर्च (ढुलाई आदि सहित)	-	-	5,750/-
			कुल व्यय	**=19,000/-**

कुल उपज = 40 क्विंटल पंचांग

बिक्री दर = 1,000/- रु. प्रति क्विंटल

* विंक्रय से कुल प्राप्तियां = 40,000/-

शुद्ध लाभ = 21,000/- प्रति हैक्टेयर

बीज प्राप्ति

इसके बीजों की प्राप्ति हेतु निम्नलिखित पते पर संपर्क किया जा सकता है -

- **श्री राजेश खत्री**, भीलवारे हर्बल एक्सट्रेक्ट कं., एच-3, लेन-1, इब्राहिमगंज, भोपाल बस स्टैण्ड के पास, भोपाल (म.प्र.) मोबाइल - 9827094336 फोन (0755) - 745942

नोट - * उपर्युक्त प्राप्तियां कलकत्ता किराना मार्केट की दरों पर निर्धारित हैं। दरों में परिवर्तन संभव है। कानपुर तथा मध्यप्रदेश के कटनी, सतना स्थित थोक किराना व्यापारी भी इसे खरीदते हैं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

23. ईसबगोल

ईसबगोल (प्लान्टेगो ओवेटा) प्लान्टेजिनसी कुल का सदस्य है। यह एक महत्वपूर्ण औषधीय फसल है तथा भारत इसका सर्वाधिक उत्पादक एवं निर्यातक देश है। भारत में प्रमुखतया गुजरात, पंजाब एवं उत्तरप्रदेश में इसका उत्पादन होता है। पिछले कुछ वर्षों से इसका उत्पादन मध्यप्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों जैसे मन्दसौर जिले की मल्हारगढ़, मनासा, नीमच एवं मन्दसौर तहसीलों में भी लगभग 5,000 हजार हेक्टेयर क्षेत्रफल में किया जा रहा है। इसकी औषधि के बहुत अधिक उपयोगी होने, इसकी कृषि की सरल प्रक्रिया तथा उससे अल्प अवधि में अधिकाधिक लाभ प्राप्त होने एवं इसकी फसल की बिक्री हेतु पर्याप्त निर्यात बाजार के साथ-साथ स्थानीय शासकीय मण्डी जैसी उत्तम व्यवस्थाओं के कारण इस औषधीय फसल को प्रदेश के किसानों द्वारा सहर्ष स्वीकार किया जा रहा है। उल्लेखनीय है कि वर्तमान में हमारे देश से निर्यात होने वाली औषधीय फसलों में प्रमुख स्थान ईसबगोल का ही है।

ईसबगोल के औषधीय गुण एवं उपयोग

ईसबगोल के बीजों पर पाया जाने वाला पतला छिलका ही इसका औषधीय उत्पाद होता है। इस छिलके में एक लसलसा पदार्थ रहता है जिसमें इसके वजन से कई गुना अधिक पानी अवशोषित करने की क्षमता होती है। इस औषधि को पेट की सफाई, कब्जियत, अल्सर, बवासीर, मूत्रसंस्थान, दस्त, आंव-पेचिश जैसी शारीरिक बीमारियों को दूर करने में आयुर्वेदिक औषधि के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इसके अतिरिक्त ईसबगोल को प्रिंटिंग, खाद्य प्रसंस्करण उद्योगों जैसे आईस्क्रीम तथा रंगरोगन के काम में भी प्रयुक्त किया जाता है। पानी सोखने की इसकी क्षमता के कारण इसकी भविष्य में शुष्क उद्यानिकी एवं शुष्क खेती हेतु प्रयुक्त किये जाने की भी विपुल संभावना है। ईसबगोल के पौधे लगभग 90 से.मी. तक ऊंचे होते हैं तथा इनसे 20 से 95 टीलर्स (कल्ले) निकलते हैं।

ईसबगोल पर आधारित अनेकों औषधियां, पावडर एवं भूसी भारतीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में प्रचलित हैं। भारतीय बाजार में डॉबर इंडिया द्वारा "नेचर केयर" ब्रान्ड के नाम से ईसबगोल की भूसी विभिन्न स्वादों में एवं साधारण रूप में पाउच व डिब्बा पेकिंग में 10 ग्राम से लेकर 500 ग्राम तक में प्रस्तुत की जा रही है। इसके साथ-साथ अन्य कई कम्पनियों द्वारा भी विभिन्न ब्रान्डों में ईसबगोल का विक्रय किया जा रहा है, जिनमें "जिलेकस", "सिलेकस", सोना, टेलिफोन एवं हिरण ब्राण्ड प्रमुख हैं। ये सभी उत्पाद पावडर रूप में प्लेन व फ्लेवर फार्म में गुजरात से बनकर भारतीय व अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में विक्रय हेतु प्रस्तुत किए जा रहे हैं। मध्यप्रदेश में ईसबगोल की फसल को औषधि रूप में तैयार करने के लिये वर्तमान में एक भी इकाई स्थापित नहीं है लेकिन यदि इस प्रकार की इकाई स्थापित की जाये तो वर्तमान में प्रदेश में उत्पादित ईसबगोल फसल का उपयोग प्रदेश में ही किया जा सकता है। इसके साथ ही किसानों के लिये भी एक उचित वातावरण का निर्माण करके अधिकाधिक फसल प्राप्त की जा सकती है। वर्तमान में प्रदेश की ईसबगोल फसल स्थानीय मण्डियों के माध्यम से गुजरात की ऊंझा मण्डी को लगभग 1100 रु. से 1200 रु. प्रति क्विंटल के न्यूनतम भाव पर विक्रय की जा रही है जबकि इससे तैयार औषधि के 100 ग्राम पैकेट का विक्रय मूल्य लगभग 10 से 15 रु. के मध्य है अर्थात् तैयार औषधि का विक्रय मूल्य ईसबगोल की फसल बिक्री मूल्य से लगभग दस गुना अधिक है।

ईसबगोल की खेती की विधि

ईसबगोल की खेती हेतु सीमान्त भूमि जिसमें जल निकास अच्छा हो एवं जिसका पी.एच. 7 से 8 के मध्य हो, अच्छी मानी जाती है। इसकी फसल की बुआई अक्टूबर के द्वितीय पखवाड़े से लेकर नवम्बर माह के प्रथम पखवाड़े तक की जा सकती है। बुआई कतारों से एवं छिड़काव विधि-दोनों से की जा सकती है। कृषि महाविद्यालय मंदसौर में किये गये अनुसंधानों में 25-30 से.मी. की दूरी पर कतारों में 1 से.मी. गहराई पर 5-7 कि. ग्राम बीज की प्रति हेक्टेयर

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बुआई करना उत्तम पाया गया है। ईसबगोल की फसल हेतु प्रयुक्त की जाने वाली बीज की प्रमुख किस्में गुजरात-1, गुजरात-2, ट्रांबे सेलेक्शन (1-10) और ईसी 124 व 345 हैं। इनमें से अपेक्षाकृत गुजरात-2 को अधिक अपनाया गया है। ये सभी किस्में स्थानीय मंडियों, किसानों या विक्रेताओं से लगभग 30 से 40 रु. प्रतिकिलो की दर से प्राप्त की जा सकती हैं। ईसबगोल की फसल को अधिक मात्रा में प्राप्त करने के लिये खाद व उर्वरक के रूप में गोबर की खाद 15 टन प्रति हेक्टेयर बुआई के समय खेत में डाली जाती है। इसके साथ ही नत्रजन 50, स्फुर 40 तथा पोटाश 24 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर की दर से देने से अच्छी उपज प्राप्त होती है। नत्रजन का 50% भाग बुआई के समय तथा शेष 50% बुआई के एक माह पश्चात् दिया जाता है। बीज की बुआई के तुरन्त बाद एक हल्की सिंचाई देवें। बुआई के 6-10 दिन में अंकुरण हो जाता है। बुआई के तीन सप्ताह बाद पुन: सिंचाई करें। तीसरी सिंचाई ''बाली'' बनते समय दी जाती है। यदि पानी की पर्याप्त सुविधा उपलब्ध हो तो2-3 सिंचाइयां मिट्टी में नमी बनाये रखने के लिए और भी दी जा सकती हैं। सिंचाई के पश्चात् एक-दो गुड़ाई की जाती है।

ईसबगोल फसल की प्रमुख बीमारियां एवं कीट-व्याधि

ईसबगोल की फसल की प्रमुख बीमारियां डाऊनी मिल्डीव, झुल्सा एवं पावडरी मिल्डीव हैं। इन बीमारियों के उपचार हेतु क्रमश: डायथेन एम-45, 3 ग्राम प्रति लीटर, केप्टान या केप्टाफाल 2 ग्राम प्रति लीटर एवं वेविस्टीन 1 ग्राम प्रति लीटर का घोल तैयार करके इसका छिड़काव तथा ड्रेंचिंग की जाती है। ईसबगोल की फसल की प्रमुख कीट-व्याधि व्हाईट ग्रब एवं एफीड्स (मोइला) है। इन कीटों पर नियंत्रण हेतु क्रमश: 20-25 किलो एल्ड्रीन डस्ट प्रति हेक्टर की दर से बुआई के समय खेत में मिलायी जाती है एवं एफीड्स कीट दिखाई देने पर मेटासीस्टाक एक मि.ली. प्रति लीटर पानी में मिलाकर छिड़काव किया जाता है।

ईसबगोल की फसल की कटाई

ईसबगोल की फसल 100-130 दिन में तैयार हो जाती है। जब बाली लाल पड़कर दाने हाथ से मसलने पर ही निकलने लगें तो इसकी परिपक्वता पूर्ण हो जाती है। इसकी कटाई सुबह के समय की जाती है जिससे बीज कम से कम झड़ते हैं। फसल की कटाई के पश्चात एवं गहाई के पूर्व फसल की ढेरियों पर थोड़ा पानी छिड़क दिया जाता है जिससे दाने आसानी से अलग हो जाते हैं। ओसाई करके भूसा अलग करके साफ बीज प्राप्त कर लिए जाते हैं। चार-पांच दिन सुखाने के बाद बीज बोरों में भरकर संग्रहित कर लिए जाते हैं।

ईसबगोल की उपज

ईसबगोल की फसल से प्रति हेक्टेयर 15-20 क्विंटल उपज प्राप्त होती है। इसके बीज की भूसी जो वजन में लगभग 20 प्रतिशत होती है, वही औषधि निर्माण में प्रयुक्त होती है। एक हेक्टर की खेती से लगभग 5 क्विंटल भूसी प्राप्त होती है।

ईसबगोल की खेती के संदर्भ में रखी जाने वाली प्रमुख सावधानियां

1. ईसबगोल की खेती को पकते समय शुष्क मौसम की आवश्यकता होती है। हल्की बौछार भी ईसबगोल की बाली से बीजों को जमीन पर बिखेर कर फसल को नुकसान पहुंचा सकती है।

2. ईसबगोल की फसल को पशुओं द्वारा नुकसान पहुंचाया जा सकता है, अत: इसे पशुओं से भी बचाया जाना अनिवार्य है।

3. इसके बीजों के अंकुरण के समय 20-25 डिग्री सेन्टीग्रेड तथा बढ़वार के लिये 30-35 डिग्री सेन्टीग्रेड ताप की आवश्यकता होती है।

4. इसकी देरी से बुआई कम उत्पादन के अलावा कीट बीमारी के प्रकोप का कारण भी हो सकती है।

5. इसके बीजों को 3 ग्राम थायरम या डायथेन एम-45 से उपचारित करने के पश्चात् ही बोया जाना चाहिए।

6. इसके बीज बारीक होने के कारण बुआई करते समय उनमें बारीक मिट्टी या रेत मिलाया जाना चाहिए।

संक्षेप में, ईसबगोल एक बहुउपयोगी एवं निर्यातोन्मुखी फसल है जिसे नये युवा व्यवसायिक खेती के रूप में अथवा औषधि निर्माण की इकाई के रूप में अपना करके अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

24. बच की खेती (Acorus calamus)

बच एरेसी (Araceae) कुल का एक पौधा है जिसका वानस्पतिक नाम "एकोरस केलमस" है। संस्कृत में इसका नाम बच बोलना, शदग्रंथा-छ: गांठों वाला, उग्रगंधा, तीखी वैखण्ड, बसुन्बा चिरपिति सुगंध है। इसका तना (राइजोम) बहुशाखित व भूमिगत होता है। पत्तियां रेखाकार से भालाकार, नुकीली मोटी मध्य शिरा युक्त होती हैं। इसका पुष्पक्रम 4.8 से.मी. का स्पेडिक्स होता है। इसके फूल हरापन लिए पीले होते हैं तथा इसके फल लाल तथा गोल होते हैं।

बच का पौधा संपूर्ण भारत वर्ष में—मुख्य रूप से हिमाचल प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार आदि प्रदेशों में पाया जाता है। मध्यप्रदेश में विन्ध्य पठारी प्रदेश, नर्मदा, सोन घाटी, सतपुड़ा, मेकल प्रदेश आदि में यह बहुतायत में पाया जाता है। नदी-नालों के किनारे तथा दलदली एवं गीली जगह इसकी खेती के लिए ज्यादा उपयुक्त होती है।

उपयोग- बच के राइजोम का तेल ग्रेस्ट्रिक, श्वास रोगों में, बदहजमी, दस्त, मूत्र एवं गर्भ रोगों में, हिस्टीरिया एवं खांसी इत्यादि रोगों में प्रयुक्त होता है। बच के राइजोम से बनाई जाने वाली प्रमुख औषधियां इस लेख के अंत में सारणी क्र. 1 में दर्शाई गई हैं।

बच की कृषि तकनीक

जलवायु : जिन क्षेत्रों का तापमान 10°C से 38°C सेल्सियस तथा जहां वार्षिक वर्षा 70 से.मी. से 250 से.मी. तक होती हो, वे बच की खेती के लिए उपयुक्त होते हैं।

मिट्टी : बच की खेती के लिए बालुई दोमट मिट्टी, जहां सुनिश्चित सिंचाई व्यवस्था हो अथवा जहां पानी खड़ा रहता हो अधिक उपयुक्त होती है। जिन क्षेत्रों में सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था न हो, वहां बच की खेती नहीं करनी चाहिए।

भूमि की तैयारी : बच की खेती के लिए वर्षा से पहले भूमि की दो-तीन बार अच्छी तरह जुताई कर लेनी चाहिए। रोपाई से पहले भूमि की तैयारी धान की तैयारी की

बच की फसल से हरा-भरा खेत

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तरह की जानी चाहिए। भूमि को थोड़ी दलदली बनाया जाए तो ज्यादा उपयुक्त होगा।

बच की बिजाई अथवा संवर्धन : बच की खेती के लिए इसके राइजोम को लगाया जाता है। इसके लिए प्लांटिंग मेटेरियल प्राप्त करने हेतु इसके पुराने राइजोम को ऐसी मिट्टी में, जहां लगातार नमी बनी रहती हो, दबाकर रखा जाता है। इनमें नये अंकुरण होने पर इन राइजोम को छोटे-छोटे टुकड़ों में काटकर इनका रोपण किया जाता है।

रोपाई : काटे गए राइजोम के टुकड़ों को तैयार की गई भूमि में 30×30 से.मी. के अंतराल पर मिट्टी के लगभग 4 से.मी. अंदर बरसात शुरु होने से पहले अथवा बरसात शुरु होते ही जून माह में लगाया जाता है। इस प्रकार प्रति हेक्टेयर लगभग 1,11,000 पौधे लगाये जाते हैं। यदि भूमि गीली अथवा दलदली न हो तो रोपाई के तुरन्द बाद आवश्यक रूप से पानी देना चाहिए। बच की वृद्धि दर बहुत अच्छी होती है तथा दूसरे दिन से ही पौधों में वृद्धि दिखाई पड़ने लगती है।

खाद : अच्छी फसल के लिए लगभग 15 ट्राली गोबर खाद अथवा कम्पोस्ट खाद प्रति हैक्टेयर की दर से रोपाई से पहले भूमि में मिला देनी चाहिए।

सिंचाई : बच की कृषि तकनीकी का सबसे महत्वपूर्ण पहलू इसके लिए पानी की अत्याधिक आवश्यकता है। वर्षा ऋतु में सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती। बाकी दिनों में 2-3 दिन के अंतराल में सिंचाई होना वांछित होता है। विशेष रूप से नदी-नालों के किनारे की जमीनें जहां हमेशा दलदल रहता हो या जहां पानी भरा रहता हो तथा जहां कोई अन्य खेती न ली जा सकती हो, वहां इसकी खेती बहुत अधिक लाभदायक होती है।

निंदाई-गुड़ाई : बच की अच्छी पैदावार प्राप्त करने के लिए खरपतवार पर नियंत्रण तथा जमीन के वायु विनमय के लिए समय-समय पर निंदाई एवं गुड़ाई आवश्यकतानुसार करते रहना चाहिए।

बच का पौधा

1. **वानस्पतिक नाम :** एकोरस केलमस.
2. **उपयोग :** पेट विकारों, मूत्र रोगों, गर्भरोगों, खांसी, हिस्टीरिया, मानसिक तनाव, ट्रंक्यूलाइजर, लिवर की बीमारियों से संबंधित दवाएं बनाने हेतु प्रयुक्त.
3. **उपयुक्त जलवायु :** 10 से 38 डिग्री सेल्सियस तक तापमान, दलदली भूमि, पानी की पर्याप्त मात्रा में आवश्यकता.
4. **मिट्टी :** बलुई दोमट मिट्टी, सिंचाई की व्यवस्था सहित.
5. **बिजाई की विधि :** राइजोम द्वारा.
6. **प्रयुक्त किया जाने वाला भाग :** राइजोम.
7. **बिजाई हेतु उपयुक्त समय :** जून माह
8. **फसल की अवधि :** लगभग 9 माह.
9. **उपज :** 40-41 क्विंटल सूखी राइजोम प्रति हेक्टेयर.
10. **लाभप्रदता :** लगभग 30,000 रु. प्रति एकड़

विभिन्न भाषाओं में बच के नाम

Botanical	:	Acorus Calamus
English	:	Sweet Flag
Bengali	:	Bach
Gujrati	:	Bekhand
Konkani	:	Ekhanda
Malayalam	:	Vasambu
Marathi	:	Vekhand
Punjabi	:	Bariboj
Tamil	:	Vasambu
Sanskrit	:	Vasa

राइजोम का निकालना : 8-9 माह की खेती के बाद मार्च-अप्रैल माह में जब बच के पौधों की पत्तियां पीली पड़ने लगती हैं व सूखने लगती हैं तब इसके पौधे को जड़ समेत जमीन से खोदकर निकाल लेना चाहिए। यदि खेती बड़े स्तर पर की जा रही हो तो हल चलाकर भी राइज़ोम निकाले जा सकते हैं। पत्तियों को राइज़ोम से काटकर अलग कर लिया जाना चाहिए।

सुखाना : निकाले गए राइजोम को पानी में धोए बिना साफ करके छोटे-छोटे टुकड़ों में काटकर छायादार जगह में फैलाकर सुखाया जाता है (जिससे इसमें उपस्थित तेल की मात्रा का ह्रास न हो) तथा तद्नुसार बोरों में भरकर विक्रय हेतु भिजवाया जा सकता है।

उपज एवं लाभ

(9 माह की फसल से)
उपज प्रति हेक्टेयर =40 क्विंटल (सूखे राइजोम)
व्यय प्रति हेक्टयेर = रु. 32,000/-
विक्रय मूल्य = रु. 2500/- प्रति क्विंटल
कुल लाभ = रु.1,00,000/- प्रति हेक्टेयर
शुद्ध लाभ = रु. 68,000/- प्रति हेक्टेयर

औषधि निर्माण हेतु राइज़ोम प्राप्त होने के साथ-साथ प्रति हैक्टेयर लगभग 62,500 रु. का प्लांटिग मेटेरियल भी प्राप्त होता है जोकि किसान के लिए अतिरिक्त आय होगी।

इस पौधे का उपयोग निम्नानुसार वर्णित अनेकों प्रकार के रोगों के उपचार हेतु किया जाता है। इस पौधे की मार्केटिंग हेतु उद्यमी उन विभिन्न फार्मेसियों से संपर्क कर सकते हैं जो इस प्रकार के टॉनिक्स/दवाओं का निर्माण कर रही हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सारणी क्र. 1 : बच के राइज़ोम का विभिन्न औषधियां बनाने में उपयोग

अनु. क्र.	आयुर्वेदिक दवाओं के निर्माता	बच राइज़ोम से बनाई जाने वाली औषधियों के नाम	प्रमुख उपयोग
1.	एच. बी. फार्मा, राजकोट	1. क्रुमिना सिरप	सभी प्रकार के आंतकृमियों के उपचार में उपयोगी है.
		2. सपैरस्मोकार पिन सिरप	इसका इस्तेमाल एन्टी स्पैसमोडिक केरूप में बगैर सीडेशन के किया जाता है.
		3. एन्टोस्प्रे पाउडर	त्वचा को रेशम सा नर्म, मुलायम तथा चमकदार बनाने के लिए.
		4. दन्त दुख पाउडर	दांत दर्द में.
		5. ओटोमार ड्राप्स	बाहरी तथा मध्य कान में तीव्र अथवा क्रीमिक जीवाणु संक्रमण में प्रयोग करते हैं.
		6. सपैस्मोकैरोनिक ड्राप्स	यह एंटी स्पैसमोडिक तथा कारमीनेटिव मिश्रण है जोकि छोटे बच्चों के कॉलिक दर्द तथा पाइलेटिक स्पैमस में तुरन्त आराम के लिए उपयोग में लाया जाता है.
2.	शिल्पाकेम, इन्दौर	1. लीवोबेल ड्राप्स	लीवर की बीमारियों में प्रयोग किया जाता है.
		2. लीवोबेल सिरप	लीवर की बीमारियों में प्रयोग किया जाता है.
		3. साइबिल टैबलेट	ट्रंक्युलाइजर के रूप में प्रयुक्त होता है.
		4. शिल्पाजाइम सिरप	अपच होने पर प्रयुक्त किया जाता है.
3.	चरक फार्मास्युटिकल, मुम्बई	1. ड्राइकोनिल सिरप	सर्दी, जुकाम तथा अस्थमा में प्रयोग किया जाता है.
		2. गैलाकोल	दूध बढ़ाने के लिए
		3. नेड टैबलेट	एपिलेप्सी में प्रयुक्त
		4. रिमैनिल टैबलेट	हड्डी में सूजन, जोड़ों में दर्द, पीठ दर्द तथा रियुमेटिस में यह प्रयोग की जाती है.
		5. सेप्रा टैबलेट	मानसिक तनाव में प्रयुक्त.
		6. ट्रेक्युनिल	ट्रंक्युलाइजर के रूप में प्रयुक्त.
4.	अतासिन, मुम्बई	1. फोरटेज	सेक्स टॉनिक के रूप में प्रयोग की जाती है.
		2. सूकतिन	अम्लपित्त, गैस्ट्रो, कार्डियक सिन्ड्रोम, फ्लैचुलेन्स, डिस्पेप्सिया, गैस्ट्राइटिस तथा पेप्टिक अलसर में प्रयुक्त होती है.
		3. सिलेडिन	सभी साइकोसोमैटिक विकारों में ट्रंक्युलाइजर के रूप में प्रयुक्त की जाती है.

बच की खेती से संबंधित होने वाले आय-व्यय का ब्यौरा (प्रति एकड़)

क. कुल व्यय अथवा लागत

1.	भूमि की तैयारी पर व्यय	=	1000/-
2.	रोपण सामग्री पर व्यय [45000 राइज़ोम (टुकड़े) 40 पैसा प्रति राइज़ोम की दर से]	=	18000/-
3.	खाद पर व्यय (6 टन गोबर अथवा कम्पोस्ट खाद 250 रु. प्रति टन की दर से)	=	1500/-
4.	कीटनाशकों आदि पर व्यय	=	500/-
5.	रोपण, निराई-गुड़ाई तथा पौध संरक्षण पर व्यय (30 मजदूर दिवस)	=	1500/-
6.	फसल उखाड़ने तथा उपज की साफ-सफाई, पैंकिंग तथा ढुलवाई आदि पर व्यय	=	2500/-
	योग . .		25000/-

ख. खेती से प्राप्तियां

1.	16 क्विंटल सूखी बच (2500 रु. प्रति क्विंटल की दर से)	=	40000/-
2.	प्लांटिंग मेटेरियल के रूप में प्राप्तियां	=	25000/-
	योग . .		65000/-

ग. लाभ (प्रति एकड़) = **40000/-**

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

25. मालकांगनी (Celastrus Peniculatus willd) की खेती

मालकांगनी, जिसे संस्कृत में ज्योतिष्मती कहा जाता है, एक वृक्षारोही बहुवर्षी लता है जोकि हिमाचलप्रदेश, पंजाब, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश आदि राज्यों में जंगलों में बहुतायत में पाई जाती है। इस पर मटर के आकार के हरे (पकने पर लाल-पीले) रंग के तीन कोष्ठों वाले फल लगते है जिनके प्रत्येक कोष्ठ में लाल रंग के बीज होते हैं। इन बीजों से तेल निकाला जाता है। मध्यप्रदेश के बस्तर इलाके में इसकी बड़ी-बड़ी लताऐं वृहद आकार के वृक्षों पर चढ़ी हुई देखी जा सकती हैं। इस लता पर अप्रैल-मई माह में फूल आते हैं तथा सितम्बर-अक्टूबर माह में फल प्राप्त होते हैं। इसके बीजों तथा उनसे एक्सट्रैक्ट किए जाने वाले तेल का उपयोग ही औषधीय कार्य हेतु किया जाता है।

मालकांगनी तिक्त, ऊष्ण, उत्तेजक, स्वेदजनन, मूत्रजनन, मेध्यबुद्धिवर्धक, वातहर तथा त्वकदोषहर मानी जाती है। चरक एवं सुश्रुत के मतानुसार यह उन्माद एवं उपस्मार में उपयोग होती है। पक्षाघात एवं सफेद दाद में भी इसका उपयोग किया जाता है। इसके बीजों के कृष्णवर्ण स्थिर तैल, सैलेस्ट्रीन एवं पैनीकुलेटीन एल्केलाइड एवं रंजक द्रव्य तथा अल्प मात्रा में टैनिन पाया जाता है। इसके प्रमुख शास्त्रीय औषध योग हैं- ज्योतिष्मती तैल, मरिच्यादि तैल, मल्ल तैल आदि।

मालकांगनी एक बहुवर्षीय झाड़ीनुमा लता होती है अत: एक बार इसे लगाकर इससे कई वर्षों तक बीज प्राप्त किए जा सकते हैं। सम्पूर्ण भारत में तथा लगभग सभी प्रकार की मिट्टियों में इसकी खेती की जा सकती है।

मालकांगनी की खेती करने के पूर्व सर्वप्रथम इसके परिपक्व बीजों को क्यारियों में बोकर इसकी पौध तैयार की जाती है। पौधे बड़े होने पर बड़े वृक्षों के साथ इसकी लताऐं रोपित की जा सकती हैं जिससे इन्हें फैलने एवं वृद्धि करने का माध्यम मिल जाता है। रोपी गई लताओं से दूसरे वर्ष से उपज (बीज) प्राप्त होने शुरू हो जाते हैं। इसके बीजों की काफी अधिक मांग है तथा वर्तमान में इनका भाव लगभग 60/- रु. से 100 रु. प्रति कि. ग्राम तक है।

विधिवत आरोहण की व्यवस्था करके भी इसकी खेती की जा सकती है। ऐसी स्थिति में इसकी प्रति एकड़ 5x5 फीट की दूरी पर लगभग 2000 पौधे/लताऐं लगेंगी जिनसे दूसरे वर्ष से प्रति पौधा लगभग 2 कि.ग्रा. सूखे बीज प्राप्त होंगे। लताओं की वृद्धि के साथ-साथ उनके मिलने वाले उत्पाद की मात्रा भी बढ़ेगी तथा दस वर्ष की पुरानी लता से लगभग 10 कि.ग्रा. तक बीज प्राप्त हो सकते हैं।

जब लताएं ज्यादा पुरानी हो जाएंगी तो उन्हें फैलने के लिए भी ज्यादा स्थान की आवश्यकता होगी जिससे आवश्यकतानुसार बीच के पौधे काटने की आवश्यकता महसूस होगी। इस प्रकार यदि प्रति एकड़ 200 लताऐं भी सफल हों तथा प्रत्येक लता से औसतन 5 कि.ग्रा. बीज भी प्राप्त हों तो इस पौधे की खेती से 50-60 वर्ष तक 60000 रु. तक का लाभ प्रति एकड़ प्राप्त किया जा सकता है।

हरि ॐ

PATIDAR MUSLI FARM & RESEARCH CENTRE JOTPUR

पाटीदार मूसली फार्म एण्ड रिसर्च सेंटर

PATIDAR MUSLI FARM & RESEARCH CENTRE

ग्राम - पो. जोतपुर, तेह. मनावर, जिला - धार (म.प्र.) 454446

Vil. - Jotpur, Teh.-Manawar, Dist.-Dhar (M.P.) 454446

(07294) 67251 (F/R), 67250 (R), FAX - (07294) 67251, 32263

E-mail : herbalgardenindia@yahoo.com Website : www.allyoz.com/muslifarm

सम्पर्क करें

श्रीधर पाटीदार/मुकेश पाटीदार

• सफेद मूसली (क्लोरोफायटम बोरिविलिएनम) के शुद्ध बीज (कन्दों) का प्रदाय। • मूसली की हायटेक कृषि तकनीक का निःशुल्क परामर्श • बुआई तक बीज (कन्दों को) सुरक्षित रखने की एयरकूल्ड स्टोरेज में सुविधा। • देश का एकमात्र बड़ा मूसली उत्पादक फार्म (अभी 55 एकड़ में मूसली लगी है)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

26. सर्पगंधा की कृषि तकनीक

सर्पगंधा (रावेलफिया सर्पेन्टिना) ''एपोसायनेसी'' कुल का एक प्रमुख औषधीय पौधा है। संस्कृत में इसे सर्पगंधा तथा हिन्दी में इसे चन्द्रभागा या छोटा चांद भी कहते हैं। करीब 3,000 वर्ष पूर्व लिखी गई पुस्तक ''सुश्रुत'' में भी इसका वर्णन मिलता है। इस तरह भारत वर्ष द्वारा विकसित आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति में उपयोग में लाए जाने वाले पौधों में, सर्पगंधा अपना एक विशेष स्थान रखता है। सिद्दिकी के 1931 एवं वकील के 1941 के शोध कार्यों ने सर्पगंधा को एक प्रमुख औषधीय पौधे के रूप में स्थापित किया लेकिन जब मुलर, श्लिटर व बेन ने वर्ष 1952 में सर्पगंधा की जड़ों में प्रमुख तत्व **रिसरपिन** होना बताया तो यह पूरे विश्व का एक प्रमुख औषधीय पौधा बन गया। अभी तक सर्पगंधा की जड़ों से कई तत्व निकाले जा चुके हैं परन्तु इससे निकाले गए प्रमुख तत्व (एलकोलाईड)-रिसरपिन, सर्पेन्टिन, एजमेलिसिन, जिनका उपयोग उच्च रक्तचाप (High blood pressure), अनिद्रा, उन्माद, हिस्टीरिया आदि बीमारियों को रोकने वाली औषधियों के निर्माण में किया जाता है, ने सर्पगंधा को औषधीय पौधों में एक विशेष दर्जा दिलाया है।

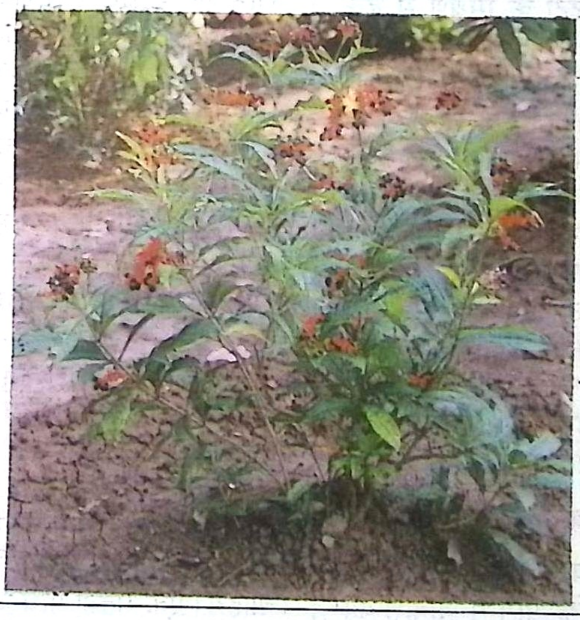

सर्पगंधा की फलती-फूलती फसल

भारतीय उप-महाद्वीप में सर्पगंधा के पौधे प्राकृतिक रूप से हिमालय की तलहटी से लेकर बंगाल व आसाम-मेघालय की सीमा, पूर्वी व पश्चिमी घाट, छोटा नागपुर (बिहार), तमिलनाडु की अन्नामलाई पर्वत श्रृंखला, केरल के दक्षिणी-पश्चिम भाग से लेकर मध्यप्रदेश के बस्तर जिले के वन क्षेत्र में वर्ष 1970 तक समुचित मात्रा में पाए जाते रहे हैं। देश एवं विदेशों में इसकी मांग बढ़ने से व जंगलों के अनियंत्रित दोहन के फलस्वरूप, सर्पगंधा के पौधों की तादात अब प्राकृतिक स्थानों (जंगलों) में बहुत कम हो गई है। इसकी व्यापक मांग को देखते हुए देश के कई केन्द्रों पर यह प्रयास किये गये कि इसकी विधिवत खेती की जावे। इसकी विधिवत खेती करने सम्बन्धी प्रयास काफी सफल हुए हैं तथा वर्तमान में अनेकों क्षेत्रों में इसकी सफलता पूर्वक खेती की जा रही है।

सर्पगंधा की खेती के लिए उपयुक्त जलवायु एवं भूमि

सर्पगंधा को 18 माह की अवधि में तैयार होने वाली एक सिंचित फसल के रूप में लगाया जा सकता है। बलुई दुमट से लेकर मालवा एवं निमाड़ में पायी जाने वाली मध्यम काली-कपासीय भूमि, जिसमें जीवांश की प्रचुर मात्रा हो एवं जिसकी जल निकास क्षमता उत्तम हो, सर्पगंधा की काश्त के लिये उपयुक्त पाई गई है। यदि मिट्टी का पी.एच. मान 6 से 8.5 हो तो सर्पगंधा की खेती से अच्छी उपज प्राप्त की जा सकती है। जिन क्षेत्रों में पाला पड़ने की संभावना कम हो, वे इसके लिए ज्यादा उपयुक्त होते हैं।

बिजाई हेतु बीज की मात्रा व पौधशाला में पौध तैयार करना

सामान्य तौर पर सर्पगंधा के बीज का अंकुरण विभिन्न अवधि में मात्र 10 से 50 प्रतिशत तक ही होता है। एक वर्ष से अधिक समय तक संग्रहित किये गये बीजों का अंकुरण प्राय: नहीं हो पाता है। अत: यह आवश्यक है कि सितम्बर से दिसम्बर माह में फसल से निकाले गये बीजों का अगली फसल प्राप्त करने के लिये उपयोग किया जाए। **सर्पगंधा की आर.एस.-1 प्रजाति** के बीजों से 50 से 60 प्रतिशत तक अंकुरण होना पाया गया है एवं 18 माह की अवधि में इसकी जड़ों में कुल प्रमुख तत्व का प्रतिशत भी अधिक (1.4%) पाया गया है। एक एकड़ भूमि में सर्पगंधा की फसल लगाने के लिये $2\frac{1}{2}$ से 3 कि. ग्रा. बीज की

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आवश्यकता रहती है। बीज 24 घंटे पानी में रखने के पश्चात् करीब एक घंटे के समय के लिये साफ स्थान पर फैलाकर, थिरम (2-3 ग्राम प्रति किलो बीज की दर से) से उपचारित करते हैं। एक एकड़ भूमि में फसल लगाने के लिये अर्ध-छांव वाले स्थान पर करीब 200 वर्ग मीटर में क्यारियां बनाई जाती हैं। प्रत्येक क्यारी करीब 1.5 मीटर चौड़ी व सुविधानुसार लम्बी रखते हुए 15 से 20 से.मी. ऊंची बनाई जाती है जिसमें एक तिहाई हिस्सा पकी हुई गोबर की खाद या कम्पोस्ट व दो-तिहाई मिट्टी का होता है। मिट्टी में बी.एच.सी. 10 प्रतिशत 8 कि. ग्रा. प्रति एकड़ के मान से मिला देना चाहिये। क्यारियाँ अप्रैल माह में बनाकर उनमें एक सिंचाई कर देते हैं जिससे खरपतवार का पहले से ही अंकुरण हो जाता है। खरपतवार निकालकर क्यारियों को समतल किया जाता है व उपचारित बीज अप्रैल के अंत से लेकर मई के प्रथम सप्ताह में 8-10 से.मी. दूर कतारों में नजदीक-नजदीक, 1-2 से.मी. गहरा बोया जाता है। कतारों को छने हुए गोबर की खाद व मिट्टी के मिश्रण से ढक दिया जाता है। इस अवस्था में प्रतिदिन सिंचाई की आवश्यकता होती है। करीब 15 से 20 दिन में अंकुरण शुरू होकर 30-35 दिन में पूर्ण हो जाता है। जुलाई के प्रथम सप्ताह तक 4-6 पत्तियों वाली पौध प्रत्यारोपण हेतु तैयार हो जाती है। क्यारियों को एक किनारे से तोड़ते हुए जड़ सहित पौध निकालकर जड़ की ओर से तगारियों में रखते हैं जिसमें बेविस्टीन का 0.1 प्रतिशत घोल रहता है। इस तरह करीब 1/2 घंटे बेविस्टीन से उपचारित की गई पौध को ही प्रमुख खेत में प्रत्यारोपित किया जाता है। क्यारियों में करीब 10 से 15 प्रतिशत पौधे बचा लिए जाते हैं जिन्हें करीब 10-12 दिन के पश्चात् जहां पौध नहीं जमी हो, वहां गेप-फिलिंग के बतौर लगा दिया जाता है।

प्रमुख खेत की तैयारी, खाद, उर्वरक एवं पौध प्रत्यारोपण

सर्पगंधा की फसल में चूंकि व्यवसायिक भाग जड़ का ही होता है, अत: यह आवश्यक है कि भूमि में जीवांश की प्रचुर मात्रा हो। पिछली रबी मौसम में यदि हरी खाद का उपयोग किया गया हो तो गोबर की पकी हुई खाद या कम्पोस्ट की मात्रा कम लगेगी अन्यथा एक एकड़ भूमि के लिये 8-10 टन पकी हुई गोबर की खाद या कम्पोस्ट, अंतिम बखरनी के पूर्व खेत में डालना चाहिये। सर्पगंधा की फसल हेतु देश के विभिन्न हिस्सों में वहां की भूमि एवं जलवायु के मान से उर्वरक की विभिन्न मात्रा अनुशंसित की गई है। वैसे सर्पगंधा की समुचित फसल प्राप्त करने के लिये नत्रजन 30 कि.ग्रा. व स्फुर 60 कि.ग्रा. प्रति हेक्टर के मान से भूमि में दिया जाना चाहिये। कतार से कतार की दूरी 45 से.मी. रखते हुए दुफन से नत्रजन का 1/3 भाग व स्फुर की पूरी मात्रा 7 से 10 से.मी. गहरी ओरनी चाहिये। जुलाई के प्रथम सप्ताह में जब 100 से 120 मि.मी. वर्षा हो चुके उस समय 45 से.मी. दूर कतारों में पौध से पौध 30 से.मी. की दूरी रखते हुए, बेविस्टीन से उपचारित पौध का जड़ सहित प्रत्यारोपण कर दिया जाना चाहिये। प्रत्यारोपण करने के पश्चात् यदि बारिश नहीं आवे तो सिंचाई करना आवश्यक होता है। नत्रजन के 2/3 बचे हुए भाग का आधा भाग पौध प्रत्यारोपण के 50 दिन बाद व अंतिम भाग अगली वर्षा ऋतु में टाप ड्रेसिंग के रूप में देना चाहिये। इस समय खेत में नमी होना आवश्यक है, अन्यथा सिंचाई की जानी चाहिए।

सर्पगंधा की फसल से अधिक लाभ लेने हेतु अन्तरवर्तीय फसलें

सर्पगंधा चूंकि 18 माह की सिंचिंत फसल है व प्रारम्भ में सर्पगंधा के पौधे तेजी से नहीं बढ़ते, अत: खेत से ज्यादा लाभ लेने के उद्देश्य से सर्पगंधा की फसल के साथ विभिन्न अन्तरवर्तीय फसलों के परीक्षण किये गये हैं। परिणामस्वरूप यह पाया गया है कि मध्यप्रदेश के मालवा व निमाड़ क्षेत्र में सर्पगंधा की कतारों के बीच खरीफ मौसम में कम फैलने वाली सोयाबीन फसल की एक लाईन व रबी मौसम में लहसुन की तीन लाईन अन्तरवर्तीय फसल के रूप में लगाने से अधिक आमदनी प्राप्त होती है।

सर्पगंधा की निंदाई, गुड़ाई एवं सिंचाइ

सर्पगंधा की फसल हेतु प्रथम वर्ष में करीब तीन निंदाई गुड़ाई व अगले वर्ष एक से दो निंदाई-गुड़ाई की आवश्यकता होती है। अठ्ठारह माह की अवधि में मध्यम काली-कपासिया भूमि में 15-16 सिंचाईयों की आवश्यकता देखी गई है। इस तरह गर्मी के मौसम में 20 दिन के अंतराल से व सर्दी के मौसम में 30 दिन के अंतराल से सिंचाई करनी चाहिये। एक मर्तबा पौध जम जाने के पश्चात् सिंचाई थोड़ा रूक कर ही करनी चाहिये जिससे जड़ों की बाढ़ अच्छी हो। छोटी व कम उम्र की पौध में निकलने वाले पुष्प कुंज को प्रारम्भिक अवस्था में ही नाखुन का जोर लगाते हुए निकाल देना चाहिये। इससे पौधे व जड़ की बढ़वार अधिक होती है।

पौध संरक्षण

सामान्य तौर पर सर्पगंधा की फसल में कीड़ों या रोग का प्रकोप नहीं देखा गया है। कनेर की इल्ली यदि दिखे तो एलड्रिन 20 ई.सी. 0.03% घोल या अन्य स्पर्शी कीटनाशक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

का उपयोग करना चाहिये। सर्पगंधा की पत्तियों पर फफूंद की सफेद परत दिखाई देने पर केरेथान 35 ई.सी. के 0.05% घोल का उपयोग करना चाहिये। डाइबेक रोग दिखाई देने पर डाइथेन झेड-78 का 0.3% घोल 10-12 दिन के अंतराल से 2-3 मर्तबा छिड़कना चाहिये।

अगली फसल हेतु बीज एकत्रित करना

अगस्त-सितम्बर माह से नवम्बर-दिसम्बर माह में सर्पगंधा के पौधों पर लगने वाले गहरे कत्थाई-काले फल एकत्रित कर प्लास्टिक की बाल्टी में थोड़ा पानी डालकर कुछ समय (15-20 घंटे) के लिये रखने के बाद फलों को मसल कर बीज निकालकर अच्छी तरह से धोकर 2-3 दिन तक सुखा देने चाहियें। बीज जब अच्छी तरह से सूख जावें तो उन्हें नमी रहित स्थान पर भण्डारित करके अगली फसल हेतु उपयोग में लाया जा सकता है। सर्पगंधा के 100 बीजों का भार लगभग 3.5 से 4 ग्राम तक होता है।

एक एकड़ फसल से 12 से 16 किलो ग्रा. तक बीज प्राप्त किया जा सकता है जिसका वर्तमान बाजार भाव यदि 300 रुपये प्रति कि.ग्रा. मानें तो एक एकड़ की फसल से करीब 4,000 रुपये से 5,000 रुपये तक का बीज प्राप्त हो जाता है।

सर्पगंधा की जड़ों की खुदाई

सर्पगंधा के पौधे में प्रारम्भ में एक ही जड़ बनती है परन्तु बाद में 2-3 शाखाएं और विकसित हो जाती हैं। ऐसा पाया गया है कि 18 माह की अवधि पूर्ण होते समय ठंड का मौसम (जनवरी) आ जाता है, जिस समय पौधे से प्रचुर मात्रा में (करीब 1.4 प्रतिशत) अलकोलाइड प्राप्त किया जा सकता है। अत: इस अवधि पर 8-10 दिन पूर्व सिंचाई करके, पौधे के जमीन की सतह के ऊपरी भाग को काटकर, सब-साइलर का उपयोग व खुदाई करके करीब 45 सें.मी. गहराई से जड़ें निकाल ली जाती हैं। तदुपरान्त जड़ों को हल्के हाथ से मिट्टी रहित कर बहते पानी में धोकर छाँवदार साफ स्थान पर सुखाने के लिये फैला दिया जाता है। जड़ों की बाहरी छाल में कुल अल्कोलाइड का 80 प्रतिशत हिस्सा रहता है। अत: यह सावधानी रखी जानी चाहिये कि जड़ों की छाल, जड़ों को साफ करते समय जड़ों से अलग न होने पाए। एक एकड़ भूमि में करीब 8 से 9 क्विंटल सूखी जड़ें प्राप्त हो जाती हैं जिनका वर्तमान भाव लगभग 50 रुपये प्रति किलो है। इस प्रकार एक एकड़ की फसल में इस पौधे से लगभग चालीस हजार रुपये की कुल आमदनी हो जाती है। बीज व जड़ के विक्रय से एक एकड़ भूमि में सर्पगंधा की काश्त करके कृषक बन्धु (यदि फसल थोड़ी कम भी प्राप्त हो तो) 25,000 से 30,000 रुपये तक की शुद्ध आय 18 माह की अवधि में प्राप्त कर सकते हैं।

सर्पगंधा की खेती हेतु बीज प्राप्त करने के स्रोत

सर्पगंधा के बीज अनेकों स्थानों/संस्थाओं से प्राप्त किए जा सकते हैं। इस संदर्भ में एक प्रमुख संस्था जहां से इसकी खेती हेतु प्रमाणिक बीज मिल सकते हैं, निम्नानुसार है—**औषधीय एवं सुगंधित पौध विकास परियोजना, ज.ने.कृ.वि.वि., कृषि महाविद्यालय, इन्दौर-452001.**

सर्पगंधा के प्रमुख खरीददार

सर्पगंधा की जड़ों की बिक्री में कोई परेशानी नहीं है तथा इनके लिए पर्याप्त बाजार उपलब्ध है। इसके प्रमुख खरीददारों की जानकारी हेतु सेडमैप द्वारा प्रकाशित पुस्तक "लघु विपणन निर्देशिका" का अवलोकन किया जा सकता है।

जड़ी-बूटियों के उन्नत किस्म के प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता

श्रीमाल एग्रो प्रॉडक्ट्स

संपर्क सूत्र
श्री एम.के. श्रीमाल

285, साकेत नगर, इन्दौर (म.प्र.) फोन (0731) 562455, 270450, 565467.
फैक्स : (0731) 565183 मोबाइल : 98270-33305.

सफेद मूसली, पामारोजा, अश्वगंधा, सनाय, कलिहारी एवं शतावरी के उत्पादक तथा इनके प्लांटिंग मेटेरियल/बीजों के प्रदायकर्ता

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

27. हड़जोड़ (Cissus Quadrangularis)

हडजोड़ जिसे संस्कृत में अस्थिश्रृंखला कहा जाता है, एक लता रूपी पौधा है जोकि समस्त भारत के ऊष्ण प्रदेशों में पाया जाता है। प्राय: इसे घरों एवं बगीचों में शोभा हेतु लगाया जाता है। परन्तु शायद ही कुछ लोग जानते हों कि बाग-बगीचों तथा घरों की शोभा बढ़ाने वाला यह पौधा कितने अधिक औषधीय गुणों से भरपूर है।

पेड़ पर चढ़ी हुई हड़जोड़ की लताऐं

हड़जोड़ एक लम्बी लता होती है जिसकी बेल (कान्ड) चिकना एवं हरे रंग का मांसल एवं चर्तुकोणीय होता है। वर्षा ऋत्तु के अंत में इसमें पुष्प लगते हैं जो कि हरे - सफेद रंग के होते हैं। इसका पुष्पवादक दण्ड छोटा होता है जिस पर छत्रकवत् पुष्प स्थित होते हैं। इसके फल गोल तथा बड़ी मटर के बराबर, मांसल और लाल रंग के होते हैं। इसके बीज बाहरी रूप से गाढ़े भूरे रंग के होते हैं। हड़जोड़ में कैल्शियम आक्जलेट, केरोटीन तथा विटामिन सी (Ascorbic acid) पाया जाता है।

हड़जोड़ के औषधीय उपयोग

औषधीय उपयोग में मुख्यतया हड़जोड़ की बेल (ताजे कान्ड) एवं पत्ते उपयोग में लाए जाते हैं। इससे बनाया जाने वाला "अस्थि संहार तेल" एक महत्वपूर्ण योग है। हड्डी टूट जाने पर इसके काण्ड एवं पत्तों का लेप बनाकर लगाया जाता है जोकि हड्डियों को जोड़ने में अत्यधिक प्रभावी पाया गया है। इसके सिद्धतेल की मालिश भी हड्डियों को जोड़ने हेतु प्रयुक्त की जाती है। इसके साथ-साथ यह कफवात शामक, पितवर्धक, कृमियों का नाश करने वाला, रक्तशोधक एवं रक्तस्तम्भक तथा अर्शनाशक भी है। नकसीर तथा कानों से पीक आने पर इसका स्वरस देने से लाभ होता है।

इस प्रकार औषधीय उपयोगों की दृष्टि से हडजोड़ एक अत्यधिक उपयोगी लता (पौधा) है जिसकी विधिवत खेती करना भी काफी आसान है। इसकी खेती करने के लिए हडजोड़ के पुराने कांड में से कलम काट करके नए स्थान पर रोपित की जा सकती है - विशेष रूप से किन्हीं ऐसे बड़े पौधों के पास जिन पर इसकी लताऐं चढ़ सकें। यह पौधा घर के बगीचे में भी लगाया जा सकता है तथा खेतों की मुडेरों पर भी।

हडजोड़ के प्रमुख क्रेता हैं -

- **इंडियन हर्बस रिसर्च एंड सप्लाई कम्पनी प्रा.लि. पोस्ट** बाक्स क्र. 5, शारदा नगर, सहारनपुर (उ.प्र.)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

28. गुड़मार

गुड़मार, जिसका अंग्रेजी नाम पेरीप्लोका आफवुडस तथा वैज्ञानिक नाम जायमनेमा सिलवेस्टर (Gymnema Sylvestre) है, भारत के विभिन्न भागों में जंगलों में प्राकृतिक रूप से पाई जाने वाली एक काष्ठयुक्त रोयेंदार लता है। इस पर पीले भड़कीले गुच्छी नुमा फूल लगते हैं तथा 5 से 7 से.मी. लम्बी फलियां लगती हैं।

मध्यप्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों जैसे भोपाल, जबलपुर, मण्डला, बालाघाट, होशंगाबाद, सरगुजा, बिलासपुर, रायपुर, खण्डवा आदि में यह लता प्राकृतिक रूप से पायी जाती है। मध्यप्रदेश के साथ-साथ यह भारत के विभिन्न भागों जैसे पश्चिमी घाट, कोंकण, तमिलनाड, बिहार आदि में भी पाई जाती है।

इस पौधे की प्रमुख विशेषता यह है कि इसके पत्तों को चबाने से मुंह का स्वाद कुछ समय के लिये समाप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ इसे मुंह में रखकर एक मिनट तक चबाकर थूक दिया जाए तथा उसके उपरान्त यदि शक्कर अथवा कोई मीठी वस्तु खाई जाए तो ऐसे लगेगा मानों हम मिट्टी खा रहे हों। क्योंकि इससे शक्कर/गुड़ का स्वाद समाप्त हो जाता

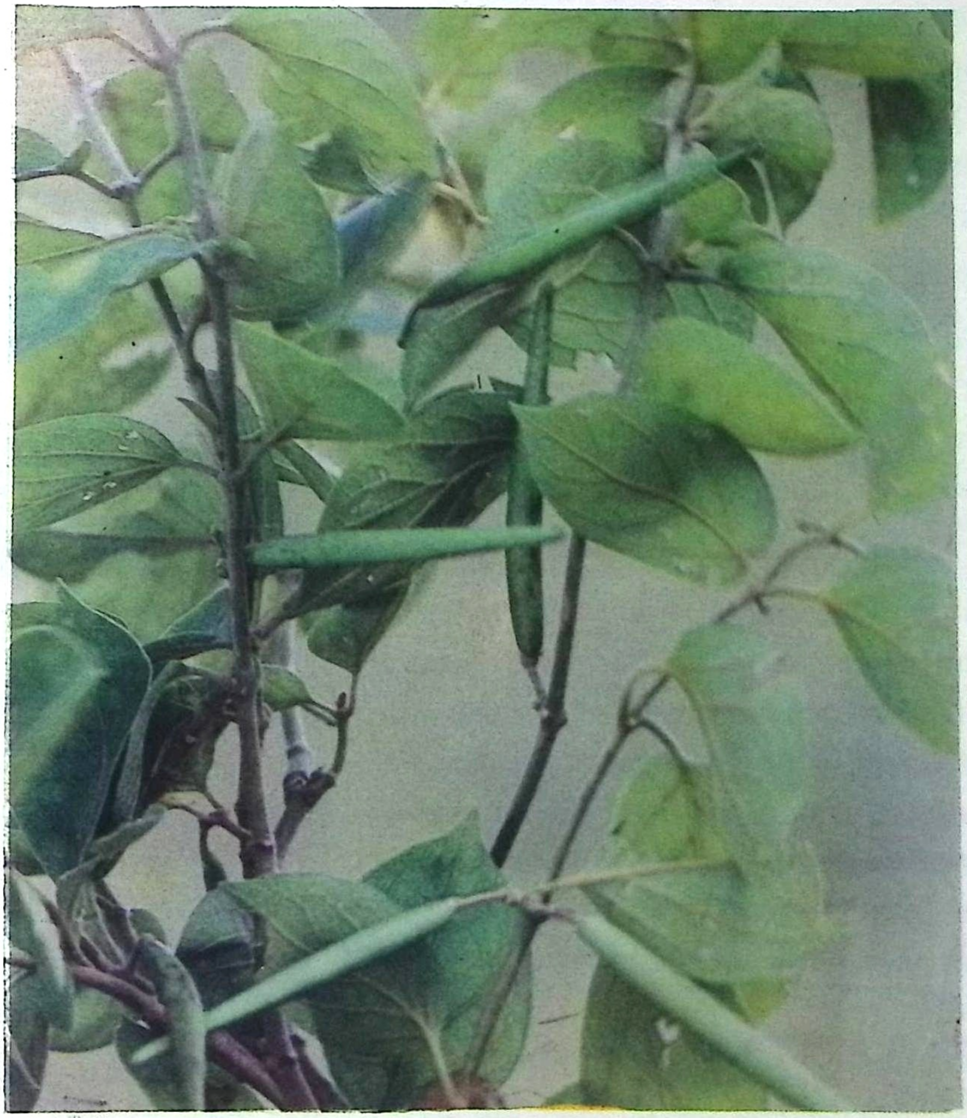

गुड़मार की बेल, पत्ते तथा फलियां

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है अतः संभवतया इसी वजह से इसका नाम गुड़मार रखा गया है। इसके पत्ते चबाने से लगभग 3 घंटे से लेकर 10 घंटे तक जुबान स्वादहीन हो जाती है।

आयुर्वेदिक पद्धति में इसके मधुमेह विरोधी गुणों (antidiabetic properties) के कारण इसकी अत्याधिक महत्ता है। इसमें उपस्थित शर्करा विरोधी गुणों-जिमनेमिक एसिड, "ए", "बी" तथा "सी" के कारण इसका निर्यात के क्षेत्र में अत्यधिक महत्व बढ़ गया है। इसमें शरीर के वजन को नियंत्रित करने संबंधी गुण भी पाए गए हैं। इस प्रकार निर्यात के क्षेत्र में इसकी मांग निरन्तर बढ़ती जा रही है। विशेष रूप से जापान में इसकी काफी मांग है तथा वहां पर इससे "बॉडीज़ स्लेटो टी", "जिमनेमा डाइट" तथा "शुगर ऑफ" आदि जैसे उत्पाद बनाए जा रहे हैं।

दिसम्बर-जनवरी माह में इस पौधे के पत्तों को चुन कर एकत्रित किया जाता है। तदुपरान्त इन पत्तों को छाया में चादर बिछाकर सुखाया जाता है। ग्रीष्म ऋतु में इसकी जड़ें भी उखाड़ ली जाती हैं जिन्हें अच्छी तरह धोकर धूप में सुखा लिया जाता है।

औषधि के रूप में गुड़मार के पत्तों तथा जड़ों का उपयोग किया जाता है। मुख्यतया इसके पत्तों का उपयोग लीवर टॉनिक के रूप में, मधुमेह रोग के उपचार में, उदर रोगों तथा उदर शूल में, अतिसार तथा पेचिश आदि के उपचार हेतु किया जाता है। इसकी जड़ों का उपयोग खांसी, हृदय रोग, पुराने ज्वर एवं वात रोग में तथा सफेद दाग के उपचार हेतु भी किया जाता है।

गुड़मार की औषधीय उद्योग में अत्यधिक मांग है। वर्तमान में इसके पत्तों की कीमत 12-15 रु. प्रति कि.ग्रा. है।

यद्यपि प्राकृतिक रूप से भी गुड़मार की काफी अधिक उपलब्धता है परन्तु इसके लगातार बढ़ते जा रहे बाजार को देखते हुए इसकी विधिवत खेती की व्यापक संभावनाऐं हैं। इसका प्रवर्धन बीजों द्वारा भी किया जा सकता है तथा कलमों के द्वारा भी। बीजों द्वारा प्रवर्धन करने की दशा में सर्वप्रथम पौली बॉक्स में गुड़मार के पौधों की नर्सरी विकसित की जाना उचित होगा तथा तदुपरान्त फरवरी-मार्च माह में इसे विधिवत खेत में ट्रांसप्लांट कर देना चाहिए। शीघ्र ही (बरसात में) यह लता खूब फलने-फूलने लगती है तथा इसी दौरान इसमें फूल तथा फलियाँ आती हैं। पौधे खेत में ट्रांसप्लांट करने से पूर्व यह सुनिश्चित किया जाना आवश्यक है कि लताओं को बढ़ने के लिए सहारा उपलब्ध हो। अतः या तो इसकी बिजाई पोपुलर, यूकेलिप्टस, संतरा, नींबू, आंवला आदि जैसे पौधों के साथ करनी चाहिए अथवा इसकी बेलों को चढ़ने के लिए अलग से व्यवस्था की जानी चाहिए। बीजों से प्रवर्धन करने के अतिरिक्त गुड़मार की कलमें भी लगाई जा सकती हैं जिन्हें लगाने के लिए फरवरी मार्च तथा सितम्बर-अक्टूबर का समय काफी उपयुक्त होता है।

उपरोक्तानुसार औषधीय कार्यों हेतु गुड़मार की उपयोगिता को देखते हुए इसकी विधिवत खेती करने की दिशा में प्रयास किये जाने चाहिएं। इस प्रकार इसकी खेती न केवल व्यवसायिक रूप से काफी लाभकारी हो सकती है बल्कि इससे औषधीय निर्माण हेतु लगातार तथा उपयुक्त गुणवत्ता का कच्चा माल भी निरन्तर प्राप्त होता रहेगा।

गुड़मार के प्रमुख खरीददार

भारत में गुड़मार की पत्तियों के प्रमुख खरीददार हैं - **मे. पी.एस.एस. एक्सपोर्ट्स,** 52, पी.एस.एस नादर स्ट्रीट, टूटीकोरण - 628001 (तमिलनाडु)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

29. चिरोटा अथवा चरोटा

चिरोटा का पौधा तथा फलियाँ

चरोटा अथवा पुवाड़ सम्पूर्ण भारतवर्ष में पाई जाने वाली संभवतया सर्वाधिक सामान्य वार्षिक खरपतवार है। यह किसी भी खाली स्थान पर, सड़कों/बगीचों तथा मैदानों के किनारे, वीरान जगहों पर तथा जंगलों आदि में अपने आप उग जाती है तथा अधिकांशत: किसान इससे परेशान रहते हैं। परन्तु यदि इसका सही रूप से कलेक्शन किया जाए तो यह व्यावसायिक रूप से काफी लाभकारी हो सकती है। पर्यावरण विदों का मानना है कि इस घास में प्राथेनियम अथवा कांग्रेस घास की वृद्धि को रोकने की क्षमता विद्यमान है। एक लेगुमिनियस पौधा होने के कारण यह भूमि को नाइट्रोजन भी प्रदान करता है। ऐसे क्षेत्र जो पूर्णतया बंजर पड़े हुए हैं वहाँ यदि इसकी प्लाटिंग की जाए तो यह प्रत्येक दृष्टि से लाभप्रद हो सकता है।

अंग्रेजी में ड्रमस्टिक (वैसे सुरजने की फली को भी ड्रमस्टिक कहा जाता है) अथवा इंडियन लैबरनम तथा हिन्दी में पुवाड़, चाकुंडा, चकौड़ा अथवा चरोटा के नाम से जाना जाने वाला चरोटा **सीजल-पीनेसी** कुल का पौधा है जिसका वैज्ञानिक नाम केशिया टोरा (Cassia Tora) है। लगभग एक-डेढ़ फीट से 3 फीट तक बढ़ने वाला यह पौधा एक वार्षिक खरपतवार है जो बरसात के समय उगता है। अगस्त-सितम्बर के महीने में इसमें पीले रंग के फूल आते हैं जिनके साथ ही इसमें फलियाँ आने लगती हैं तथा फरवरी माह तक यह पौधा लगभग सूख सा जाता है। इसी दौरन इसकी पकी हुई फलियाँ एकत्रित कर ली जाती हैं जिन्हें पूर्णतया सुखा कर डंडे से झाड़ कर उनमें से चिरोटा के बीज अलग कर लिए जाते हैं। व्यावसायिक क्षेत्र में तथा औषधीय उपयोग हेतु यद्यपि मुख्य रूप से इसके बीजों का उपयोग किया जाता है परन्तु इसके पत्तों तथा जड़ों का उपयोग भी औषधीय उपयोग हेतु किया जा सकता है।

चिरौटा के बीजों का उपयोग मुख्यतया चर्म रोग, मंदाग्नि.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वीरानी क्षेत्रों में अपने आप उग रहे चिरोटा के पौधे

चिरोटा के बीजों/पत्तों के प्रयोग की विधि

- इसके पत्तों का काढ़ा कब्ज दूर करने हेतु प्रयुक्त किया जा सकता हैं।
- इसकी जड़ों का पेस्ट रिंगवार्म के उपचार हेतु उपयोगी होता हैं।
- इसके बीजों को नींबू रस अथवा चूने के पानी में लगभग 2 सप्ताह तक भिगोकर रखने के उपरान्त उनका पेस्ट बनाकर उसे दाद, खाज, खुजली अथवा अन्य चर्म रोगों पर लगाने से इन रोगों से राहत मिलती है।

मध्यप्रदेश में चिरौटा बीज एक प्रमुख लघु वनोपज के रूप में आदिवासियों द्वारा एकत्रित किया जाता है। अनेकों औषधियों तथा अन्य औद्योगिक उपयोगों हेतु प्रयुक्त किए जाने के कारण इसका बाजार काफी व्यापक है तथा इसकी बिक्री के लिए मार्केट की कोई समस्या नहीं है। जंगलों तथा वीरान क्षेत्रों से एकत्रित करने के साथ-साथ यदि अनुपजाऊ, सूखाग्रस्त तथा बंजर क्षेत्रों में इसकी खेती को प्रोत्साहन दिया जाए तो यह व्यावसायिक रूप से भी काफी लाभकारी हो सकती है।

कुष्ठ रोग, उदरशूल, रक्तस्त्राव, दाद, खाज, खुजली आदि के उपचार हेतु किया जाता है। इसके पत्ते तथा बीज टॉनिक के रूप में प्रयुक्त होते हैं तथा इनसे हृदय रोग तथा नेत्र रोग की औषधियाँ बनाई जाती हैं। ये खांसी के सिरप बनाने में भी प्रयुक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त इनका उपयोग पशु आहार बनाने में, नील उद्योग में, डाई निर्माण में तथा ग्वार गम के निर्माण हेतु भी किया जाता है। इसमें उपस्थित विभिन्न तत्वों/अम्लों का उपयोग साबुन निर्माण तथा सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री के निर्माण हेतु किया जाता है। इसके बीजों का वर्तमान बाजार मूल्य लगभग 1.50 से 2.50 रु. प्रति किं.ग्रा. तक है।

विभिन्न भाषाओं में चिरोटा के नाम

- Botanical : Cassia Tora
- English : Foetid Cassia
- Bengali : Panevar
- Gujrati : Kovariya
- Konkan : Daddupan
- Malayalam : Takara
- Marathi : Takia
- Punjabi : Elma
- Tamil : Tagarai
- Sanskrit : Dadamari

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

30. बहुउपयोगी तथा बहुमूल्य फसल

अरण्डी

भारत के विभिन्न प्रदेशों में मुख्यतया खरीफ ऋतु में उगाई जाने वाली अरण्डी जिसे अंग्रेजी में "केस्टर" कहते हैं तथा जिसका वैज्ञानिक नाम रिसिनस काम्युनिस (Ricinus Communis) है, एक प्रमुख तिलहनी फसल है जिसके बीजों से तैयार होने वाला तेल अनेक औद्योगिक एवं औषधीय उपयोगों हेतु प्रयुक्त किया जाता है।

अरण्डी के बीजों में 45 से 55 प्रतिशत तक तेल पाया जाता है जिसमें सर्वाधिक मात्रा में एक वसा अम्ल-रिसिनोलिक एसिड (Ricinolic Acid) पाया जाता है। अरण्डी के तेल में इस अम्ल की मात्रा 90 प्रतिशत से भी अधिक होती है जिसके कारण यह अनेक उपयोगों में काम में लाया जाता है तथा इसकी व्यापक बाजार मांग उपलब्ध है।

वैसे तो भारतवर्ष में अरण्डी मुख्यतया शुष्क, असिंचित तथा वीरानी क्षेत्रों में उगाई जाती है परन्तु सिचिंत तथा उपजाऊ क्षेत्रों के लिए भी यह काफी लाभकारी फसल है। वर्तमान में हमारे देश में इसकी खेती मुख्यतया गुजरात, राजस्थान, आंध्रप्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु तथा उड़ीसा राज्यों में हो रही है। मध्यप्रदेश, असम, बिहार तथा महाराष्ट्र में भी इसकी व्यवसायिक खेती प्रारंभ हो चुकी है तथा यह काफी सफल भी रही है। अरण्डी के उत्पादन में भारत का विश्व में अग्रणी स्थान है तथा विश्व के कुल उत्पादन का 68 प्रतिशत भारत में उत्पादित होता है। निर्यात की दृष्टि से विश्व भर में ब्राजील के बाद भारत का दूसरा स्थान है। भारत से इसका निर्यात निरंतर बढ़ता जा रहा है जिसका सहज अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि वर्ष 1981-82 में भारत से कुल 4423 टन (कुल मूल्य 3.41 करोड़ रुपए) अरण्डी तेल का निर्यात हुआ जो कि वर्ष 1996-97 में बढ़कर 216537 टन (मूल्य 550 करोड़ रुपये) हो गया। भारत तथा ब्राजील के अतिरिक्त अन्य प्रमुख देश जहां पर कुछ मात्रा में अरण्डी का उत्पादन होता है, वे हैं - ईथोपिया, थाईलैण्ड, फिलीपीन्स, पेरूग्वे, ईक्वाडोर, सूडान तथा पाकिस्तान। विश्व में अरण्डी की प्रति एकड़ सर्वाधिक उत्पादकता पेरूग्वे में पाई गई है जबकि दूसरा तथा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तीसरा स्थान क्रमशः भारत तथा ईथोपिया को प्राप्त है।

अरण्डी एक अत्यधिक कठोर (हार्डी) प्रवृत्ति का पौधा है जो कि लगभग सभी प्रकार की मृदाओं तथा जलवायु में उगाया जा सकता है। विशेष रूप से ज्यादा तापक्रम, कम आर्द्रता वाले क्षेत्र तथा ऐसे क्षेत्र जहां साफ मौसम तथा गर्मियां ज्यादा लंबी होती हों, इसके लिए ज्यादा उपयुक्त होते हैं जबकि ज्यादा आर्द्र तथा धुंध वाले क्षेत्र इसके लिए ज्यादा उपयुक्त नहीं है। इसकी खेती ऐसे क्षेत्रों में भी की जा सकती है जहां सिंचाई की व्यवस्था हो तथा ऐसे क्षेत्र भी जहां सिंचाई की कोई व्यवस्था न हो, यह सफलता-पूर्वक उगाई जा सकती है। अरण्डी के इन्हीं समस्त गुणों के कारण यह मध्य भारत के राज्यों- मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश, गुजरात, कर्नाटक, उत्तरप्रदेश के निचले क्षेत्रों, राजस्थान, पंजाब, हरियाणा आदि राज्यों के लिए अत्यधिक उपयोगी तथा आसान फसल है।

अरण्डी के प्रमुख उपयोग

अरण्डी एक बहुमूल्य पौधा है तथा इसके तेल से लेकर खली तक तथा पत्ती से लेकर डंठल तक सभी भाग उपयोगी होते हैं। अरण्डी का तेल रिसिनोलिक अम्ल (Ricinolic Acid) का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा सबसे बड़ा स्त्रोत है। इसके तेल में 90 प्रतिशत तक रिसिनोलिक अम्ल पाया जाता है। यह तेल कम तापमान पर तरल तथा उच्च तापमान पर लसीला (Viscous) रहता है। यह तेल उड़नशील न होने के कारण लुब्रीकेन्ट के रूप में प्रयुक्त किया जाता है तथा इससे उत्कृष्ट श्रेणी के लुब्रीकेन्ट बनाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे अनेक अन्य उत्पाद हैं जिनमें अरण्डी का तेल तथा इसके अन्य संजात (derivatives) प्रयोग में लाए जाते हैं। इनमें से कुछ प्रमुख उत्पाद निम्नानुसार हैं -

क. अरण्डी तेल के उपयोग

अरण्डी का तेल तथा इसके संजात मुख्यतया निम्नलिखित उत्पादों के निर्माण हेतु प्रयुक्त किए जाते हैं-

- इसकी Sulphonation से प्राप्त होने वाला "टर्की रेड ऑयल" रंगाई उद्योग में तथा डिटर्जेन्ट्स के निर्माण हेतु प्रयुक्त किया जाता है।
- इसके आक्सीकरण (Oxidation) से प्राप्त होने वाला "ब्राउन केस्टर ऑयल" प्लास्टिक्स तथा कृत्रिम चमड़े की कोटिंग वाले कपड़े के निर्माण हेतु प्रयुक्त किया जाता है।
- सुखाया हुआ अरण्डी का तेल (dehydrated castor oil), जो कि "ड्राईंग ऑयल" के नाम से भी जाना जाता है, का उपयोग पेंट, इनेमाल तथा वार्निश निर्माण हेतु किया जाता है। यह लिनोलियम, पेटेन्ट लेदर, प्रिंटिंग इंक तथा लिथोग्राफिक वार्निश के निर्माण हेतु भी प्रयुक्त किया जाता है।
- जमाए हुए अरण्डी के तेल (Hydrogener- ated Castor oil) तथा 12 - हाईड्रॉक्सी स्टीरियक एसिड का उपयोग ऑइन्टमेंट तथा पॉलिश निर्माण हेतु भी किया जाता है।
- अरण्डी के तेल का सर्वाधिक उपयोग साबुन निर्माण हेतु किया जाता है।
- अरण्डी के तेल का एक प्रमुख संजात (derivative) सीबेसिक एसिड (Sebacic acid) जो कि डायोक्टायल सीबाकेट के नाम से भी जाना जाता है, जैट एयर क्राफ्ट्स में लुब्रीकेंट के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। क्योंकि यह अत्यधिक कम तापक्रम (-65 डिग्री सेंटीग्रेड) तथा काफी अधिक तापक्रम (+400 डिग्री सेंटीग्रेड) पर लिसलिसापन (Viscosity) बनाए रखने की क्षमता रखता है।
- अरण्डी के तेल से निर्मित होने वाले हाई डाईन फैटी एसिड सर्फेस कोटिंग इंडस्ट्री में प्रयुक्त होते हैं।
- अरण्डी के तेल से निर्मित होने वाली एक विशिष्ट प्रकार की फोम (Urethane) को काफी पसंद किया जाता है क्योंकि यह पर्यावरण के संरक्षण के दृष्टिकोण से काफी उत्तम है तथा बायोडीग्रेडेबल है।
- अरण्डी के तेल से उत्पादित होने वाले अन्य संजात (derivatives) जैसे डिमर्स (Dimers), सर्फेस पेंट तथा एढेसिव के रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं।
- अरण्डी के तेल का उपयोग खुशबूदार तथा परिष्कृत "हेयर ऑयल" निर्माण हेतु भी किया जाता है। इसके साथ-साथ इसका उपयोग अनेक औषधियों के निर्माण हेतु भी किया जाता है।
- अरण्डी का तेल एक अत्यंत महत्वपूर्ण रेचक (Purgative) का कार्य भी करता है तथा पेट साफ करने के लिए इसका काफी उपयोग किया जाता है।
- पशु चिकित्सा में भी अरण्डी के तेल का काफी इस्तेमाल किया जाता है तथा यदि किसी पशु की आंख में कोई अन्य पदार्थ पड़ जाए तो अरण्डी के तेल की एक बूंद डाल देने पर वह पदार्थ स्वतः ही बाहर आ जाता है।

देशी बाजार के साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय बाजार में भी अरण्डी के तेल की अत्यधिक मांग है। अरण्डी के निर्यात में भारत का विश्व भर में दूसरा स्थान है (पहला स्थान ब्राजील का है)। वर्तमान में इसके प्रमुख आयातक देश हैं- संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान तथा यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देश। यूं तो सभी विकसित तथा विकासशील देश इसके तेल का उपयोग बहुतायत में करते हैं परन्तु जहां विकसित देश इसका 45 प्रतिशत उपयोग सर्फेस कोटिंग्स में, 19 प्रतिशत प्लास्टिक तथा प्लास्टिसाइजर्स में, 13 प्रतिशत लुब्रीकेन्ट्स में तथा 5 प्रतिशत हाईड्रोलिक फ्ल्यूड्स में प्रयुक्त करते हैं, वहीं विकासशील देश इसको 50 प्रतिशत पेंट्स के निर्माण में तथा 31 प्रतिशत साबुन उद्योग में प्रयुक्त करते हैं। वैसे यह एक ऐसा उत्पाद है जिसका व्यापक बाजार है तथा इसके

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विपणन में कोई परेशानी नहीं है।

ख. अरण्डी की खली के उपयोग

अरण्डी की खली एक उत्कृष्ट जैविक खाद का कार्य करती है। इसमें 6.4 प्रतिशत नाइट्रोजन, 2.6 प्रतिशत फास्फोरिक एसिड तथा एक प्रतिशत पोटाश की मात्रा होती है। इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि यह अपने पोषक तत्व धीरे-धीरे रिलीज़ करती है फलत: इससे भूमि में नाईट्रोजन धीरे-धीरे आती है। विशेषतया शुष्क प्रदेशों में (जहां सिंचाई की सुविधा उपलब्ध नहीं है) यह लंबे समय तक भूमि की नमी बनाए रखती है तथा कुछ हद तक सूखे से निपटने का कार्य करती है। किन्हीं स्थानों पर, विशेषतया गुजरात राज्य में इसका उपयोग धान की फ़सल के लिए तथा दीमक से सुरक्षा हेतु किया जाता है। इसकी खली में पाए जाने वाले घुलनशील ग्लोबुलिन में 18 प्रतिशत सोडियम ग्लूटेमिन पाया जाता है जोकि फसलों के लिए एक उत्तम भूखवर्धक "एपीटाइज़र" का कार्य करता है। अरण्डी से प्राप्त होने वाले प्रोटीन सिन्थेटिक तथा टैक्सटाइल फाइवर के अच्छे स्त्रोत हैं। अरण्डी की खली को "डीटॉक्सीकेट" करके इसे एक अच्छे चारे (फीड) के रूप में भी प्रयुक्त किया जा सकता है।

ख. अरण्डी के पत्तों का उपयोग

अरण्डी के सूखे हुए तथा गिरे हुए पुराने पत्ते रात भर भिगोकर रखकर तथा अन्य पशु आहारों के साथ मिलाकर पशुआहार के रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं। अरण्डी के नए तथा ताज़े पत्ते रेशम के कीड़ों को खिलाने तथा एरी सिल्क वर्म (Eri Silk Worms) पालने के काम भी आते हैं।

ग. अरण्डी के डंठल (तने) का उपयोग

अरण्डी के तने का उपयोग ईंधन तथा कागज की लुगदी बनाने हेतु किया जाता है।

घ. दूसरे पौधों के लिए छाया के रूप में अरण्डी के उपयोग

अरण्डी की खेती हल्दी आदि जैसे पौधों के लिए छाया करने के लिए (as a Shade Crop) भी की जाती है। इसके साथ-साथ गन्ने जैसी फसलों की तीव्र वेग से बहने वाली वायु से सुरक्षा के लिए इसके पौधे खेतों के किनारों पर लगाए जाते हैं तथा तम्बाकू की फसल पर आने वाले कीटों को पकड़ने आदि हेतु भी इसका उपयोग किया जाता है। तिल (Seasame) के बीजों के सुरक्षित संग्रहण के लिए भी अरण्डी के कुछ बीज मिलाए जाते हैं।

उपरोक्तानुसार देखा जा सकता है कि अरण्डी एक बहुमूल्य औषधीय पौधा है जिसका प्रत्येक भाग उपयोगी है। क्योंकि यह सूखे क्षेत्रों में भी उपजाया जा सकता है अत: इसकी खेती किसी भी क्षेत्र में की जाना लाभकारी हो सकती है।

अरण्डी की खेती की विधि

1. भूमि की आवश्यकता : अरण्डी प्राय: सभी प्रकार की मिट्टियों में (बहुत भारी मृदाओं तथा ऐसी मृदाओं जिनमें पानी काफी देर तक रुकता हो, को छोड़कर) उगाई जा सकती है। इस प्रकार अरण्डी की खेती में भूमि की प्रकार अथवा "सॉयल स्ट्रक्चर" का ज्यादा महत्व नहीं होता। परन्तु आर्थिक लाभजन्यता की दृष्टि से ऐसी मृदायें ज्यादा उपयुक्त हैं जो मध्यम श्रेणी की हों तथा जिनका उपजाऊपन भी मध्यम श्रेणी का हो। यहां यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि यदि भूमि ज्यादा उपजाऊ होगी तो घास पात ज्यादा उगेंगे, पौधों की बढ़ोतरी में ज्यादा समय लगेगा तथा फूल आने की अवधि बढ़ेगी जिससे अंतत: बीजों के उत्पादन पर उल्टा प्रभाव पड़ेगा। यही प्रमुख वजह है कि अरण्डी की खेती ऐसे क्षेत्रों में की जाना ज्यादा पसंद की जाती है जो कम उपजाऊ हो, तथा जहां कोई दूसरी फसल ली जाना संभव न हो। वैसे भूमि के उपजाऊपन तथा सिंचाई की व्यवस्था का फसल पर काफी अनुकूल प्रभाव पड़ता है। वैसे तो विभिन्न प्रदेशों में अरण्डी सुविधानुसार रेतीली दोमट तथा भारी दोमट मिट्टियों में उगाई जाती है परन्तु प्राय: 5 से 6.5 तक का पी.एच.मान (थोड़ी अम्लीयता) इसकी सही बढ़त के लिए उपयुक्त होता है। वैसे यह 8 पी.एच. तक की क्षारीयता भी सहन कर लेती है। लवणीयता के प्रति अरण्डी काफी "सैंसेटिव" होती है।

अरण्डी एक गहरी जड़ों वाला पौधा है तथा इसकी जड़ें 2 से 3 मीटर तक जमीन में गहरी जाती हैं। प्राय: अरण्डी की एक ही केन्द्रीय जड़ (सेन्ट्रल टेप रूट) रहती है तथा छोटी जड़ें नहीं होतीं। इस कारण से यह मिट्टी को बांधने की क्षमता नहीं रखती तथा जिन भूमियों में इसे लगाया जाता है उनकी गहरी जुताई की जाना अत्यावश्यक हो जाता है जिससे पौधा मिट्टी में ठीक से स्थापित हो सके। यही वजह है कि भूरक्षण की स्थिति में, हल्की मिट्टियों में तथा तेज आंधी वाली बारिश में इस फसल को नुकसान पहुंचता है।

अरण्डी की खेती की समयावधि

अरण्डी एक बहुवर्षीय फसल के रूप में भी उगाई जा सकती है तथा कम अवधि वाली फसल के रूप में भी। यदि इसके पौधों की सही देखभाल होती रहे तो यह 8-10 वर्ष तक भी अच्छी फसल दे सकती है जबकि हाल ही में ऐसी वेरायटियां भी सफल हो रही हैं जो 4 अथवा 5 माह की फसल के रूप में भी अच्छा आर्थिक लाभ दे रही हैं।

अरण्डी के साथ ली जा सकने वाली अंतर्वतीय फसलें

ऐसे क्षेत्र जहां अरण्डी एक मुख्य फसल के रूप में ली जाती है

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वहां कतार से कतार की दूरी 5 फीट तक रखी जा सकती है तथा बीच में अन्य अंतर्वतीय फसलें ली जा सकती है। यह पाया गया है कि ऐसा करने पर भी अरण्डी के उत्पादन में कोई कमी नहीं आती। कतार से कतार की इन पांच-पांच फीट की दूरियों में कई कम अवधि की अंर्तवर्तीय फसलें ली जा सकती हैं, जैसे मटर, चना, ग्वार, बाजरा, तिल आदि।

अरण्डी की उन्नत किस्में

अरण्डी की अनेक किस्में आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक, उत्तरप्रदेश तथा राजस्थान के कृषकों द्वारा बोई जाती हैं जिनमें प्रमुख हैं - अरुणा, भाग्या, सौभाग्या, आर.सी.-8, एस.एस.-2, टी.एम.वी.-5, टी-3, टी-4 आदि। सामान्य किस्मों के साथ-साथ अरण्डी की कई संकर (हाईब्रीड) प्रजातियां भी किसानों द्वारा उपयोग में लाई जाती हैं तथा ये अपेक्षाकृत ज्यादा लोकप्रिय हो रही हैं। अरण्डी की हाईब्रीड प्रजातियों में प्रमुख हैं- जी.ए.यू.सी.एच.-1, जी.सी.एच.-4, जी.सी.एच.-2, डी.सी.एस-9, एस.के.आई-73 (जी.सी.-2), डी.सी.एच-32, जी.सी.एच.-32, जी.सी.एच.-5, पी.सी.एस.-4, डी.सी.एच.-177, टी.एम.वी.सी.एच.-1, जे.ए.बी.-665, वेस्टर्न-6 आदि। इन समस्त प्रजातियों में से वेस्टर्न-6 प्रजाति एक ऐसी हाईब्रीड प्रजाति है जो अपेक्षाकृत ज्यादा लाभकारी सिद्ध हो रही है। इस प्रजाति की प्रमुख विशेषतायें निम्नानुसार हैं -

1. यह किस्म हाईब्रीड अरण्डी की अन्य किस्मों की अपेक्षा जल्दी पकने वाली जाति है।
2. इस किस्म में बीमारियों तथा कीटों (विशेष रूप से सुकारा (Wilt) से लड़ने की प्रतिकारक शक्ति अपेक्षाकृत ज्यादा है।
3. इस किस्म में लूम बड़ी तथा डिंडवे एक दूसरे के ज्यादा नजदीक लगे होने के कारण इसकी कटाई पर अपेक्षाकृत कम खर्च आता है।
4. इसमें आनुवांशिक शुद्धता ज्यादा होने के कारण यह अन्य प्रजातियों की अपेक्षा ज्यादा उत्पादन देती है।
5. बिना सिंचाई के भी इसकी फसल ली जा सकती है।

यद्यपि हाईब्रीड अरण्डी की अनेकों किस्में प्रचलन में हैं परतु उत्पादन की दृष्टि से 'वेस्टर्न-6' वेराइटी ज्यादा उपयुक्त है। जी.ए.यू.सी.-1 किस्म भी एक बौनी संकर किस्म है जो लगभग 135-150 दिनों में पकना प्रारंभ कर देती है। इसका दाना लाल भूरे रंग का होता है तथा सिंचित अवस्था में यह प्रति एकड़ 8 से 10 क्विटंल उपज प्रति एकड़ दे देती है। इसी प्रकार जी.सी.एच.-1 नामक संकर किस्म असिंचित अवस्था में 5 से 7, तथा सिंचित अवस्था में 12 से 16 क्विंटल उपज प्रति हैक्टेयर देने की क्षमता रखती है।

अरण्डी की बिजाई का उपयुक्त समय

जिन क्षेत्रों में अरण्डी वर्षाऋतु की फसल के रूप में लगानी हो, अर्थात जहां सिंचाई की सुविधा न हो वहां पर वर्षाऋतु प्रारंभ होते ही इसकी बिजाई कर दी जानी चाहिए। वैसे भारत के विभिन्न प्रदेशों में मानसून के आगमन के अनुसार इसकी बिजाई का उपयुक्त समय निर्धारित होगा जो कि जून के द्वितीय सप्ताह से लेकर जुलाई के अंत तक हो सकता है। वैसे कई प्रदेशों में इसकी बिजाई जुलाई में की जाना ज्यादा पसंद किया जाता है क्योंकि इससे फसल का 'रेड हेयरी केटरपिलर' से काफी बचाव हो जाता है।

अरण्डी की बिजाई करते समय बीज की गहराई का ध्यान रखा जाना भी आवश्यक होता है। हल्की मिट्टियों के संदर्भ में (जिनमें ऊपरी सतह पर अपर्याप्त नमी रहती है) 8 से 10 सेंटीमीटर गहरा बीज डालना उपयुक्त रहता है जबकि ऐसे क्षेत्रों में जहां पर्याप्त नमी हो, 6 से 8 सेंटीमीटर गहरा बीज डालना पर्याप्त रहता है। भारी मृदाओं में बीज की गहराई 5 से 6 सेंटीमीटर से ज्यादा नहीं होनी चाहिए। जिन क्षेत्रों में सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था हो उनमें बिजाई के समय के बारे में ज्यादा ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती।

पौधे से पौधे की दूरी तथा पौधों की संख्या प्रति एकड़

क्योंकि अरण्डी ज्यादा फैलने वाला पौधा हैं, अतः इसकी बिजाई करते समय पौधे से पौधा तथा कतार से कतार की दूरी का काफी महत्व होता है। यद्यपि इस दूरी का निर्धारण अनेक कारकों पर निर्भर करता है जैसे - लगाई जाने वाली वेरायटी, सिंचित अथवा असिंचित अवस्था, भूमि की उर्वरा शक्ति तथा मृदा का प्रकार, बीच में ली जाने वाली अंर्तवर्तीय फसलें आदि, परन्तु उत्कृष्ट श्रेणी की हाईब्रीड बेरायटियों में सिचिंत अवस्था में कतार से कतार की दूरी 5 फीट तथा पौधे से पौधे की दूरी 2 फीट रखी जाना उपयुक्त समझा जाता है। इसी प्रकार असिंचित अवस्थाओं में अरण्डी की खेती करने पर कतार से कतार के बीच की दूरी 5 फीट तथा पौधे से पौधे के बीच की दूरी एक फीट पर्याप्त होती है। इस प्रकार सिंचित अवस्था में 5X2 फीट तथा सिंचित अवस्थाओं में 5X1 फीट की दूरी से अरण्डी की बिजाई करना उपयुक्त रहता है। वैसे यदि 3X2 फीट की दूरी पर लगाया जाए तो औसतन एक एकड़ में बिजाई के लिए चार से पांच किलोग्राम तथा यदि 5X2 फीट की दूरी पर लगाया जाए तो औसतन 2 से 3 किलोग्राम बीज की आवश्यकता पड़ती है तथा वर्तमान में हाईब्रीड अरण्डी की अच्छी किस्म के बीजों की औसत दर 250 रुपये प्रति किलोग्राम है।

अरण्डी की खेती के लिए खाद की आवश्यकता

सही मात्रा में उपयुक्त खाद देने से अरण्डी के पौधों में आशातीत वृद्धि होती है तथा इसका उत्पादन पर तत्काल प्रभाव पड़ता है। नाईट्रोजन तथा फासफोरस के तत्वों को इकट्ठा मिला कर देने से अरण्डी की वृद्धि पर काफी अनुकूल प्रभाव होना पाया गया है। अभी तक हुए प्रयोगों में यह देखा गया है कि प्रति एकड़ 18 किलोग्राम नाइट्रोजन तथा 25

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

किलोग्राम फासफोरस की डोज़ देने से अरण्डी की फसल से आशानुरूप उत्पादन लिया जा सकता है। इसी प्रकार गोबर अथवा कम्पोस्ट खाद की यदि 8 टन मात्रा प्रति एकड़ की दर से दी जाए तो यह उतना ही कार्य करती है जितना उपरोक्त नाइट्रोजन तथा फारफोरस की मात्रा। यह भी देखा गया है कि हाईब्रीड वैरायटियों पर खाद का अपेक्षाकृत ज्यादा प्रभाव पड़ता है। एकीकृत खाद प्रबंधन जिसके अंतर्गत हरी खाद अथवा फास्फेट घुलनशील बैक्टीरिया का उपयोग किया जाता है, भी काफी उपयोगी है क्योंकि इससे भूमि की उर्वरा शक्ति बरकरार रहती है। हरी खाद के रुप में तथा अंतर्वर्तीय फसल के रूप में अरण्डी के साथ सूबबूल भी काफी उपयोगी पाया गया है।

अरण्डी के लिए पानी (सिंचाई) की आवश्यकता

यद्यपि अरण्डी सूखे में भी काफी अच्छी तरह तैयार हो जाती है परन्तु यदि इसकी सिंचाई की उपयुक्त व्यवस्था हो जाए तो यह ''सोने में सुहागा'' जैसी बात होगी। विशेष रुप से हाईब्रीड किस्मों के संदर्भ में यदि सिंचाई की जा सके तो वे और भी ज्यादा फलदायक सिद्ध होती हैं। सिंचाई की ज्यादा आवश्यकता फसल के प्रारंभिक दिनों में पड़ती है जब फूल आना प्रारंभ होते हैं। वैसे संपूर्ण फसल चक्र के दौरान तीन से चार सिंचाइयां पर्याप्त होती हैं।

निराई-गुड़ाई तथा खरपतवार नियंत्रण

अरण्डी की फसल की प्रारंभिक अवस्था में इसकी खरपतवारों से सुरक्षा अत्यधिक आवश्यक होती है। प्रारंभिक दिनों में अरण्डी की बढ़वार काफी धीमी होती है तथा क्योंकि अरण्डी के पौधे काफी दूर-दूर उगाए जाते हैं अत: इनके बीच की जगह में काफी मात्रा में खरपतवार उग आते हैं। अत: बिजाई के 45-50 दिनों तक फसल को खरपतवारों से मुक्त रखना अत्यधिक आवश्यक होता है। वैसे तो यदि हाथ से ही निराई-गुड़ाई की जा सके तो यह अति उत्तम रहेगा परन्तु विशेष रूप से चौड़ी पत्ती वाले खरपतवारों के नियंत्रण हेतु बिजाई के समय कुछ खरपतवार नाशक जैसे फ्लूक्लोरलिन अथवा पेन्डीमेथलिन का उपयोग करने से खरपतवारों को नियंत्रित किया जा सकता है। वैसे फसल के बीच कुलपा चलाकर भी खरपतवार नियंत्रित किए जा सकते हैं।

अरण्डी की फसल की कीट सुरक्षा तथा प्रमुख बीमारियां

क. फसल के प्रमुख कीट :

अरण्डी की फसल से संबंधित ऐसी कोई विशेष महत्वपूर्ण कीट-व्याधियां नहीं हैं जो इसकी पैदावार को ज्यादा प्रभावित कर पायें। इसके कठोर स्वभाव तथा बहुवर्षीय होने के कारण यह अधिकांश कीटों से मुक्त रहता है। वैसे इस फसल में होने वाले प्रमुख कीट हैं- सेमीलूपर, रेड हेयरी केटरपिलर, जेसिड्स, व्हाईटफ्लाई, केप्सूल बोरर तक लीफ माइनर आदि, जिनसे निम्नानुसार सुरक्षा की जा सकती है-

(अ) सेमीलूपर : यह कीट मुख्यतया वर्षाकाल (अगस्त - सितम्बर माह) में ज्यादा नुकसान पहुंचाता है। ये कीट काले भूरे अथवा मखमली रंग के होते हैं जिन पर हरी भूरी अथवा भूरी नारंगी धारियां बनी होती हैं। ये गिडारों की तरह सीधी न चलकर रेंगती हुई बीच में उठी हुई चलती हैं तथा पत्तों की सतह को खाती हैं। इनसे पौधों की सुरक्षा करने के लिए -

क. उन पत्तियों को जिन पर इसका प्रकोप हुआ हो, हाथ से तोड़कर दबा दिया जाए तथा इसके लार्वा को इसकी प्राथमिक अवस्था में ही नष्ट कर दिया जाए।

ख. ऐसे परजीवी (पैरासाइट्स) जैसे टैलीनोमस प्रोडिटर तथा ट्रिकोग्रामा किलोनिस तैयार किए जाएं जो सेमीलूपर के लार्वा को नष्ट कर दें।

ग. यदि ये ज्यादा मात्रा में हो जायें तो 0.05 प्रतिशत की दर से मोनोक्रोटोफॉस अथवा क्विनोलफॉस अथवा डायमेथोएट का छिड़काव करें। एन्डोसल्फान का उपयोग करने की स्थिति में सवा लीटर एन्डोसल्फान (35 ई.सी.) का पानी में घोल बनाकर प्रति हेक्टेयर छिड़काव करना उपयुक्त रहेगा।

(ब) रेड हेयरी केटरपिलर अथवा बिहारी केटरपिलर : यह पौधों के तनों तथा कैप्सूल्स को खाकर खोखला कर देता है तथा खोखले तनों के अंदर घुसकर प्यूपा का रूप धारण कर लेता है। इससे बचाव के लिए भी आवश्यक है कि रोगग्रस्त तनों एवं कैप्सूल्स को इकट्ठा करके जला दिया जाए। इसके साथ-साथ एन्डोसल्फान का छिड़काव करके भी पौध सुरक्षा की जा सकती है।

ख. अरण्डी की फसल की प्रमुख बीमारियां

अरण्डी की फसल को कीड़ों की बजाए बीमारियों से ज्यादा नुकसान पहुंचता है। इस संदर्भ में विल्ट, रुट रॉट तथा निमाटोड्स तीनों मिलाकर पौधों को नुकसान पहुंचाते हैं। इनसे बचाव के लिए आवश्यक है कि -

- अरण्डी की खेती निरंतर रूप से न की जाए (बीच में गैप दे दिया जाए).
- लंबी अवधि की वैरायटियां न लगाई जाएं.
- बीच में दूसरी फसलों जैसे मटर आदि की इंटरक्रॉपिंग की जाए.
- नाइट्रोजन का डोज़ घटा दिया जाए
- ज्यादा सिंचाई न की जाए.
- ऐसी वैरायटियां लगाई जाएं जिन पर इन बीमारियों का ज्यादा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रभाव नहीं पड़ता जैसे ज्योति, ज्वाला आदि।

- बिजाई से पूर्व बीजों को बावस्टिन तीन ग्राम प्रति एक किलोग्राम बीज) से उपचारित कर लिया जाए।

* **झुलसा ब्लाइट :** इस रोग की स्थिति में बीज पत्र की दोनों सतहों पर गोल एवं धुंधले धब्बे दिखाई पड़ने लगते हैं। इसमें पत्तियां गिरने लगती हैं तथा कभी-कभी तना भी गलने लगता है। इसकी रोकथाम के लिए 2 किलोग्राम मैंकोजेब का 1000 लीटर पानी में घोल बनाकर प्रति हैक्टेयर छिड़काव करना उपयुक्त रहता है।

* **पर्णचित्ती रोग :** इस रोग की स्थिति में पहले पत्तियों पर छोटे-छोटे धब्बे प्रकट होते हैं जो बाद में भूरे रंग के बड़े धब्बों में बदल जाते हैं। इसके नियंत्रण के लिए 2 किलोग्राम डायथेन जेड - 78 (जाइनेब) का 1000 लीटर पानी में घोल बनाकर छिड़काव करना उपयुक्त रहता है।

फसल की कटाई/तुड़ाई

अरण्डी की फसल में फलों की तुड़ाई के समय का पूरा ध्यान रखा जाना आवश्यक होता है। कई बार कृषक इसी इंतजार में रहते हैं कि सभी स्पाईक्स (Spikes) पक जाएं तभी एक साथ फल तोड़े जाएं, जो कि सही नहीं है। इस प्रक्रिया में कुछ फलों के ज्यादा पक जाने से उनके बीज गिर जाते हैं जिससे अनुमानत : 15 से 20 प्रतिशत उत्पादन की हानि होती है। इस वस्तुस्थिति का सर्वाधिक उपयुक्त हल यह है कि फलों की तुड़ाई एक से अधिक बार की जाए तथा जैसे-जैसे फल पकते जाएं उनकी तुड़ाई करते जाएं। वर्तमान में पूरी की पूरी हरी स्पाईक्स को ही काट लिया जाता है तथा इसे धूप में सुखाने के उपरांत इसकी थ्रेशिंग कर ली जाती है। किन्हीं स्थानों पर पूरी की पूरी स्पाइक्स न काट कर केवल पके हुए फल ही चुन लिए जाते हैं तथा उनकी थ्रेशिंग करके बीज प्राप्त कर लिए जाते हैं। वैसे जो भी विधि अपनाई जाए, यह ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए कि फलों की तुड़ाई सही समय पर हो ताकि उपज की हानि न हो। इस प्रकार जब फल हल्के काले रंग के होने लगें तो तुड़ाई कर ली जाने चाहिए तथा यह तुड़ाई एक-एक माह के अंतर से करते रहना चाहिए।

अरण्डी की फसल तैयार होने में लगने वाला समय

अरण्डी की फसल में फल आने में लगने वाला समय अन्य कारकों के साथ-साथ इसकी किस्मों पर भी निर्भर करता है। वैसे तो फल आने में न्यूनतम समय 90 दिन का है परन्तु हाईब्रीड किस्मों में फल आने में औसतन 5 से 6 माह का समय लग जाता है। फलों की तुड़ाई एक-एक माह के अंतराल से कर ली जानी चाहिए तथा उन्हें पूर्णत: सुखाकर तथा झाड़ कर अथवा कूट कर उनसे बीज प्राप्त कर संग्रहित कर लिए जाने चाहिऐं।

अरण्डी की फसल से प्राप्तियां

अरण्डी की फसल से होने वाली प्राप्तियां तथा उत्पादन कई कारकों पर निर्भर करता है। वैसे तो सामान्यतया असिंचित स्थितियों में प्रति एकड़ न्यूनतम 325 से 400 किलोग्राम तथा सिचिंत स्थितियों में 600 से 800 किलोग्राम बीज प्रति एकड़ प्रतिवर्ष प्राप्त होता है परन्तु यदि फसल की सही देखभाल की जाए तो प्रति एकड़ 2400 किलोग्राम तक बीज किसानों द्वारा प्राप्त किया जा रहा है। अरण्डी की हाईब्रीड किस्मों में से "वेस्टर्न-6" वेरायटी में असिंचित अवस्था में 10 से 12 क्विंटल तथा सिचिंत अवस्था में 25 से 30 क्विंटल तक बीज उत्पादित होने की संभावनायें व्यक्त की गई हैं। वैसे सिंचित अवस्था में औसतन 8 क्विंटल तथा सिंचित अवस्था में 20 क्विंटल अरण्डी बीज प्रति एकड़ प्रतिवर्ष प्राप्त हो सकता है जिसका वर्तमान बिक्री मूल्य यदि 1500 रु. प्रति क्विंटल माना जाए तो इस फसल से 12000 से 30000 रु. प्रतिवर्ष की प्राप्तियां हो सकती हैं।

अरण्डी की खेती के लिए बीजों की प्राप्ति

अरण्डी की खेती के लिए उत्तम श्रेणी के हाईब्रीड बीज निम्नलिखित पतों से प्राप्त किए जा सकते हैं -

- **मुकेश सीड्स,**
  ओल्ड सेफिया कालेज के सामने, भोपाल (म.प्र.)
  फोन : 749559

- **वेस्टर्न एग्री सीड्स प्रा.लि.,**
  802/11, वेस्टर्न हाऊस, वेस्टर्न रोड़, जी.आई.डी.सी. (इंजी., एस्टेट) सेक्टर-28, गांधी नगर, गुजरात-382028.,
  फोन: (02712) 34826/32061/(कार्या) 29318 (निवास).

- **आंध्रप्रदेश स्टेट सीड्स डेवेलपमेंट कार्पो. लि.,**
  5-10-193, द्वितीय तल, एच.ए.सी.ए. भवन,
  हैदराबाद - 500001.
  फोन: 236087/236238/236247.

उपरोक्तानुसार देखा जा सकता है कि अरण्डी एक अत्यधिक मूल्यवान फसल है जो न केवल कम प्रयत्नों से उगाई जा सकती है बल्कि जिसके बहुमुखी उपयोगों को देखते हुए इसकी बिक्री करना भी काफी आसान है। विशेष रुप से ऐसे क्षेत्रों के लिए भी जहां पानी की व्यवस्था कम हो, भूमि कम उपजाऊ हो तथा जहां किसान फसल पर ज्यादा ध्यान न दे सकें, यह एक अत्याधिक उपयुक्त तथा लाभकारी फसल हो सकती है। इसके अतिरिक्त इसके साथ-साथ अन्य अंर्तवर्तीय फसलें लेकर इसकी उपादेयता, उपयोगिता तथा लाभजन्यता को और अधिक बढ़ाया जा सकता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

31. ग्वारपाठा अथवा धृतकुमारी (Aloe Vera) का कृषिकरण

ग्वारपाठा अथवा धृतकुमारी, रसोन (liliaceae) कुल एवं गुडुच्यादि वर्ग का 1 से 2 फुट तक ऊंचा बहुवर्षीय मांसल पौधा होता है जोकि संपूर्ण भारतवर्ष में पाया जाता है। इसके पत्ते मांसल, भालाकार, डेढ़ फुट तक लम्बे तथा 3-4 इंच चौड़े एवं छोटे-छोटे कांटों युक्त होते हैं तथा इन्हें छिद्रित करने पर इनसे लिसलिसा सा द्रव्य निकलता है। इसके पौधे पुराने हो जाने पर इनके मध्य भाग से पुष्पदण्ड निकलता है जिस पर लाल-हल्के पीले रक्ताभपीत रंग के पुष्प या फलियां आती हैं जिन्हें "गंदल" भी कहते हैं। इसके पत्ते किनारों से थोड़े मुड़े हुए होते हैं तथा पौधों पर पुष्प आने का समय प्राय: शीतकाल (जनवरी-फरवरी) रहता है।

अनेकों औषधीय उपयोगों में प्रयुक्त होने के कारण वर्तमान में ग्वारपाठा की मांग काफी बढ़ गई है जिसके कारण इसके कृषिकरण की आवश्यकता महसूस हुई है ।

ग्वारपाठा का पौधा

ग्वारपाठा के औषधीय दृष्टि से उपयोगी भाग एवं इसका रासायनिक संगठन

ग्वारपाठे के "पत्तों" को ही केवल औषधि निर्माण हेतु उपयोग में लाया जाता है जिनमें 94 प्रतिशत पानी एवं 6 प्रतिशत 20 प्रकार के एमिनो एसिड व कार्बोहाइड्रेट्स होते हैं। इन पत्तों से ही रस का निर्माण एवं इसके पश्चात एलुआ तैयार किया जाता है जिसमें "एलोइन" नामक ग्लूकोसाइड समूह होता है। यही मुख्यत: क्रियाशील तत्व होता है। इसका मुख्य घटक "बारबेलोइन" होता है जो हल्के पीले रंग का स्फटकीय ग्लूकोसाइड (Crystalline Glycocide) होता है जो जल में विलेय होता है। इसके अतिरिक्त एलोइन में "बी-बारबेलोइन" तथा "आइसो-बारबेलोइन" तत्व भी होते हैं। साथ ही इसमें "एलो इमोडीन" "राल" (Resin), "गैलिक एसिड" तथा एक सुगंधित तेल भी होता है।

विभिन्न भाषाओं में ग्वारपाठा के नाम

धृतकुमारी अथवा ग्वारपाठा के नाम से जानी जाने वाली इस वनस्पति को विभिन्न भाषाओं में निम्नलिखित नामों से पहचाना जाता है -

संस्कृत	-	कुमारी, गृहकन्या, धृतकुमारिका, सहा।
हिन्दी	-	घीगुवार, घी कुंवार, ग्वारपाठा।
अंग्रेजी	-	इंडियन एलो (Indian Aloe)
लैटिन	-	एलोवेरा (Aloe Vera), Aloe Barbadensis
फारसी	-	दरख्ते सीव्र

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अरबी	-	सब्बारत
गुजराती	-	कुंवार पाठ
मराठी	-	कोरफड़/कोरकांटा
पंजाबी	-	कुवारगंदल/कुआरेयां
बंगला	-	धृतकुमारी
राजस्थानी	-	गुवांरपाठो
तमिल	-	चिरुली
तेलगू	-	पिन्नगोरिष्टिकलवन्द
मलयालम	-	कुमारी
कन्नड़	-	लोथिसर

ग्वारपाठा की प्रमुख प्रजातियां

ग्वारपाठा मुख्यतया अफ्रीका, अरब तथा भारत वर्ष में पाया जाता है। इसके प्राप्ति स्थल तथा देश भेद के अनुसार इसकी कई प्रजातियां पहचानी गई हैं जैसे - एलो वेरा, जाफराबादी ग्वारपाठा, ए. फैरॉक्स, एलो रुपेसेंस, एलो एबिसिनिका आदि। इनमें से किन्हीं प्रमुख किस्मों के विवरण निम्नानुसार हैं-

1. **एलोवेरा प्रजाति (Aloe Vera or Aloe Barbado) :** यह ग्वारपाठे की मुख्य जाति है जो सर्वत्र, विशेषत: मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, राजस्थान आदि प्रान्तों में पायी जाती है।

2. **एलो इण्डिका प्रजाति (Aloe Indica) :** यह ग्वारपाठे की छोटी प्रजाति है जो भारत में चेन्नई से रामेश्वरम् तक पाई जाती है। इसे छोटा ग्वारपाठा भी कहा जाता है। इसके पत्ते 6-7 इंच से एक फुट तक लंबे होते हैं जिनके किनारे सामान्यत: दन्तुर होते हैं। यह प्रजाति विशेषत: दाह, विबन्ध और ज्वर रोग में उपयोगी होती है।

3. **एलो रुपेसेंस (Aloe Rupescens) प्रजाति :** यह प्रजाति लाल ग्वारपाठे के नाम से भी पहचानी जाती है तथा बंगाल एवं सीमान्त प्रदेश में पायी जाती है। इस पर नारंगी और लाल रंग के फूल लगते हैं तथा इसके पत्तों के नीचे का भाग बैंगनी रंग का होता है। यह प्रजाति पाचक, किंचित उष्ण, उदरशूल, मंदाग्नि अर्श, आदि में विशेष उपयोगी होती है। इसके गूदे को स्प्रिट में गलाकर लेप करने से बाल काले किये जाते हैं। आन्त्रकृमियों को नष्ट करने में भी यह प्रजाति श्रेष्ठ है।

4. **जाफराबादी ग्वारपाठा (Aloe Litoratis) :** यह जाति सौराष्ट्र के समुद्र तट पर प्राप्त होती है। इसके पत्ते तलवार के आकार के श्वेत बिन्दु युक्त होते हैं।

5. **एलो एबिसिनिका (Aloe Abyssinica) :** यह जाति काठियावाड़ व खंबात की खाड़ियों में अधिक पायी जाती है। इसके पत्ते अधिक चौड़े एवं पुष्प दण्ड अधिक लंबा होता है। जाफराबादी एलुवा इसी जाति से प्राप्त किया जाता है।

6. **एलो फीरोक्स (A. Ferox) जाति :** यह एक अफ्रीकी प्रजाति है जो भारत में नहीं पायी जाती है। यह अपेक्षाकृत सबसे ऊंची (9-10 फुट तक) तथा मोटी पत्तियों से युक्त होती है। इसमें श्वेताभ पुष्पों से युक्त पुष्पदण्ड निकलता है। ब्रिटिश फार्माकोपिया का एलोय सोकोट्रीन (Aloe socotrine) नामक एलुआ इसी प्रजाति से तैयार होता है। यह जाति अफ्रीका के "सोकोद्रा" नाम के टापू में पायी जाती है तथा लाल सागर के मार्ग से मुम्बई लायी जाती है।

कड़वा एवं मीठा ग्वारपाठा

वैसे तो सभी प्रजातियों एवं प्रकारों के ग्वारपाठे कड़वे ही होते हैं परन्तु इनमें से कुछ ज्यादा कड़वे होते हैं तो कुछ कम। इनमें से जो ग्वारपाठा अपेक्षाकृत कम कड़वा होता है उसे ही मीठा ग्वारपाठा मान लिया जाता है - हालांकि दोनों प्रकारों में पौधों की ऊंचाई तथा आकृति एक समान ही होती है। वैसे मीठे ग्वारपाठे के पत्ते अपेक्षाकृत कम चौड़े, कम मोटे तथा कुछ छोटे एवं हल्के हरे रंग के होते हैं। कड़वे ग्वारपाठा का रंग अधिक हरा होता है जिसमें धूमिलता भी होती है। ज्यादा मीठा जल मिलते रहने से कम कड़वी जाति का रस भी कुछ मीठा बन जाता है जबकि ज्यादा कड़वी जाति का ग्वारपाठा अपनी कटुता नहीं छोड़ता।

ग्वारपाठे का विभिन्न रोगों के उपचार में उपयोग एवं बाजार संभावना

ग्वारपाठे का "रस" अथवा "एलुआ" तैयार करके प्राय: ऐसी आयुर्वेदिक औषधियों जिनका संबंध गुल्म, यकृत, प्लीहा वृद्धि, विबन्ध, कष्टार्तव, कफज्वर जैसी बीमारियों से होता है, का निर्माण कर रही कम्पनियों को दिया जा सकता है। वस्तुत: ग्वारपाठे के सहयोग से न केवल प्राय: सभी प्रकार की धातु, उपधातु, रत्न और उपरत्न आदि की भस्में तैयार की जाती हैं बल्कि विभिन्न प्रकार के रस-रसायनों के निर्माण में भी ग्वारपाठे का सहयोग लिया जाता है।

(अ) ग्वारपाठे के सहयोग से विर्निमित प्रमुख प्रचलित रस-रसायन निम्नलिखित हैं :-

- चन्द्रोदय रस (रसेन्द्र चिन्तामणि)
- मकरध्वज (भैषज्य रत्नावली)
- पूर्ण चन्द्ररस (भैषज्य रत्नावली)
- मुक्ता पंचामृत (रस तरंगणी)
- उन्माद गजांकुश रस (रस तरंगणी)
- कुमार कल्याण रस (भैषज्य रत्नावली)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

- चिन्तामणि चतुर्मुख रस (भैषज्य रत्नावली)
- प्रदरान्तक रस (भैषज्य रत्नावली)
- शिला सिन्दूर (आयुर्वेदिक सार संग्रह)
- स्वर्ण सिन्दूर (रसायनसार)

(ब) दुर्बल एवं दूषित गर्भाशय को शुद्ध एवं पुष्ट करने में कुमारी (ग्वारपाठे) की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इस रोग से संबंधित औषधि तैयार करने वाली प्रमुख फर्मो द्वारा इसको निम्नानुसार प्रयुक्त किया जाता है :-

1. देशरक्षक औषधालय, कनखल की "लिकोपिल्स" में कुमारी रस का मिश्रण होता है।
2. श्री रुद्रदेव आयुर्वेद भवन, नयागांव (सारण) के "एम.सी. जैल" एवं "स्त्री जीवनसुधा" दोनों स्त्री उपयोगी पेयों में भी कुमारी विद्यमान है। इसी फर्म के "फेमिलिन" नामक कैपसूलों में भी कुमारीधन मिश्रित है।
3. चरक फार्मास्यूटिकल्स द्वारा निर्मित "टीनापेइन" टबलेट कुमारी स्वरस की भावना देकर बनाई गयी है।

   उपरोक्त सभी गोलियां मासिक धर्म आने से पूर्व के तनाव को दूर कर, मासिक धर्म की अनियमितता को समाप्त करती हैं जिसमें कुमारी की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

(स) इसमें दीपन एवं रेचन होने के कारण यह विबंध एवं विबंध-जन्य रोगों में उपयोगी मानी जाती है।

इस रोग के निवारण हेतु औषधि तैयार करने वाली प्रमुख फर्मों द्वारा इसे निम्नानुसार मिश्रित किया जा रहा है :-

1. भारतीय औषधि निर्माणशाला, राजकोट ने "आयुर्झाइम ग्रेन्युल्स" में कुमारी का सम्मिश्रण किया जाता है जिसमें अन्य अवयवों के साथ प्रत्येक 10 ग्राम पर 0.7 ग्राम कुमारी का भी प्रयोग है जो मन्दाग्नि, हृदय वेदना, रक्तहीनता एवं विबंध आदि रोगों में लाभप्रद होता है।
2. आर्य औषधि फार्मास्यूटिकल्स इंदौर द्वारा निर्मित "डर्माक्लीन" औषधि में भी कुमारी विद्यमान है।
3. साण्डू ब्रदर्स के प्राय: सभी "श्वासकासहर उत्पादों" में कुमारी का मिश्रण किया जाता है। कुकुर खांसी के लिये साण्डू ब्रदर्स का "हूपिन सायरप" प्रसिद्ध है जिसमें अन्य तत्वों के साथ-साथ कुमारी भी विद्यमान है। साण्डू ब्रदर्स का यह उत्पाद कफ को पतला बनाकर बाहर निकालने के कार्य में विशेष ख्याति प्राप्त है।
4. कौशिक आयुर्वेद भवन, सालासर (राजस्थान) की प्रमुख औषधि "रुमारन सीरप" में कुमारी का संयोजन किया गया है जिससे वातरोग तथा स्नायुदौर्बल्य का निदान होता है।
5. त्रिमूर्ति फार्मेसी बीकानेर के उदर रोगहर "पांचनामृत" पेय में कुमारी स्वरस का समावेश है।
6. मार्तण्ड फार्मास्यूटिकल्स के "लीवरबून" पेय में भी कुमारी का स्वरस विद्यमान है।
7. मार्तण्ड और सिद्धि को छोड़कर प्राय: सभी आयुर्वेदिक इंजेक्शन निर्माता "धृतकुमारी" नामक इंजेक्शन का निर्माण करते है। यह उदर रोग, मासिक धर्म विकार, अण्डवृद्धि और विषम ज्वर में लाभप्रद होता है। जी.ए.मिश्रा आयुर्वेदिक फार्मेसी द्वारा निर्मित "धृतकुमारी" इंजेक्शन में 16 मिलीग्राम धृतकुमारी एवं 14 मिली ग्राम अदरक सत्व होता है। यह विसूचिका, उदर विकार एवं स्त्री रोगों में लाभप्रद पाया गया है।

ई. अनेकों औषधि निर्माताओं द्वारा "एलुआ कुमारीसार" का उपयोग भी विभिन्न औषधियों के निर्माण में किया जा रहा है, जिनमें प्रमुख हैं -

1. गर्ग औषधि भण्डार, विजयगढ़ के "रजावरोधान्तक" कैपसूल में, ज्वाला आयुर्वेद भवन के "रजावरोधान्तक" में, पंकजफार्मा के रजनोसूल में, निर्मल आयुर्वेद संस्थान के रजोसुखदा में, रुद्रदेव आयुर्वेद भवन के "मेन्सोरेकस" आदि कैपसूलों में एलुआ प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार काश्मीर आयुर्वेदिक वकर्स, अमृतसर के "मैनसोल" में, आर्य औषधि फार्मास्यूटिकल्स इंदौर के "रजोसाइन" एवं दीनदयाल औषधालय ग्वालियर के "ऋतुरुजाहर" आदि गोलियों में भी एलुआ का उपयोग होता है। इन सभी औषधियों का प्रयोग रज : प्रवर्तक के रूप में किया जाता है।
2. अर्शहर प्रयोगों में भी उपयोगी होने के कारण एलुआ प्रयोग किया जा रहा है जिसमें मार्तण्ड फार्मोस्यूटिकल्स, हापुड के "अर्शीमा टेबलेट" में, देशरक्षक औषधालय, कनखल के "अर्शोघ्नी टेबलेट में, निर्मल आयुर्वेद संस्थान के "अर्शारि" कैपसूल में, पंकज फार्मा के "अर्शहारी" कैपसूल में और ज्वाला आयुर्वेद भवन, अलीगढ़ के "अर्शान्तक" कैपसूल में एलुआ मिश्रित किया जाता है। इन सभी औषधियों का प्रयोग अर्शविनाशक के रूप में किया जाता है।
3. दीनदयाल औषधालय "सद्यव्रणबन्ध" नामक वाह्य प्रयोग तैयार करता है जिसमें एलुआ का प्रयोग अन्य तत्वों के साथ होता है। यह उत्पाद घाव से रक्त बहना बंद करता है और घाव को दूषित होने से बचाता है।
4. "हर्बोलेकस (हिमालया) "त्रिलेकस" तथा (त्रिमूर्ति) आदि रेचन प्रयोगों में भी एलुआ डाला जा रहा है।
5. विषम ज्वरशामक होने के कारण सिद्धि फार्मेसी द्वारा निर्मित "ज्वरीना" टेबलेट जिसे "काली कुनेन टिकिया" भी कहा जाता है, में अन्य तत्वों के साथ एलुआ का प्रयोग भी हो रहा है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

फ. सौंदर्य प्रसाधनों के निर्माण में ग्वारपाठा का उपयोग : एक प्रमुख क्षेत्र जिसमें ग्वारपाठे का उपयोग तेजी से बढ़ता जा रहा है, वह है - सौंदर्य प्रसाधनों के निर्माण में इसका उपयोग। विशेष रूप से चेहरे की सुंदरता को बढ़ाने के लिए इससे अनेकों उत्पाद बनाये जा रहे हैं जिससे इसकी मांग इस क्षेत्र में बढ़ती जा रही है।

उपरोक्त योगों के अतिरिक्त ग्वारपाठे का उपयोग निम्नलिखित विकारों के लिए भी किया जाता है -

1. **कष्टार्तव :-** जिन महिलाओं को मासिक धर्म के समय दर्द होता हो, उन्हें सुबह-शाम 25-50 ग्राम धृतकुमारी के रस का सेवन मासिक धर्म प्रारंभ होने से 7 दिन पूर्व ही कर लेना चाहिए। मासिक धर्म समय पर नहीं आने पर गर्भाधान नहीं हो पा रहा हो तो धृतकुमारी का छिलका तवे पर गर्म करके उस पर हल्दी का चूर्ण बुरककर नाभि के नीचे के हिस्से में बांध दें तथा धृतकुमारी का रस पीने को दें। इससे चार-छ: दिन में खुलकर रक्त स्त्राव हो जाएगा।
2. **चर्मरोग :** धृतकुमारी के रस की मालिश करने से चर्मरोग में आराम मिलता है। धूप से जली हुई त्वचा पर इसके रस का लेप करने से वह ठीक हो जाती है।
3. **दांत का हिलना व दांत दर्द :** धृतकुमारी का छिलका दांत पर रगड़ने तथा इसे चबाने से दंतविकारों में लाभ मिलता है।
4. **चोट लगने पर :** चोट वाले स्थान को साफ करके वहां धृतकुमारी लगाने से धाव पकते नहीं हैं।
5. **अग्निदग्ध :** धृतकुमारी तोड़कर लगाएं, जलन मिट जाएगी.
6. **कफ विकार :** हल्दी एवं धृतकुमारी का रस छाती पर मलने से कफ विकार दूर होते हैं।
7. **खांसी :** धृतकुमारी का रस आधा चम्मच, काली मिर्च एक चौथाई भाग तथा सोंठ 1/4 भाग शहद के साथ मिलाकर लेने से खांसी से राहत मिलती है।
8. **उदरशूल :** उदरशूल की स्थिति में ग्वारपाठे की सब्जी बनाकर खिलाने से आराम मिलता है। गेहूं का आटा, धृतकुमारी का गूदा, अजवाइन, सेंधा नमक, जीरा मिलाकर चपाती बनाकर खिलाने से वायु विकार (गैस) में आराम मिलता है।
9. **बवासीर :** धृतकुमारी का 10-30 ग्राम रस पिलाने तथा हल्दी एवं धृतकुमारी का गूदा मिलाकर लगाने से वबासीर से आराम मिलता है।
10. **कब्ज :** धृतकुमारी का डेढ़ इंच टुकड़ा सुबह-शाम लेने से कब्ज दूर होती है।
11. **यकृत सूजन :** नमक व धृतकुमारी का रस पीने के लिए देने से यकृत सूजन दूर होती है।

नवीन अनुसंधानों द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि ग्वारपाठा के ताजे पत्तों का गूदा एक्स किरणों के विकिरण द्वारा उत्पन्न हानिकारक प्रभावों को दूर करने में लाभदायक है। इसके पत्तों में क्रिस्टलीय ग्लूकोसाइड बारबालोन एवं एलोन, आइसोबारवालोन, इमोडिन आदि तत्व पाए जाते हैं। इसके पत्तों से एक विशेष विधि द्वारा एलुवा या कुमारीसार बनाया जाता है जिसकी बाजार में काफी मांग है।

ग्वारपाठे से रस प्राप्त करने की परम्परागत विधि

ग्वारपाठा के पत्तों से रस "एक्सट्रैक्ट" करने की कई परम्परागत विधियाँ प्रचलन में हैं। इनमें से सर्वाधिक व्यवहारिक विधि से निम्नानुसार रस निकाला जाता है -

प्रथम विधि : ग्वारपाठे के पत्तों को छोटे-छोटे टुकड़ों में तैयार करके एक मिट्टी के बर्तन में रख दें। इस बर्तन के तले में छोटे-छोटे छिद्र होने चाहिएं जिससे रस बाहर निकल सके। इसके पश्चात एक चौड़े मुंह वाले पात्र में इस बर्तन को रख दें। मिट्टी के बर्तन वाले पात्र का तला, चौड़े मुंह वाले पात्र से ऊपर होना चाहिए। इसके पश्चात् लकड़ी से ग्वारपाठे के पत्तों को जोर-जोर से ऊपर नीचे करें। इस प्रक्रिया को नियमित करने से कुछ समय के पश्चात् पत्तों का रस छिद्रों के रास्ते बड़े बर्तन में इकट्ठा हो जाएगा। **वर्तमान में यह निकालने के स्वचलित यंत्र तथा विधियां भी विकसित हो चुकी हैं।**

ग्वारपाठा से मुसब्बर का निर्माण : मुसब्बर में "एलोइन" नामक ग्लूकोसाइड समूह होता है। इसका मुख्य क्रियाशील तत्व यही है जिसका मुख्य घटक बारबालोन है। यह हल्के पीले रंग का स्फटकीय ग्लूकोसाइड होता है जो जल में घुलनशील होता है। इसके अतिरिक्त एलोइन में बी-बारबालोन तथा आईसो-बारबोलोन तत्व भी होते हैं। इनके साथ-साथ इसमें एलो इमोडीन, राल, गैलिक एसिड़ तथा एक सुगंधित तेल भी होता है।

मुसब्बर के विभिन्न नाम निम्नानुसार हैं -

संस्कृत	:	कुमारीसार, कन्यासार, कृष्णबोल
हिन्दी	:	एलुआ, एलुवा, मुसब्बर, काला सुहागा
मराठी	:	एलिया, कालाबोल
गुजराती	:	एलियो
बंगला	:	एलिया, मोसब्बर
तेलगु	:	कोलम
अरबी	:	सिब्र
यूनानी	:	फेकरा, मुसब्बर
अंग्रेजी	:	एलोज़ (Alose)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मुसब्बर की निर्माण विधि : धृतकुमारी से रस निकालने के बाद इस रस को धूप में या मन्द अग्नि पर गर्म करके मुसब्बर बनाया जाता है। इस विधि से एक अपारदर्शक मोम के समान सत्व प्राप्त होता है जिसे "यकृतवद् कुमारी सार" कहते हैं।

इस रस को "तीव्र अग्नि" पर शीघ्र सुखाकर जो कुमारी सार बनाया जाता है वह अर्द्ध पारदर्शक सत्व होता है। इसे "कांचवत् कुमारीसार" कहते हैं।

मुसब्बर को अच्छी तरह डॉट बंद पात्रों में अनार्द शीतल स्थान में सुरक्षित रखते हैं तथा अधिकांशत: इसे ही बिक्री के लिए भेजा जाता है।

ग्वारपाठा की कृषि तकनीक

1. **भूमि :** यद्यपि धृतकुमारी की खेती असिचित तथा सिंचित दोनों तरह की भूमि पर की जा सकती है, परन्तु इसकी खेती सदैव असिंचित जमीन पर ही की जानी चाहिए। जिस जमीन पर इसकी खेती करना हो वहां पानी भरा (Water Logging) नहीं रहना चाहिए तथा पानी के निकास की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। इसकी जड़ भूमि में ज्यादा गहरी नहीं जाती है।
2. **रोपण :** ग्वारापाठा की बिजाई इसके कंदों/ट्यूबर्स से की जाती है। इसके छोटे पौधों का रोपण वर्षाकाल अर्थात जुलाई-अगस्त माह में किया जाता है। इसके लिए पुराने पौधों की जड़ों के पास से ही कुछ छोटे पौधे निकलने लगते हैं। वर्षाकाल में इन्हीं छोटे पौधों को जड़ सहित निकालकर बड़े खेत में लगा दिया जाता है तथा यही इनका बीज/प्लांटिंग मेटेरियल कहलाता है।
3. **पौधों की संख्या प्रति एकड़ :** एक मीटर में इसकी दो लाइनें लगेंगी तथा फिर एक मीटर जगह खाली छोड़कर पुन: एक मीटर में दो लाइनें लगेंगी। इस प्रकार एक एकड़ में ग्वारपाठा 14000 से 16000 तक पौधे लगेंगे। प्रत्येक खण्ड के बाद एक मीटर जगह खरपतवार निकालने तथा पत्तियों को काटने के लिए रखते हैं।
4. **खरपतवार नियंत्रण :** प्रत्येक माह में धृतकुमारी के अतिरिक्त अन्य छोटे-छोटे अवांछित पौधों को, जिन्हें खरपतवार के रूप में जाना जाता है, निकालते रहना चाहिए।
5. **कटाई :** पौधे लगाने के एक वर्ष बाद हर तीन माह में प्रत्येक पौधे की 3-4 पत्तियों को छोड़कर शेष सभी पत्तियों को तेज धारदार हंसिये से काट लेना चाहिए।
6. **कुल उत्पादन :** इस प्रकार की कृषि क्रिया से वर्ष भर में प्रतिएकड़ धृतकुमारी के 5,000 किलो ताजा पत्ते प्राप्त होते हैं। ताजा पत्ती का वर्तमान बाजार भाव 2/- से 3/- रुपये प्रति किलोग्राम है। इन पत्तों को गीला (हरा) भी आयुर्वेदिक दवाइयां बनाने वाली कम्पनियों तथा प्रसाधन सामग्री निर्माताओं को बेचा जा सकता है तथा इन पत्तों से "मुसब्बर" अथवा "एलुआसार" बनाकर भी इन्हें बेचा जा सकता है। अभी इसके प्रक्रियाकरण हेतु कई इकाइयां स्थापित हो रही हैं जिनकी स्थापना के उपरांत इसकी बिक्री और भी आसान हो जाएगी।

इस प्रकार बेकार पड़ी भूमि पर बिना किसी विशेष खर्च के ग्वारपाठा की खेती से पर्याप्त लाभ कमाया जा सकता है।

वर्तमान समय में आयुर्वेदिक दवा निर्माताओं तथा सौन्दर्य प्रसाधन निर्माताओं द्वारा ग्वारपाठा से अनेकों उत्पाद बनाए जाने के कारण इसका बाज़ार तेजी से बढ़ता जा रहा है। यद्यपि वर्तमान में इसका ट्रांसपोर्टेशन थोड़ा मुश्किल है क्योंकि इसके प्रक्रियाकरण की इकाईयाँ दिल्ली तथा बंगलौर में ही स्थित हैं परन्तु शीघ्र ही इसके प्रक्रियाकरण से संबंधित इकाईयां स्थानीय तौर पर ही स्थापित हो जाने पर इसकी मांग स्थानीय तौर पर ही काफी हो जाएगी।

ग्वारपाठा की खेती के विशेष लाभ

ग्वारपाठा की खेती के प्रमुख लाभ निम्नानुसार हैं -

1. इसकी खेती के लिए खाद, कीटनाशक आदि की कोई आवश्यकता नहीं होती।
2. कोई जानवर इसको नहीं खाता अत: इसकी रखवाली की आवश्यकता नहीं होती।
3 यह फसल वर्षपर्यन्त आमदनी देती है।
4. इस पर आधारित एलुवा बनाने व सूखा पावडर बनाने वाले उद्योगों की स्थापना की जा सकती है।
5. इसके ड्राई पाउडर व जैल की विश्व बाजार में व्यापक मांग होने के कारण इससे विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सकती है।

नोट : यद्यपि ग्वारपाठा काफी अधिक औषधीय महत्व का पौधा है, औषधीय पौधों से संबंधित "इंटरनेट" पर आज संभवतया सर्वाधिक वेबसाइट्स ग्वारपाठा की ही है तथा इसकी खेती भी अत्यधिक आसान है। परन्तु इसके बाजार की स्थिति उतनी अच्छी नहीं है। वर्तमान स्थिति में इसके पत्तों को हरी (कच्ची) अवस्था में बेचा जाए तो इसके दाम डेढ़-दो रुपये से अधिक नहीं मिलते जबकि इसकी ट्रांसपोर्टेशन पर ही इतना खर्च आ जाता है कि सारे का सारा लाभ ट्रांसपोर्टेशन पर होने वाले खर्च में ही निकल जाता है। दूसरी ओर इसके वैज्ञानिक तथा उत्कृष्ट प्रक्रियाकरण की तकनीकी की जानकारी स्थानीय रूप से उपलब्ध नहीं है जिसके कारण आम आदमी के लिए इसको प्रोसेस करना भी संभव नही है। अत: काफी अधिक औषधीय उपयोग का होने के बावजूद इसके बाजार की स्थिति ज्यादा अच्छी नहीं है। इसकी खेती के इच्छुक किसानों से यह अनुरोध है कि सर्वप्रथम वे इसकी प्रोसेसिंग तथा मार्केटिंग की जानकारी प्राप्त कर लें तथा तदुपरान्त ही बड़े स्तर पर इसकी खेती करने का निर्णय लें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

32. मरोड़फली

मरोड़फली की फलियाँ

मरोड़फली जो कि अंग्रेजी में "ईस्ट इंडियन स्क्रू ट्री" के नाम से जाना जाता है तथा जिसका वैज्ञानिक नाम हैलिक्ट्रस आईसोरा (Helicteres Isora) है, भारतवर्ष के विभिन्न भागों - दक्षिण, पश्चिम एवं मध्यभारत के शुष्क जंगलों तथा हिमालय की तराई में साल वनों में प्रचुरता से पाया जाने वाला एक छोटा पौधा है। इसकी फलियां बटी हुई रस्सी अथवा स्क्रू की तरह पेचदार तथा डेढ़ से दो इंच लम्बी होती हैं। संभवतया इन पेंचदार फलियों के कारण ही इस पौधे का नाम मरोड़फली रखा गया है। औषधीय उपयोग हेतु मुख्यतया इसकी फलियां, जड़ें तथा छाल काम में आती है। इसकी फलियाँ पंसारियों के यहाँ बिकती हुई देखी जा सकती हैं।

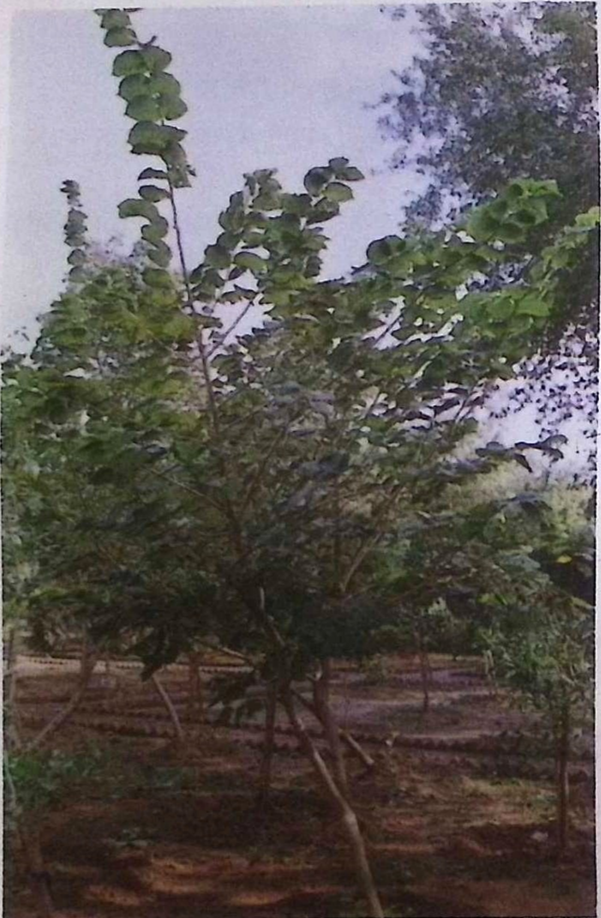

मरोड़फली का पौधा

मरोड़फली एक छोटा पौधा होता है जिसकी शाखाएं पतली तथा फैली हुई होती हैं। इसकी पत्तियाँ देखने में फालसे की पत्तियों जैसी होती हैं। इनका रंग हरा होता है तथा ऊपर से ये खुरदरी होती हैं। इसकी फलियाँ डेढ़ से दो इंच लम्बी होती हैं तथा उनके अंदर एक कतार में छोटे-छोटे कोणाकार बीज होते हैं जो गाढ़े भूरे रंग के होते हैं। मरोड़फली के पौधे पर वर्षा ऋतु में फूल आते हैं तथा तदुपरान्त पर फलियां आती हैं। यूनानी पद्धति के अनुसार मरोड़फली गरम तथा खुश्क तासीर की होती है। मरोड़फली के फल का (बीजों का) उपयोग मुख्यतया आंत की बीमारी, आंव आने, उदरशूल तथा अतिसार के उपचार हेतु किया जाता है। इसकी जड़ का उपयोग मधुमेह के उपचार तथा पेट के विभिन्न रोगों के उपचार हेतु किया जाता है। इसकी छाल तथा जड़ों को खांसी एवं श्वास संबंधी रोगों तथा एंटीगेलेक्टिक के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

33. पपीते की खेती तथा पपेन का उत्पादन

पपीता हमारे देश में उपयोग में लाया जाने वाला एक ऐसा फल है जिसके कितने उपयोग हैं, यह कहना मुश्किल है। हमारे देश में पपीते को मुख्य रूप से इसके फलों को खाने के लिये उगाया जा रहा है। भारत में अधिकांश लोग यह तो मानते हैं कि पपीता एक स्वादिष्ट, स्वा-स्थ्यवर्धक एवं पाचक फल है, परन्तु संभवतया यह नहीं जानते कि यह इतना पाचक क्यों है? पपीते के पाचक होने का सबसे महत्वपूर्ण कारक है-उसमें **पपेन नामक एन्जाइम** का उपस्थित होना। पपीते में विटामिन ''ए'' प्रचुर मात्रा में (2050 आई.यू.) उपस्थित होता है। प्रति 100 ग्राम पपीते में लगभग 60 मि .ग्रा. विटामिन ''सी'' भी होता है। इसके अतिरिक्त इसमें 0.80% प्रोटीन, 0.1% वसा एवं कुछ मात्रा में विटामिन ''बी'', कार्बोहाईड्रेट्स एवं खनिज लवण जैसे लोहा, फास्फोरस तथा कैल्शियम भी पाये जाते हैं।

भारतवर्ष में कुछ ही लोग यह जानते होंगे कि कच्चे पपीते से एक दूध जैसा पदार्थ प्राप्त होता है जिसका उपयोग ''पपेन'' बनाने में किया जाता है। यह पपेन दवाईयां बनाने के काम में आता है। इसके अतिरिक्त पपेन का उपयोग चमड़ा उद्योग में, बियर उद्योग में, मांस को गलाने में, चॉकलेट, बिस्कुट एवं सौन्दर्य प्रसाधनों में भी होता है। इन सभी के अतिरिक्त पपीते का उपयोग टूटी-फ्रूटी, (पान व केक में डालने वाली चेरी) जैम, जैली, टॉफी, पपीता पावडर एवं कस्टर्ड पावडर आदि बनाने में भी प्रमुखता से होता है। पपीते से पैक्टीन भी बनाई जा सकती है।

भारत वर्ष में पपीते पर आधारित उद्योग मुख्यत: दक्षिणी राज्यों जैसे तमिलनाडू, कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश एवं महाराष्ट्र तक ही सीमित हैं। इन राज्यों में पपीते की खेती खाने वाले फलों के अलावा पपेन प्राप्त करने के लिये भी की जा रही है। मध्यप्रदेश के खण्डवा एवं खरगोन जिलों के कुछ हिस्सों में पपेन के लिये भी पपीते की खेती की जा रही है।

पपीते की खेती हेतु कृषि तकनीक

अन्य परंपरागत फसलों की तुलना में पपीते की खेती से काफी अधिक लाभ कमाया जा सकता है, बशर्ते इसकी खेती आधुनिक ढंग से तथा अच्छी तरह से की जाए। अच्छे बीजों का चयन, समय पर सिंचाई, समय पर खाद एवं समय पर निराई-गुड़ाई करने पर पपीते की फसल से काफी अधिक लाभ कमाया जा सकता है।

पपीते के लिये आवश्यक जलवायु

व्यावसायिक स्तर पर पपीते की खेती ठण्डे प्रदेशों (जम्मू-काश्मीर, हिमाचल प्रदेश आदि) को छोड़कर सम्पूर्ण भारत वर्ष में की जा सकती है। समस्त दक्षिणी राज्यों के साथ-साथ सम्पूर्ण मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार, उड़ीसा, महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल एवं राजस्थान के कुछ हिस्सों में पपीते की खेती के लिये काफी उपयुक्त जलवायु पाई गयी है। वैसे इन राज्यों में छोटे पैमाने पर पपीते की खेती की जाती रही है। ज्यादा पाले वाले क्षेत्रों में भी पपीते की खेती कुछ विशेष सावधानियों के साथ की जा सकती है।

पपीते के लिये आवश्यक भूमि

पपीते की खेती लगभग सभी प्रकार की मिट्टियों में की जा सकती है, बशर्ते जमीन से पानी की निकासी काफी सुगम हो एवं जल भराव की स्थिति उत्पन्न न होती हो। पपीते की पैदावार दोमट, बलुई दोमट, पड़ुआ, बलुई पड़ुआ, राकड़ मिट्टी, मुरम वाली मिट्टी में काफी अच्छी होती है। इसके अलावा काली मिट्टी जहां जमीन ढालू हो एवं जल भराव की स्थिति उत्पन्न न होती हो, पपीते की खेती के लिये उपयुक्त होती है। अधिक अम्लीय एवं अधिक क्षारीय मिट्टी में पपीते की खेती नहीं करना चाहिए। प्राय: 6.5 पी.एच. से 7.5 पी.एच. वाली मिट्टी इसकी खेती के लिए उपयुक्त होती है। ऊसर जमीनों में पपीते की खेती नहीं की जानी चाहिए।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पपीते की प्रमुख किस्में

जैसा कि उपरोक्तानुसार वर्णित है कि पपीते का उपयोग खाने के अलावा पपेन उद्योग हेतु भी किया जाता है, इसलिये उपयोग के अनुसार पपीते की विभिन्न प्रजातियों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) **फल के रूप में खाई जाने वाली प्रमुख प्रजातियां** —कोयम्बटूर-1, कोयम्बटूर-3, कोयम्बटूर-4, पेन-1, पी.के.-10, पी.के.-11, पी.के.-12, पूसा नन्हा, पूसा ड्वार्फ, पूसा ज्याइन्ट, पूसा डिलेशियस, हनीड्यू, कुर्ग हनीड्यू, फार्म सिलेक्शन-1, पूसा मैजिस्टी.

(2) **केवल पपेन के उत्पादन के लिये प्रमुख प्रजातियां** —पेन-1, पी.के.-12, कोयम्बटूर-2, कोयम्बटूर-5, पूसा मैजिस्टी.

(3) **फल के रूप में खाने एवं पपेन प्राप्त करने दोनों के लिये प्रमुख प्रजातियां** —पेन-1, पी.के.-12, कोयम्बटूर-6, पूसा मैजिस्टी.

पपीते की विभिन्न प्रजातियों की विशेषताएं

(1) **कोयम्बटूर-1 :** यह प्रजाति दक्षिणी भारत में काफी लोकप्रिय है। इसमें लगने वाला फल मध्यम आकार का गोल होता है। फलों का वज़न डेढ़ से ढाई किलो तक होता है। इसमें औसतन प्रति पेड़ 40-45 कि.ग्रा. फल आते हैं। इस प्रजाति में नर एवं मादा दोनों प्रकार के पौधे पाये जाते हैं।

(2) **कोयम्बटूर-2 :** पपीते की यह प्रजाति दक्षिणी भारत में पपेन उत्पादन के लिये प्रमुखता से उगाई जाती है। इसमें नर एवं मादा 50 : 50 होते हैं। इसमें डेढ़ कि.ग्रा. से ढाई कि.ग्रा. वजन तक के फल आते हैं तथा एक पेड़ से औसतन 200 ग्राम तक पपेन का उत्पादन होता है। इसमें प्रति पेड़ 50 कि.ग्रा. फल औसतन आते हैं।

(3) **कोयम्बटूर-3 :** सनराइज़ सोलो एवं कोयम्बटूर-2 के संकरण से विकसित इस प्रजाति में नर पौधे नहीं पाये जाते हैं। व्यावसायिक स्तर पर यह प्रजाति दक्षिणी भारत में काफी लोकप्रिय है। इसमें लगने वाले फल मध्यम आकार के व मीठे होते हैं। इसमें औसतन 35 से 40 कि.ग्रा. फल प्रति पेड़ प्राप्त होते हैं।

(4) **कोयम्बटूर-4 :** यह भी संकरण द्वारा विकसित प्रजाति है। इसमें एक से डेढ़ कि.ग्रा. तक के फल आते हैं। फल गोल व मध्यम आकार के होते हैं। इसमें औसतन 35-40 कि.ग्रा. फल प्रति पेड़ प्राप्त होते हैं।

(5) **कोयम्बटूर-5 :** पपेन उत्पादन के लिये विशेष रूप से इस प्रजाति को विकसित किया गया है। दक्षिणी भारत में पपेन उत्पादकों में यह प्रजाति लोकप्रिय होती जा रही है। इसमें फल कोयम्बटूर-2 जैसा ही आता है परन्तु पपेन उत्पादन अधिक होता है। इसमें पौधे का रंग कुछ-कुछ बैंगनी रंग लिये होता है।

(6) **कोयम्बटूर-6 :** इसको पपेन एवं खाने दोनों के लिये विकसित किया गया है। यह प्रजाति भी दक्षिणी भारत में लोकप्रिय हो रही है। इसके फलों का उत्पादन कोयम्बटूर-2 से कुछ अधिक होता है परन्तु ऊंचाई कोयम्बटूर-2 एवं कोयम्बटूर-5 से कम होती है।

(7) **पेन-1 :** यह तंजानिया से आयातित प्रजाति है एवं इसने समस्त भारत (विशेषकर मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश एवं महाराष्ट्र) में पिछले चार-पांच वर्षों में पपीते की खेती में एक नई क्रांति ला दी है। किसानों द्वारा इसकी खेती काफी सफलता पूर्वक की गयी है एवं इस प्रजाति ने अनेक किसानों को काफी लाभ पहुंचाया है। वर्तमान में यह उन प्रमुख प्रजातियों में पहले स्थान पर है जिनको किसानों द्वारा व्यावसायिक रूप से उगाया जा रहा है। इस प्रजाति का विस्तार सम्पूर्ण भारत में होता जा रहा है एवं यह काफी लोकप्रिय होती जा रही है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस प्रजाति में जमीन से मात्र एक से डेढ़ फीट की ऊंचाई से ही फल लगने लगते हैं एवं रोपण के आठवें माह से ही फल आने लगते हैं। यह काफी मजबूत प्रजाति है एवं इसका पौधा स्वस्थ एवं सुडौल होता है। इसके फल का आकार बड़ा होता है तथा फलों का वजन 2 से 3.5 कि.ग्रा. तक होता है। फल काफी मीठा होता है। इसमें 70 से 75 फल आते हैं। इसमें नर तथा मादा 50 : 50 होते हैं। इसमें फलों का उत्पादन 700 क्विंटल प्रति एकड़ तक हो सकता है तथा इस प्रजाति से प्रति पेड़ 350 ग्रा! से 400 ग्रा. तक पपेन उत्पादित किया जा सकता है। व्यावसायिक रूप से यह सबसे अच्छी प्रजातियों में से एक है।

पपीते की तंजानिया से आयातित प्रजाति : पेन–1

(8) पी.के.-10 : इस प्रजाति में नर पौधे नहीं पाये जाते हैं एवं समस्त पौधे फल देने वाले होते हैं। फल में बीज की मात्रा काफी कम पाई जाती है। फल का आकार बड़ा होता है। उभयलिंगी होने के कारण कुछ फल लंबे होते हैं। इस प्रजाति के फल डेढ़ किलो ग्राम से ढाई कि.ग्रा. तक के होते हैं। व्यावसायिक स्तर पर यह प्रजाति भी एक अच्छी प्रजाति है एवं किसानों को इस प्रजाति को उगाने में ज्यादा मेहनत नहीं करनी पड़ती।

(9) पी. के.-11 : यह प्रजाति मुख्यत: उन किसानों के लिए विकसित की गयी है जो बहुत बड़ी संख्या में खेती करने की बजाय छोटे स्तर पर पपीते की खेती करना चाहते हैं। इसमें नर-मादा पौधे 45:55 होते हैं। फलों का आकार मध्यम होता है एवं इस पर डेढ़ से ढाई कि.ग्रा. तक के फल आते हैं। इसमें प्रति पेड़ 50 से 60 तक फल लगते हैं तथा कुछ पेड़ों में जमीन से ही फल लगने लगते हैं। वैसे ज्यादातर फल एक से दो फिट की ऊंचाई से लगते हैं। लगभग 70% पेड़ों पर लगने वाले फल अण्डाकार एवं शेष गोलाकार एवं लम्बे होते हैं। यह खाने वाली प्रजातियों में प्रमुख स्थान पर है एवं सस्ती होने के कारण किसानों में काफी लोकप्रिय है।

(10) पी.के.-12 : पेन-1 एवं कोयम्बटूर-2 के संकरण से इस प्रजाति को विकसित किया गया है। यह प्रजाति

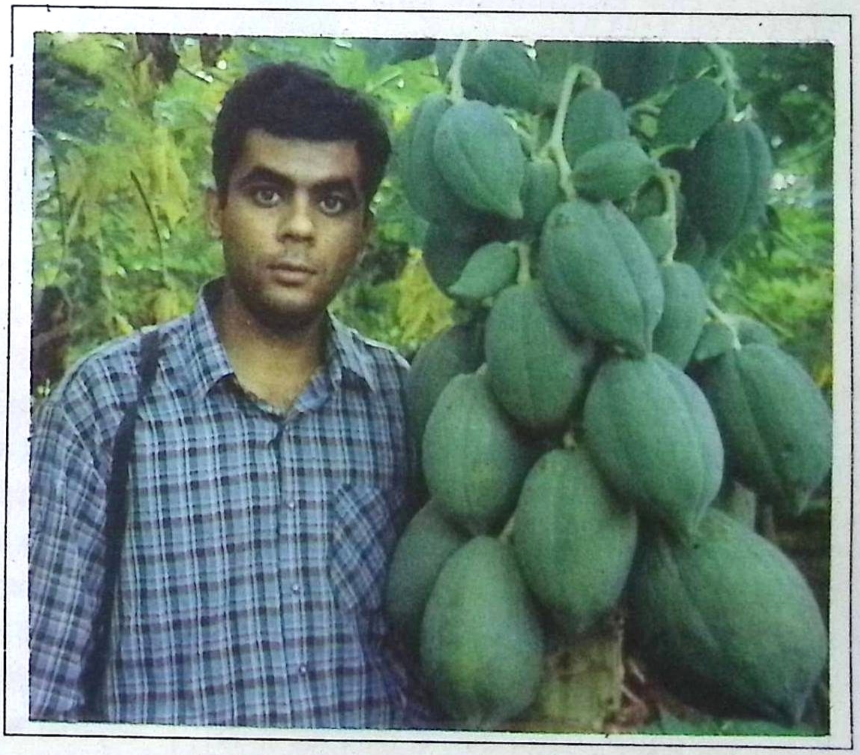

पपीते की एक विशिष्ट किस्म– पी. के. 11.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

काफी अच्छी फसल देने वाली है तथा उत्तरी एवं मध्य भारत के किसानों में काफी लोकप्रिय है। इसमें डेढ़ से तीन कि.ग्रा. तक के फल आते हैं। एक पेड़ में औसतन 60 से 70 तक फल आते हैं। फल काफी मीठा होता है। इसमें मुख्यतः बड़े आकार के अण्डाकार फल आते हैं तथा रोपण के 7वें माह से फल आना प्रारम्भ हो जाते हैं। कुछ पेड़ों में जमीन से ही फल लगने लगते हैं। वैसे औसतन एक से डेढ़ फिट की ऊंचाई पर फल लगते हैं। इसमें नर एवं मादा का अनुपात 40 : 60 होता है। इस प्रजाति का उपयोग खाने व पपेन दोनों के लिये बड़े पैमाने पर किया जा रहा है। इसके गुण पेन-1 प्रजाति से काफी मिलते-जुलते हैं, परन्तु इसका बीज पेन-1 से काफी सस्ता है। व्यावसायिक खेती के लिये यह प्रजाति पपीते की अच्छी प्रजातियों में से एक है।

(11) **फार्म सलेक्शन-1 :** फल के रूप में खाई जाने वाली प्रजातियों में यह भी एक अच्छी प्रजाति है।

(12) **हनीड्यू :** यह प्रजाति छोटे पैमाने पर उगाई जाने वाली अच्छी प्रजातियों में से एक है।

(13) **कुर्ग हनीड्यू :** यह भी पपीते की एक लोकप्रिय प्रजाति है। इसमें नर पौधे नहीं होते हैं। इसके फलों का स्वाद अच्छा होता है तथा फल आकार में बड़े होते हैं। प्रति पेड़ औसतन 50 कि.ग्रा. तक फल लगते हैं।

(14) **पूसा नन्हा :** यह एक छोटे कद वाली प्रजाति है एवं इसके फलों का आकार भी छोटा होता है। इसमें 500 ग्राम से 700 ग्राम तक के फल आते हैं। इसको बक्सों एवं ड्रमों में भी उगाया जा सकता है। प्रतिवर्ष इसमें 15 से 20 तक फल आते हैं।

(15) **पूसा ड्वार्फ :** इसमें रोपण के सातवें माह से फल आने लगते हैं एवं काफी कम ऊंचाई से फल लगते हैं। फल मध्यम आकार के अण्डाकार होते हैं तथा फलों का वजन 1.2 से 1.5 कि.ग्रा. तक होता है। इसके फलों का स्वाद अच्छा होता है एवं प्रति पेड़ 35 से 40 कि.ग्रा. तक फलों की पैदावार मिलती है।

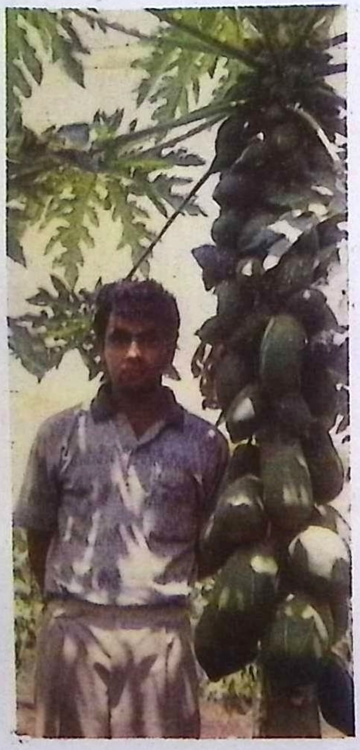

पपीते की एक उन्नत किस्म–पी.के.–12

(16) **पूसा ज्याइन्ट :** पूसा की विभिन्न प्रजातियों में से यह अधिक फल देने वाली काफी मजबूत प्रजाति है। इसका पेड़ काफी ऊंचाई तक जाता है एवं मोटा होता है। इसमें 3 फिट की ऊंचाई से फल लगने लगते हैं। इसके फलों का आकार काफी बड़ा एवं लम्बा होता है तथा इसमें ढाई से पांच किलो तक के वज़न के फल लगते हैं।

(17) **पूसा डिलेशियस :** इसमें नर पौधे नहीं पाये जाते हैं। व्यावसायिक स्तर पर यह एक लोकप्रिय प्रजाति है। इस पर फल लगभग 3 फिट की ऊंचाई से लगते हैं एवं वे 1.5 कि.ग्रा. से 2.5 कि.ग्रा. तक वजन के होते हैं। इसके फल का गूदा नारंगी रंग का होता है एवं फल मीठा होता है।

(18) **पूसा मैजिस्टी :** पपेन उत्पादन के लिये यह प्रजाति अच्छी मानी गयी है। इसमें नर पौधे नहीं पाये जाते हैं। इसमें फल 2 फिट की ऊंचाई से लगने लगते हैं। फल मध्यम आकार के गोल होते हैं तथा प्रति पेड़ 45 से 50 कि.ग्रा. तक फल लगते हैं।

(19) **ताईवानी प्रजाति :** आजकल यह प्रजाति व्यावसायिक दृष्टि से काफी लोकप्रिय होती जा रही है। ताईवान से आयातित यह प्रजाति खाने वाले पपीतों की अच्छी प्रजातियों में से एक है। इस प्रजाति में समस्त पौधे फल देने वाले होते हैं। इस प्रजाति के पपीते में प्रमुख रोगों से लड़ने की काफी क्षमता होती है। विषाणु रोग का भी इस प्रजाति पर काफी कम असर पड़ता है। रोपण के 6-7 वें

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

माह से इसमें फल आने लगते हैं जोकि डेढ़ फिट की ऊंचाई से लगने लगते हैं। फल 1.0 कि.ग्रा. से 1.50 कि.ग्रा. वजन तक के होते हैं तथा प्रति पेड़ 50 कि.ग्रा. तक फल लगते हैं। इस प्रजाति को उगाने में किसानों को अधिक मेहनत नहीं करनी पड़ती है।

उपरोक्त प्रजातियों के अतिरिक्त कई अन्य प्रजातियां भी हैं जो कि भारत वर्ष के विभिन्न अंचलों में किसानों द्वारा स्थानीय तौर पर उगाई जाती हैं। पपीते की व्यावसायिक खेती प्रारंभ करने से पहले अच्छी प्रजाति के बीजों का चयन करना अत्यंत आवश्यक होता है। **सर्वेक्षणों एवं प्रयोगों के पश्चात् अच्छे किस्म के पपीते की प्रजातियां जो कि किसानों में काफी लोकप्रिय हैं एवं व्यावसायिक रूप से काफी सफल रही हैं, वे इस प्रकार हैं—पेन-1, पी.के.-12, पी.के.-11, पूसा ड्वार्फ, पूसा ज्याइन्ट एवं ताईवानी प्रजाति।**

पपीता लगाने का उचित समय

उत्तरी एवं मध्य भारत (मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार, उड़ीसा एवं महाराष्ट्र) में पपीता बहुत अधिक ठण्ड के सीज़न को छोड़कर वर्ष भर रोपित किया जा सकता है। वैसे अधिकांशतः अप्रैल, मई व जून में बीज बोकर (नर्सरी बनाकर) मानसून आने पर पपीता खेत में लगाया जाता है। पपीते को लगाने का सबसे अच्छा समय अक्टूबर एवं नवम्बर का महीना होता है। इसके लिये अगस्त एवं सितम्बर माह में बीज बोया जाता है। फरवरी व मार्च के महीने भी पपीते के रोपण के लिये अच्छे होते हैं। इनके लिये अक्टूबर में बीज बोया जाता है। पपेन प्राप्त करने के लिए मुख्यतः अप्रैल-मई में बीज बोकर मानसून आने पर पपीता रोपित किया जाता है ताकि अगले मानसून से पर्याप्त मात्रा में दूध प्राप्त होने लगे। अक्टूबर-नवम्बर में रोपित पपीते से आगामी सितम्बर माह से फल आने लगते हैं जबकि फरवरी में रोपित पपीते से अक्टूबर माह से फल आने लगते हैं। जुलाई में रोपित पपीतों से मई माह से फल आते हैं। सामान्यतः सभी स्थितियों में मानसून आने के बाद ही अधिक मात्रा में फल आते हैं। प्रायः रोपण के आठवें माह से फल आने लगते हैं जोकि आगामी 8-10 माह तक आते रहते हैं। डेढ़ साल में (16 से 18 माह में) पपीते से काफी मात्रा में फल प्राप्त किया जा सकता है। पपीते की प्रजातियों के आधार पर (18 माह की फसल से) सामान्यतः 300 से 400 क्विंटल तक पपीता प्रति एकड़ उत्पादित होता है। कुछ प्रजातियों में यह उत्पादन 700 क्विंटल प्रति एकड़ तक पाया जाता है।

पपीते की खेती हेतु नर्सरी तैयार करना

अच्छी किस्म के पपीते की प्रजाति के बीज का चयन कर लेने के बाद रोपण करने के लगभग 2 माह पहले नर्सरी तैयार की जाती है। लगभग सभी प्रजातियों में 200 से 250 ग्राम बीज प्रति एकड़ के हिसाब से नर्सरी में बोया जाता है, जबकि उभयलिंगी पपीतों में (विशेषकर पी.के.-10 एवं ताईवानी पपीता) जिसमें नर पौधे नहीं पाये जाते हैं, 50 से 60 ग्राम बीज एक एकड़ के लिये पर्याप्त होता है।

नर्सरी तैयार करने के लिये एक भाग गोबर की खाद (लगभग 25 किलो), एक भाग पत्ती की खाद (लगभग 25 किलो), एक भाग बालू (लगभग 25 किलो) को तीन भाग मिट्टी में अच्छी तरह से मिलाकर जमीन से 5-6 इंच ऊंची क्यारी बना लेते हैं। यह क्यारी 3 फिट चौड़ी एवं 10 फिट लंबी होती है। एक क्यारी में लगभग 75 से 100 ग्राम बीज बोया जा सकता है। प्रत्येक क्यारी में 100 ग्राम बी.एच.सी. पावडर मिला देते हैं एवं क्यारी को 50 प्रतिशत फार्मलडीहाइड या फार्मलीन के घोल से धूमित कर लेते हैं। क्यारी को अच्छी तरह भुर-भुरा बना लेते हैं। बोने से पूर्व बीज को 12 घंटे तक पानी में भिगोकर रखते हैं। भीगे हुये बीज को पानी से निकालकर बोने से पहले बाविस्टिन के घोल (एक लीटर पानी में 5 ग्राम बाविस्टिन) से 10 मिनिट तक उपचारित करते हैं।

बीजों को क्यारी में लगभग एक-दो सेंटीमीटर की गहराई पर बोया जाता है। इसके लिये क्यारियों में 10-10 सेंटीमीटर की दूरी पर एक-दो सेंटीमीटर गहरी लाइन बना लेते हैं। फिर इन लाईनों में दो-तीन सेंटीमीटर की दूरी पर बीज डाल देते हैं। गोबर की खाद एवं मिट्टी के भुर भुरे मिश्रण से बीजों को ढक देना चाहिये। बुवाई के तुरंद बाद हजारे से

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हल्की सिंचाई कर देना चाहिए एवं क्यारियों को पुवाल से ढक देना चाहिए। क्यारियों में प्रतिदिन हजारे से हल्की सिंचाई करते रहना चाहिए। आठवें-नवें दिन क्यारियों से पुवाल हटा देना चाहिए। प्राय: 9वें दिन से अंकुरण प्रारम्भ हो जाता है एवं 17-18 दिन में समस्त पौधे अंकुरित हो जाते हैं। सर्दियों में अंकुरण महीने भर तक का समय ले सकता है। अंकुरण होने के तुरन्त बाद तूतिया, चूना एवं पानी का 1 : 1 : 100 (100 ग्राम तूतिया, 100 ग्राम चूना एवं 10 लीटर पानी) का घोल बनाकर मशीन से छिड़काव अवश्य करना चाहिए। 0.1% ब्लाईटोक्स (1 लीटर पानी में 1 ग्राम ब्लाइटोक्स) का छिड़काव भी किया जा सकता है।

पौध का पौलीथीन की थैलियों में स्थानांतरण

पौध जब तीन-चार इंच लम्बी हो जाये (या पौधे चार पत्ते युक्त हो जायें) तो उन्हें सावधानी पूर्वक निकालकर पौलीथीन की थैलियों में स्थानांतरित कर देना चाहिये। पौलीथीन की थैलियां 6 इंच × 4 इंच आकार की होनी चाहिएं एवं उनमें 6-7 छेद होने चाहिएं। पौलीथीन में आधा भाग गोबर की खाद एवं आधा भाग मिट्टी को अच्छी तरह मिलाकर भरना चाहिए। पौलीथीन में पौध स्थानांतरित करने के बाद हजारे से सिंचाई अवश्य करनी चाहिए। पौध लगाते समय इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि पौध की जड़ों को कोई नुकसान न पहुंचे। पौलीथीन में पौध को लम्बे समय तक रखा जा सकता है। पौध को पौलीथीन में स्थानांतरित करने के लगभग एक माह बाद खेत में रोपित किया जाता है।

खेत तैयार करना

पौध का रोपण प्राय: तीन प्रकार से किया जाता है—

(1) गड्ढे खोदकर पौध रोपण
(2) नाली खोदकर पौध रोपण
(3) सीधे ही खेत में पौध रोपण

(1) **गड्ढे खोदकर पौध रोपण**— पौध रोपण के 30 दिन पहले खेत की तैयारी प्रारंभ कर देनी चाहिए। खेत में 5 फिट × 5 फिट की दूरी पर 1.5 फिट × 1.5 फिट × 1.5 फिट के आकार के गड्ढे खोद लेने चाहिएं। गड्ढे एक लाईन में होने चाहिएं। प्रत्येक गड्ढे में 10 किलो गोबर की खाद, 10 किलो पत्ती की खाद, 50 ग्राम बी.एच.सी. पावडर एवं 100 ग्राम सुपर फास्फेट को मिट्टी के साथ अच्छी तरह मिलाकर गड्ढे को भर देना चाहिए। प्रत्येक गड्ढे को थाले बनाकर नालियों से एक-दूसरे को जोड़ देना चाहिए जिससे पानी देने में आसानी रहे। फिर प्रत्येक गड्ढे में नर्सरी से पौध लाकर प्रत्येक गड्ढे में दो पौधे लगा देने चाहियें। गड्ढे में दोनों पौधों के बीच की दूरी 20 सेंटीमीटर होनी चाहिए। पौध लगाने के पहले पौलीथीन को फाड़कर अलग कर देना चाहिए एवं मिट्टी समेत पौधे को गड्ढे में रोपित कर देना चाहिए। यदि किसान ने उभयलिंगी पपीते का बीज लगाया हो तो प्रति गड्ढा एक ही पौधा रोपित करना चाहिए। प्राय: शाम के समय पौध रोपित करनी चाहिए। यदि दिन में बादल छाये हुये हों तो दिन में भी पौध रोपण किया जा सकता है। पौध रोपण के तुरन्द बाद सिंचाई कर देनी चाहिए।

लगभग 3-4 माह बाद जब पौधों पर फूल आने लगें तो सम्पूर्ण खेत में केवल 8% नर पौधे छोड़कर शेष समस्त नर पौधे काट देने चाहिएं। नर पौधों में लम्बे टहनियों के समान झूलते हुये फूल आते हैं तथा उनमें फल नहीं लगते हैं। एक गड्ढे में केवल एक ही स्वस्थ पौधा होना चाहिए एवं पूरे खेत में केवल 8% नर पौधे रहने चाहिएं। यदि किसान ने उभयलिंगी पपीता लगाया है तो उसमें नर पौधे अपने आप ही नहीं आएंगे। अत: कोई भी पौधा काटने की आवश्यकता नहीं होती तथा उभयलिंगी पपीते की स्थिति में केवल एक पौधा प्रति गड्ढा ही लगाया जाता है।

(2) **नाली खोदकर पौध रोपण करना**— यदि खेती बड़े पैमाने पर की जा रही हो तो 1.5 फिट चौड़ी एवं 1.5 फिट गहरी नालियां कतार से कतार 5-5 फिट की दूरी पर खोद लेनी चाहिएं। फिर इन नालियों में एक फीट तक गोबर की खाद भर देनी चाहिए। फिर बी.एच.सी. पावडर या फ्यूराडान मिट्टी में छिड़ककर नाली को मिट्टी से भर देना चाहिए तथा प्रत्येक लाईन में 2-2 फिट की दूरी पर नर्सरी से पौधे लाकर लगा देने चाहिएं। 3-4 माह के बाद 8% नर पौधे छोड़कर

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शेष समस्त नर पौधे काट देने चाहिएं। यदि उभयलिंगी पपीता लगाया गया हो तो पौध को प्रत्येक नाली में 5–5 फिट की दूरी पर लगाना चाहिए। रोपण करते समय की अन्य विधियां एवं सावधानियाँ ऊपर वर्णित की जा चुकी हैं।

(3) **सीधे ही खेत में पौध रोपण**—इस विधि में प्रति एकड़ 12 से 15 ट्राली गोबर की खाद एवं 50 किलो बी.एच.सी. पावडर पूरे खेत में डालकर दो तीन बार अच्छी तरह से खेत की जुताई कर देना चाहिए। फिर 5 फिट चौड़ी क्यारियाँ बनाकर इन क्यारियों में 2–2 फिट की दूरी पर पपीते की पौध का रोपण कर देना चाहिए। तीन–चार माह बाद 8% नर पौधे छोड़कर समस्त नर पौधे काट देने चाहिएं। यदि उभयलिंगी पपीता लगाया गया हो तो पौध को 5–5 फिट की दूरी पर रोपित किया जाना चाहिए। रोपण करते समय की अन्य विधियां एवं सावधानियाँ ऊपर दी जा चुकी हैं।

सिंचाई

पपीते की खेती में अधिक मात्रा में सिंचाई करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। सर्दियों में प्रत्येक 10 दिन में एवं गर्मियों में 4 दिन में हल्की सिंचाई करते रहना चाहिए। सिंचाई खेत में थाले बनाकर करनी चाहिए। पानी कम मात्रा में एवं समय पर देना चाहिए। पपीते की जड़ों एवं तने के आसपास पानी अधिक समय तक नहीं ठहरना चाहिए नहीं तो जड़ एवं तने को गलन रोग होने की संभावना रहती है।

निराई-गुड़ाई

पपीते के बगीचे को साफ सुथरा रखना चाहिए। बगीचे से घास एवं खरपतवार निरंतर निकालते रहना चाहिए। वर्षाऋतु आने से पहले पपीते के तने पर एक फिट तक मिट्टी चढ़ा देनी चाहिए। यदि समय पर खरपतवार निकलती रहे तो फसल में काफी वृद्धि हो जाती है तथा रोगों एवं कीटों का प्रकोप भी काफी कम रहता है।

उर्वरक

पपीते की अच्छी फसल प्राप्त करने के लिये सही समय पर उर्वरकों की पर्याप्त मात्रा देनी चाहिए। रोपण के बाद प्रत्येक दो माह में प्रति पौधा 50 ग्राम यूरिया, 200 ग्राम सुपर फास्फेट एवं 100 ग्राम म्यूरेट ऑफ पोटाश देने से पपीते की अच्छी फसल प्राप्त होती है। उर्वरक तने से 1.5 फिट की दूरी पर 2–3 इंच गहरी मिट्टी खोदकर अच्छी तरह मिलाकर देनी चाहिए। खाद देने के तुरन्द बाद सिंचाई अवश्य करनी चाहिए। जिन क्षेत्रों में जस्ते की कमी हो वहां पपीता लगाने से पहले जुताई के समय 10 कि.ग्रा. प्रति एकड़ जिंक सल्फेट अवश्य देना चाहिए। नर पौधों में खाद देने की आवश्यकता नहीं होती।

पपीते के प्रमुख रोग एवं उनकी रोकथाम

(1) **तना एवं जड़ गलन रोग**—पपीते के पत्ते यदि पीले पड़ रहे हों तो यह देखना चाहिये कि कहीं वह जड़ व तना गलन रोग से ग्रसित तो नहीं है। यदि तना एवं जड़ जमीन से 3–4 इंच की गहराई पर सड़ कर गल रहे हों तो गले हुये भाग पर 0.3% (1 लीटर पानी में 3 ग्राम) ब्लाईटोक्स का घोल बनाकर कूचों से लगाना चाहिए। तूतिया, चूना व पानी का 1 : 1 : 10 (1 किलो तूतिया, 1 किलो चूना व 10 लीटर पानी) का घोल बनाकर भी लगाया जा सकता है। यह प्रक्रिया प्रत्येक 10 दिन में दो–तीन बार करने से गलन रोग दूर हो जाता है। पौध रोपण के प्रत्येक ढाई माह में ब्लाईटोक्स का 0.1% या तूतिया, चूना एवं पानी का 1:1:50 का घोल तने को भिगोकर जड़ तक डाला जाये तो इस रोग के आने की संभावनाएं बहुत कम हो जाती हैं। पौधशाला में यदि पौधे सड़कर गिरने लगें तो ब्लाईटोक्स का 0.2%, या तूतिया, चूना एवं पानी का 1:1:50 का घोल मशीन से छिड़कना चाहिए।

2. लाल कीटों का प्रकोप

यदि पपीतों पर लाल रंग वाले या अन्य कीटों का प्रकोप हो रहा हो तो नुवाक्रोन 0.1% (1 ग्राम प्रति लीटर) के घोल का छिड़काव करना चाहिए। थायोडान एवं डायथेन एम-45 का भी छिड़काव करके कीट नियंत्रण किया जा सकता है।

3. **विषाणु रोग**—इस रोग में पत्ते सिकुड़कर गोल होने लगते हैं। इस रोग से ग्रसित पौधे को उखाड़कर दूर ले जाकर जला देना चाहिए अथवा गाड़ देना चाहिए।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पपीते की खेती में रखी जाने वाली प्रमुख सावधानियाँ

(1) वर्षाऋतु से पहले तने पर 1 फिट मिट्टी अवश्य चढ़ा देनी चाहिए।

(2) जब पाला पड़ने की संभावना हो तो शाम से ही खेत में सिंचाई कर देनी चाहिए एवं समस्त खेत में धुआं करते रहना चाहिए। नर्सरी के पौधों को सींचकर टाट आदि से ढक देना चाहिए।

(3) उर्वरक को निश्चित समय पर देते रहना चाहिए एवं उर्वरक देने के तुरन्त बाद सिंचाई अवश्य करनी चाहिये।

(4) खेत साफ-सुथरा होना चाहिए एवं इसमें खरपतवार बिल्कुल नहीं होनी चाहिए।

(5) रोगों का असर दिखते ही तुरन्त दवाईयां आदि देना शुरू कर देना चाहिए।

फलों की तुड़ाई

पौध रोपण के लगभग आठवें माह से फल पकना आरम्भ हो जाते हैं। फलों के पकने से एक माह पहले से दूध निकलना भी प्रारंभ हो जाता है। अधपके पपीतों को कागज एवं पुवाल में लपेटकर टोकरियों में भरकर मण्डी तक पहुंचाते रहना चाहिए। सामान्यत: प्रति एकड़ 300 क्विंटल से 400 क्विंटल फलों उत्पादन होता है। उन्नतशील प्रजातियों में यह 700 क्विंटल तक पाया गया है।

पपीते के साथ ली जा सकने वाली अंतर्वर्तीय फसलें

पपीते की खेती की लाभप्रदता और अधिक बढ़ाने की दृष्टि से इसकी खेती के बीचों-बीच (intercropping के तौर पर) कई अन्य औषधीय फसलें भी ली जा सकती हैं। प्राय: ऐसी फसलें जिनकी अधिकतम बढ़त डेढ़ फीट तक होती हो, इसके साथ सफलतापूर्वक उगाई जा सकती हैं तथा इससे अंतत: फसल की लाभप्रदता और भी ज्यादा बढ़ सकती है। पपीते की खेती के बीचों-बीच जिन फसलों का उगाना ज्यादा लाभकारी तथा सफल रहा है, उनमें प्रमुख हैं—

- सफेद मूसली
- अकरकरहा
- अदरक
- हल्दी
- लेमनग्रास
- अश्वगंधा
- गेन्दा
- जर्मन चमेली
- मेन्था आदि।

पपीते के बीज कहां से प्राप्त करें?

प्राय: उपरोक्तानुसार वर्णित पपीते की लगभग समस्त प्रमुख प्रजातियों के बीज बाजार में उपलब्ध रहते हैं, अत: किसानों को अच्छी गुणवत्ता का बीज प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं आनी चाहिए।

पपीते के बीजों के प्रदायकर्ताओं की जानकारी हेतु किसान अपने जिले के स्थानीय उद्यानिकी विभाग अथवा मध्यप्रदेश राज्य कृषि उद्योग निगम, पंचानन भवन, न्यू मार्केट, टी.टी. नगर, भोपाल से भी सम्पर्क कर सकते हैं।

पपीते से पपेन उत्पादन

प्राय: पपीते की खेती फलों के उत्पादन के लिये की जाती है, परन्तु यदि पपीते की खेती फलों को बेचने के साथ-साथ पपेन उत्पादन के लिये भी की जाए तो यह काफी लाभप्रद पाया गया है। वैसे तो पपेन उद्योग स्थापित करने के लिए 500 एकड़ से भी अधिक क्षेत्र में पपीते की खेती करनी पड़ती है एवं इसका उद्योग 2 करोड़ रुपये में स्थापित होता है परन्तु मात्र 15 एकड़ में पपीते की खेती करके अत्यंत लघु स्तर पर (लगभग 2,50,000/- रुपये में) क्रूड पपेन निर्माण का उद्योग भी स्थापित किया जा सकता है। क्रूड पपेन का वर्तमान में काफी अच्छा बाजार है एवं इसकी बिक्री की कोई समस्या नहीं है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उत्पादन लक्ष्य

प्रस्तुत योजना में सबसे छोटे प्लांट को स्थापित करने का प्रस्ताव है। इसके लिये उद्यमी को कम से कम 15 एकड़ क्षेत्र में पपीते की खेती करनी पड़ेगी। इस 15 एकड़ क्षेत्र पर 5-5 एकड़ में तीन बार अलग-अलग मौसमों में पपीते लगाने पड़ेंगे ताकि साल भर पपीते का दूध प्राप्त होता रहे। वैसे 30-40 एकड़ के क्षेत्र में प्लांटेशन होने पर भी इस क्षमता का प्लान्ट काफी सफलतापूर्वक चल सकता है एवं उद्यमी इससे और अधिक लाभ कमा सकता है। वैसे इकाई की "वायबिलटी" के दृष्टिकोण से उद्यमी को 15 एकड़ स्वयं की खेती के अतिरिक्त 8-10 एकड़ में अन्य किसानों से पपीते की खेती करवाना चाहिए ताकि पपीते के दूध की आपूर्ति ठीक ढंग से होती रहे।

वर्ष में यह प्लान्ट लगभग 225 दिन चलेगा तथा इसके लिए प्रतिदिन 60 कि.ग्रा. पपीते का दूध आवश्यक होगा जिससे 12 किलो ग्राम पपेन उत्पादित होगा। इस प्रकार इस इकाई में प्रतिवर्ष 2,700 कि.ग्रा. पपेन उत्पादित किये जाने का लक्ष्य है जिसकी औसतन 400/- प्रति कि. ग्रा. की दर से बिक्री से 10,80,000/- रुपये की प्राप्तियाँ होने का अनुमान है (30 एकड़ के प्लान्टेशन से लगभग 21,60,000/- रुपये प्राप्त होंगे)।

(नोट : क्रूड पपेन का रेट अन्तर्राष्ट्रीय रेट पर निर्भर करता है। यह 225/- रुपये प्रति किलो से लेकर 450/- रु. प्रति किलो ग्राम तक रहता है। फिर भी औसतन 400/-रु. प्रति कि.ग्रा. का रेट मिल जाता है।)

इकाई के वित्तीय पहलू

1. **भवन** : इस इकाई में लगने वाली मशीनरी लगभग 500-600 वर्ग फिट शेड में स्थापित हो जाती है। ऐसे शेड के निर्माण पर एक लाख रुपये खर्च आना संभावित है।

2. **मशीनरी तथा उपकरण** : इस इकाई में लगने वाले प्रमुख मशीनरी तथा उपकरण हैं—ड्रायर, फ्रिज, ग्लब्स, सीव्स, छाते, बाल्टी, डिब्बे आदि। इन सब पर 80,000/- रु. खर्च होने की संभावना है।

3. **विद्युत् एवं पानी की आवश्यकता** : इकाई में लगने वाली मशीनरी के संचालन के लिए 10 हार्स पावर के विद्युत् कनेक्शन की आवश्यकता पड़ती है। इसमें पानी केवल सफाई आदि के लिये लगता है। विद्युत् एवं पानी पर इस इकाई में 10,000/- खर्च आने की संभावना है।

4. **तकनीकी जानकारी प्राप्त करने की फीस** : इस इकाई की स्थापना से पूर्व तकनीकी जानकारी (Technical know-how) प्राप्त करने की भी आवश्यकता होगी जिस पर 35,000/- रुपये का व्यय होगा।

5. **अन्य स्थायी खर्चे** : इकाई में प्रयुक्त होने वाले फर्नीचर आदि पर 5,000/- रुपये का खर्च आएगा।

6. **कार्यशील पूंजी** : इकाई के संचालन हेतु प्रतिमाह लगभग 20,000/- रुपये की कार्यशील पूंजी की आवश्यकता पड़ेगी।

इस प्रकार इस इकाई पर कुल 2,50,000/- खर्च आने की संभावना है।

7. **कच्चे माल की आवश्यकता** : इकाई में प्रतिदिन 60 कि.ग्रा. पपीते के दूध की आवश्यकता पड़ेगी जो कि उद्यमी स्वयं के खेतों से प्राप्त करेगा। इसके अतिरिक्त साल में 1,500/- रुपये के केमिकल्स की भी आवश्यकता पड़ेगी।

8. **कर्मचारी एवं मजदूर** : इस इकाई में लगने वाली मशीन को चलाने के लिये दो मशीन आपरेटरों की आवश्यकता पड़ेगी। इसके अतिरिक्त दूध निकालने के लिये 10 मजदूर वर्ष में 225 दिन लगाने पड़ेंगे।

(क) मशीन आपरेटर—2 प्रति आपरेटर 1,000/-	=	24,000/-प्रति वर्ष
(ख) मजदूर-10 मजदूर 40/- प्रति दिन (225 दिन के लिये)	=	90,000/- प्रति वर्ष
		1,14,000/- प्रति वष

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

9. अन्य उपयोगिताओं पर व्यय : बिजली, पानी, पेकिंग मेटेरियल आदि पर वर्ष में 25,000/- रुपये खर्च होना अनुमानित है।

10. इकाई की कुल परियोजना लागत

भूमि एवं भवन पर खर्च	=	1,00,000/-
मशीनरी तथा उपकरणों पर खर्च	=	80,000/-
तकनीकी जानकारी की फीस	=	35,000/-
विद्युत् एवं पानी पर व्यय	=	10,000/-
अन्य स्थायी खर्चे	=	5,000/-
कार्यशील पूंजी	=	20,000/-
कुल परियोजना लागत	=	**2,50,000/-**

11. विभिन्न खर्चे-(वार्षिक) : इकाई में वेतन, बिजली, पानी, केमिकल्स एवं अन्य खर्चों पर 1,50,000 रु की लागत आएगी।

12. इकाई से लाभ-(15 एकड़ में खेती करने पर)

वार्षिक उत्पादन	=	2700 कि.ग्रा. क्रूड पपेन
औसत बिक्री दर	=	400/- रु. प्रति कि.ग्रा.
वार्षिक प्राप्तियां	=	10,80,000/-
वार्षिक खर्च	=	1,50,000/-
वार्षिक लाभ	=	**9,30,000/-**

पपीते से दूध निकाल लेने के उपरान्त भी पपीते की गुणवत्ता पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है एवं यह बाजार में आसानी से बिक जाता है। उद्यमी पपेन उत्पादित करने के अलावा फलों को बाजार में बेचकर अतिरिक्त लाभ कमा सकते हैं। इसके अतिरिक्त इन पपीतों से टूटी-फ्रूटी भी बनाई जा सकती है। वैसे पपेन उद्योग उन क्षेत्रों में स्थापित किया जाना ज्यादा लाभकारी होता है जहां पर या तो पपीते का रेट अत्यंत कम हो अथवा उद्यमी पपीते का बाजार ढूंढने में असमर्थ हो।

पपीते की खेती से संबंधित प्रति एकड़ होने वाली आय-व्यय

(समयावधि=18 माह)

क. लागत का विवरण

1. खेत की तैयारी पर खर्च	=	2000/-
2. बीज की लागत (150 ग्राम बीज, 2000/- प्रति कि.ग्रा. की दर से)	=	3000/-
3. नर्सरी/पौध तैयार करने पर खर्चा	=	1000/-
4. खाद, कीटनाशकों आदि पर व्यय	=	8000/-
5. निराई-गुड़ाई, विरलन, पौध संरक्षण आदि पर व्यय.	=	6000/-
6. पानी आदि की व्यवस्था पर व्यय	=	5000/-
7. पैकिंग तथा ढुलाई आदि पर व्यय	=	10,000/-
8. अन्य विभिन्न खर्चे	=	5000/-
योग . .	=	**40,000/-**

ख. कुल प्राप्तियां

पपीते के फलों की बिक्री से आय—60,000 कि.ग्रा. पपीते के फलों की बिक्री 3 रु. प्रति कि.ग्रा. की दर से (1000 फल देने वाले पौधों से 60 कि.ग्रा. प्रति पौधा). = 1,80,000/-

ग. लाभ : 140000/- रु. प्रति एकड़ (18 माह की फसल से)

नोट.—

1. पपीते के फलों की उपरोक्त दरें न्यूनतम हैं।
2. विभिन्न प्रजातियों के पपीतों में एक फसल में 500 से 700 कि.ग्रा. तक फल उत्पादित होते हैं।
3. उपरोक्त गणना केवल फलों की बिक्री को ध्यान में रखकर की गई है। यदि पपीते से पपेन भी उत्पादिन किया जाए (जोकि फलों के उत्पादन के साथ-साथ भी ली जा सकती है)तो एक एकड़ से लगभग 50—60000 रु. की अतिरिक्त आय होगी।
4. पपीते की फसल के बीचों-बीच कई अन्य औषधीय अथवा नकदी फसलें जैसे—मेन्था, मूसली, अदरक आदि भी ली जा सकती हैं जिनसे अतिरिक्त आय तो होगी, परन्तु इन पर कोई अतिरिक्त व्यय नहीं होगा।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

34. आंवला बागवानी एवं उससे लाभ

आंवले को आयुर्वेद का आधार स्तम्भ कहा जाए तो शायद अतिशयोक्ति नहीं होगी। आयुर्वेदिक औषधियों के निर्माण में सर्वाधिक मात्रा में प्रयुक्त किया जाने वाला आंवला उन तीन प्रमुख फलों-हरड़-बहेड़ा-आंवला में से एक है जिन्हें मानव मात्र की अधिकांश बीमारियों के उपचार में सक्षम माना गया है। यूं तो आंवले का वृक्ष जंगली रूप में सम्पूर्ण भारत में पाया जाता है परन्तु वनों में पाये जाने वाले आंवले के फल छोटे आकार के होते हैं तथा इनमें कई बार धब्बे वगैरह भी देखने को मिलते हैं। जंगली रूप में पाए जाने वाले आंवले की इन्हीं कमियों को दूर करने के उद्देश्य से वैज्ञानिकों ने अनुसंधान द्वारा नई उन्नतिशील प्रजातियों के आंवले की प्रजातियों का विकास किया है जिससे आंवले की व्यवसायिक खेती को बढ़ावा मिला है। इन उन्नतशील प्रजातियों से प्राप्त होने वाले उत्पाद अपेक्षाकृत बड़े आकार व अच्छी गुणवत्ता के होते हैं। उत्तरप्रदेश के प्रतापगढ़ जनपद में उन्नतशील प्रजाति के आंवले की व्यवसायिक खेती काफी बड़े स्तर पर की जा रही है जो आंवले की खेती के लिये सम्पूर्ण विश्व में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। आंवले की व्यवसायिक खेती से सम्बन्धित महत्वपूर्ण जानकारियां निम्न प्रकार से हैं—

आंवले से बनाए जाने वाले प्रमुख उत्पाद— आंवले का उपयोग विभिन्न आयुर्वेदिक उत्पादों जैसे त्रिफला, च्यवनप्राश, आमलाकी-रसायन, आंवला पाक, आंवला चूर्ण आदि के निर्माण हेतु किया जाता है। इसके अतिरिक्त आंवले से विभिन्न खाद्य पदार्थ जैसे अचार, मुरब्बा, जैम, चटनी, स्क्वैश, लड्डू, बरफी, कैण्डी आदि भी बनाये जाते हैं। अनेकों सौन्दर्य प्रसाधन जैसे आंवला तेल व शैम्पू भी आंवले से निर्मित होने वाले प्रमुख उत्पाद हैं।

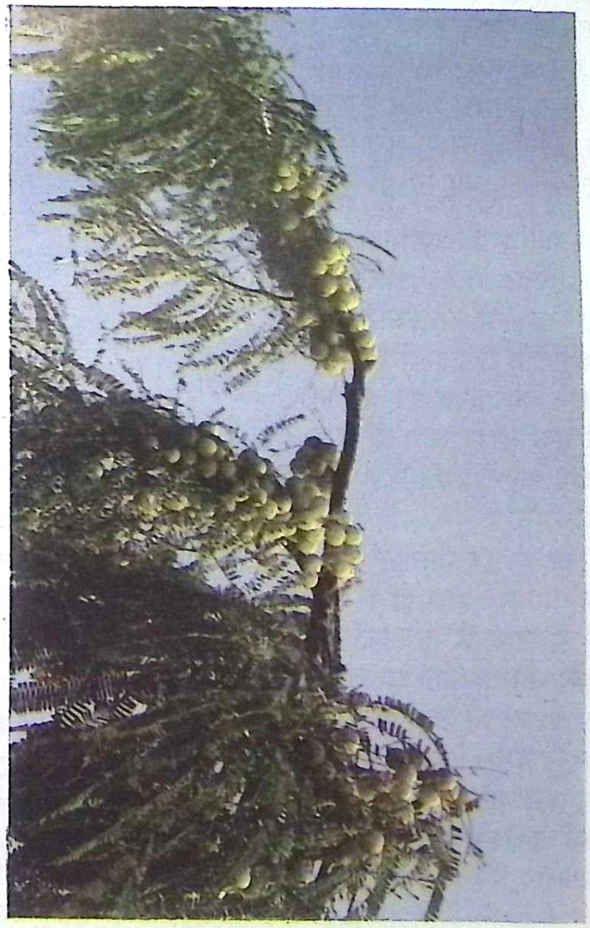

फलों से लदे उच्च कोटि के आंवलों के पेड़

आंवले की खेती हेतु कृषि तकनीक

आंवले की खेती के लिए उपयुक्त मिट्टी— आंवले की खेती ऊसर, बंजर, अनुपजाऊ व असिंचित दशा वाली जमीनों में सफलतापूर्वक की जा सकती है। सात से 9.5 के बीच का भूमि का पी.एच. मान इसकी खेती के लिए उपयुक्त होता है।

पौधों की दूरी— डेन्स पद्धति के अनुसार लगाने पर पौधे से पौधे की दूरी 15×15 फीट होनी चाहिये जबकि परम्परागत पद्धति के अनुसार जमीन की उर्वरता के अनुसार 25×25 फीट से लेकर 30×30 फीट तक की दूरी पर पौधे लगाए जा सकते हैं। एक एकड़ में लगभग 40 से 50 तक पौधे लगाए जाना उपयुक्त होता है।

गड्ढे की तैयारी— पौधा लगाने से पहले मई माह में 2.5×2.5×2.5 फीट का गड्ढा उपरोक्त दूरी के अनुसार खुदाई करके प्रत्येक गड्ढे में एक टोकरी सड़ी हुई गोबर की खाद मिट्टी के साथ मिलाकर इसमें 50 ग्राम फालीडाल पाउडर डालकर इसे फावड़े से अच्छी प्रकार मिलाकर छोड़ देना चाहिये।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आंवले की खेती हेतु पौध सामग्री

आंवले की बिजाई हेतु दोनों विधियां प्रयुक्त की जा सकती हैं—(क) सीधे बीजों की गड्डों में बिजाई तथा (ख) नर्सरी में पौध बनाकर पौधों को खेत/बगीचे में ट्रांसप्लांट करना। इनमें से नर्सरी से पौधे लेकर उन्हें पूर्वतया तैयार गड्डों में रोपित करना न केवल ज्यादा उपयोगी है बल्कि पौधों तथा उत्पादों की गुणवत्ता के दृष्टिकोण से भी लाभकारी है। विशेष रूप से उत्तरप्रदेश के प्रतापगढ़ क्षेत्र में ऐसी अनेकों नर्सरियां कार्यरत हैं जहां से आंवले की पौध ली जा सकती हैं।

लगाने का समय— आंवले के पौधे लगाने के लिए जुलाई से अक्टूबर प्रथम सप्ताह तक का समय काफी उपयुक्त है। सिंचाई की सुविधा होने पर इसे जनवरी-फरवरी में भी लगाया जा सकता है। लगाने के तुरन्त पश्चात् गड्ढे में एक बाल्टी पानी से सिंचाई कर देनी चाहिये। उसके बाद पौधे की आवश्यकतानुसार 15-20 दिन में एक बार सिंचाई करें।

आंवले की उन्नतिशील प्रजातियां— आंवले की उन्नतशील प्रजातियां हैं—चकैया, कंचन, कृष्णा, फ्रांसिस, एन.ए.-6, एन.ए.-7, एन.ए.-10, बनारसी, बी.एस.आर.-1, आनन्द-1, संसार-गोल्ड आदि। ऐसी सलाह दी जाती है कि खेत में एक उन्नतशील प्रजाति की दो लाइन आंवले लगाने के बाद दूसरी प्रजाति की एक लाइन लगा दी जाए तथा बीच में 5% पौधे देशी आंवले के भी लगा दिए जाएं तो अपेक्षाकृत उपज बढ़ जाती है।

आंवले के पौधे से फलों की प्राप्ति— आवंले के पौधे से चौथे वर्ष से फल आना शुरु हो जाता है तथा प्रतिवर्ष प्रति वृक्ष आठ से दस किलोग्राम के लगभग फल देने लगता है। फल आने का समय नवम्बर से फरवरी तक होता है। आठवें-नवें वर्ष में एक वृक्ष एक कुन्तल औसतन उत्पादन (लगभग साठ वर्ष तक) देता है। फल की मात्रा ज़मीन की उर्वरता पर भी निर्भर करती है तथा कभी-कभी तो कई वृक्ष 2.5 क्विंटल तक फल देते भी देखे गए हैं।

विपणन— बाजार में आंवले के कच्चे फल की विक्रय दर फल की साइज व चमक के आधार पर 5 रुपये प्रति किलो से लेकर 12 रुपये प्रति किलो तक देखी जाती है। इस प्रकार आंवले की फसल से चौथे वर्ष से सात हजार रुपये प्रति हेक्टेयर (परम्परागत पद्धति से लगाने पर) तथा चौदह हजार रुपये (डेन्स पद्धति से लगाने पर) की प्राप्तियों से शुरु होकर अगले आठवें-नवें वर्ष से स्थाई रूप से लगभग एक लाख रुपये वार्षिक की प्राप्तियां प्रति हेक्टेयर होनी अनुमानित हैं।

देश की प्रमुख आयुर्वेदिक दवा निर्माता कम्पनियां, खाद्य-प्रसंस्करण उद्योगों वाली कम्पनियां तथा देश की प्रमुख सब्जी मंडियां जैसे दिल्ली, कलकत्ता, मुम्बई, चेन्नई, कोयम्बटूर आदि इसके विपणन के प्रमुख क्षेत्र हैं। वैसे आंवले के बड़े फल की मांग देश भर की समस्त फल मंडियों में रहती है। आंवला फल चूंकि भारत का देशज फल है, अत: इसका निर्यात कर विदेशी मुद्रा भी अर्जित की जा सकती है।

आंवले के पौधों में लगने वाले रोग व कीड़ों का उपचार

1. सूटगाल मेकर— इस रोग के कारण आंवले के पेड़ की डालियों का अग्रस्थ भाग एक गांठ के रूप में फूल जाता है जिसमें काले रंग का कीड़ा पाया जाता है। इस रोग के उपचार के लिये अभी सही अनुसंधान नहीं हो पाया है। वैसे परम्परागत विधि में गांठ को तोड़कर जला दिया जाता है। गांठ के तोड़ने के पश्चात् पौधे की जो वृद्धि रुक गई हो वह पुन: शुरु हो जाती है। भविष्य में प्रति पेड़ पांच से दस ग्राम फोरेट दवा पौधे की जड़ों के पास गुड़ाई करके डाल देने से सभी गांठ बनाने वाले कीड़ों से छुटकारा मिल जाता है।

2. तना बेधक कीट (स्टेम बोरर)— प्राय: इस प्रकार का कीड़ा आंवले के तने को छेदकर तने का रस चूसता रहता है व पौधे की वृद्धि को प्रभावित करता है। तने में कीट लगने पर जिस जगह कीड़े ने तने में छेद किया हो उस छेद में केरोसिन तेल या पेट्रोल को ड्रापर द्वारा भरकर गीली मिट्टी से छेद को बन्द कर देना चाहिये। इससे कीड़े अपने आप समाप्त हो जायेंगे।

3. लीफ कैटर पिलर— यह पत्तियों पर रेंगने वाला बरसाती कीड़ा है। इसके उपचार हेतु डायमेक्रान 0.2% दवा स्प्रे करने से इस कीड़े से छुटकारा मिल जाता है।

4. एफिड— प्राय: इसे माहू भी कहते हैं। आंवले की पत्तियों में फरवरी-मार्च में यह रोग लगता है। इस रोग की पहचान यह है कि इसमें पत्तियों में चींटे लगने लगते हैं। इस रोग का उपचार 0.2% डायमेक्रान दवा का स्प्रे करने से किया जा सकता है।

5. अन्य कीड़े— इसके अलावा चींटे, दीमक आदि कीटों की रोकथाम हेतु फालीडाल डस्ट या फोरेट दवा का प्रति पेड़ पांच से दस ग्राम इस्तेमाल करना चाहिये।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आंवला बागवानी से सम्बन्धित अन्य महत्त्वपूर्ण बातें

1. रोपण के समय पौधे की ऊंचाई डेढ़ से तीन फिट के बीच होनी चाहिये। अधिक मोटा व बड़ा पौधा लेने से उसकी जड़ मिट्टी में देर से पकड़ने के कारण पौधे की वृद्धि काफी धीमी होती है।

2. आंवला शुष्क क्षेत्र का वृक्ष है अतः इसे गर्मी में सिंचाई करने की आवश्यकता बहुत कम होती है। खासतौर से मार्च से अप्रैल के अंतिम सप्ताह के बीच जब आंवले पर पीले रंग के फूल आते हैं उस समय इसकी सिंचाई बिल्कुल नहीं करनी चाहिये। मई-जून माह में यदि दस से पन्द्रह दिन में सिंचाई की जाए तो अच्छा परिणाम आता है।

3. आंवले का बाग लगाने के लिये गुणवत्तायुक्त प्रजाति का चयन ही करना चाहिये ताकि उपरोक्त वर्णित परिणाम प्राप्त किए जा सकें। इस सम्बन्ध में रुट स्टाक एवं क्वालिटी वाले मातृ पौधों से तैयार पौधों को ही प्रामाणिक नर्सरी से खरीदें।

4. आंवले की पत्तियों को बकरियों को छोड़कर कोई अन्य जानवर नहीं खाता।

5. बाग की फेन्सिंग—आंवले की बागवानी जिस खेत में करनी हो उसकी मेड़ों के चारों ओर तीन से साढ़े तीन फिट की दूरी पर करौंदा (अमेरिकन प्रजाति) की पौध झाड़ी के रूप में लगानी चाहिये। करौंदा तीसरे वर्ष से फल देना शुरु कर देता है तीसरे वर्ष में यह प्रति पेड़ करीब दो किलो फल देता है तथा सात-आठ वर्ष का हो जाने पर प्रति पेड़ लगभग तीस से चालीस किलो फल देता है। बाजार में इस प्रजाति के करौंदे का भाव सात से आठ रुपये प्रति किलो होता है। अतः आंवले के अलावा झाड़ी के रूप में मेड़ों पर करौंदे का पेड़ लगाने से सातवें-आठवें वर्ष में लगभग चालीस हजार रुपये प्रति हेक्टेयर का अतिरिक्त लाभ प्राप्त होगा। चूंकि वह पेड़ झाड़ी रूप में होता है अतः इसकी अधिक वृद्धि को रोककर आवश्यकतानुसार कटाई-छंटाई भी की जा सकती है। करौंदे का उपयोग चटनी, अचार, मुरब्बे, स्क्वैश आदि में किया जाता है।

6. जब तक छठे-सातवें वर्ष में आंवले का पौधा पूर्ण वृद्धि प्राप्त न कर ले तब तक इसके खेत में गेहूं, चना, मटर आदि की खेती भी की जा सकती है। इसके अतिरिक्त इसके बागों में विभिन्न जड़ी-बूटियों जैसे सफेद मूसली, ग्वारपाठा, धतूरा, सेहुड़, जिमीकन्द आदि की खेती करके जमीन के धरातल से अतिरिक्त लाभ भी लिया जा सकता है।

7. आंवले के फल में आकर्षण लाने हेतु सितम्बर से नवम्बर माह के बीच (जब पेड़ में फल लगे हों तो) 0.2% यूरिया एवं एग्रोमीन हार्मोन का घोल स्प्रे के रूप में पेड़ पर पन्द्रह-पन्द्रह दिन के अन्तर पर दो-तीन बार करें। इससे फल चमकदार तथा बड़े साइज के मिलेंगे एवं उनका बाजार मूल्य भी अच्छा मिलेगा।

8. सातवें-आठवें वर्ष में आंवले का वृक्ष जो डेन्स पद्धति से लगाया गया है (30×30 फिट की प्रमाणिक दूरी के अनुसार) दूरी को ध्यान में रखते हुये 15×15 फिट की दूरी के अनुसार लगे बीच के एक वृक्ष को काट कर निकाल देना चाहिये (क्योंकि दसवें वर्ष से आंवला पूर्ण विकास कर घेरा बना लेता है)। डेन्स पद्धति के अनुसार आधुनिक समय में वृक्षारोपण का सुझाव इस कारण से दिया जाता है कि यदि परम्परागत दूरी को अपनाया जायेगा तो दस वर्ष तक जमीन काफी खाली पड़ी रहती है। इस कमी को दूर कर डेन्स पद्धति वृक्षारोपण अपनाकर अतिरिक्त लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

9. आंवले के पेड़ के लिये पौधे का एक वर्ष पूर्ण हो जाने पर प्रति वर्ष फरवरी माह में गुड़ाई के पश्चात् जब खेत में नमी हो तो प्रति पेड़ दस किलो गोबर की सड़ी खाद, सौ ग्राम यूरिया, पचास ग्राम फास्फेट व पचहत्तर ग्राम पोटाश (एन.पी.के.) के रूप में दिया जाना चाहिये व पौधे की उम्र बढ़ने के साथ-साथ दस वर्ष तक यह मात्रा इसी अनुपात में दी जानी चाहिए। दसवें वर्ष में जो मात्रा दी जायेगी वह पौधे की लगभग साठ साल की उम्र तक स्थाई रूप से देय होगी, अर्थात् दस वर्ष से साठ वर्ष तक खाद देने का अनुपात प्रति पेड़ सौ किलोग्राम सड़ी हुई गोबर की खाद, एक किलो यूरिया, पांच सौ ग्राम फास्फेट व साढ़े सात सौ ग्राम पोटाश (एन.पी.के.) की दर से देय होगा।

आंवले की उन्नतिशील प्रजातियों के पौधों की प्राप्ति हेतु निम्नलिखित पते पर सम्पर्क किया जा सकता है— **संसार नर्सरी एण्ड गार्डेन्स, गोंडे, प्रतापगढ़ (उ.प्र.) पिन-230143.**
फोन : (05342)-21592, 20118 (पी.पी.)
फैक्स : 05342-21592, 21838.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

35. बाबची (Psoralea)

बाबची, जिसे संस्कृत में बाकुची कहते हैं तथा जिसका वैज्ञानिक नाम सोरेले क्रोयलिफोलिया (Psoralea Croylifolia) है, एक खरपतवार के रूप में खेतों, वीरानी स्थानों तथा जंगलों में काफी अधिक मात्रा में उगा हुआ देखा जा सकता है। प्राय: बरसात के मौसम में यहाँ-वहाँ दिखने वाले इस पौधे पर हल्के नीले-जामुनी रंग के फूल गुच्छों के रूप में लगते हैं जिन पर एक बीज वाली लगभग 5 एम एम लंबी फलियाँ लगती हैं।

प्रमुख औषधीय उपयोग

बाबची के अनेकों औषधीय उपयोग हैं। उदाहरणतया दांतों से संबंधित होने वाली समस्याओं तथा छेदों (Cavaties, Caries and decay of tooth) में इसकी जड़ पीस कर लगाने से दांत से संबंधित परेशानियों से राहत मिलती है। डायरिया में इसके पत्तों के प्रयोग (infusion of leaves) से डायरिया में राहत मिलती है।

विभिन्न चर्म रोगों, कुष्ठ रोग, उल्टी आना, अस्थमा, पेशाब में जलन तथा पेशाब आने में तकलीफ होना, ब्रोन्काइटिस, पाइल्स, एनीमिया आदि जैसी समस्याओं में इसके फलों का काढ़ा बना कर देने से राहत मिलती है। बालों तथा चेहरे पर कांति लाने में भी यह उपयोगी पाया गया है। यह रेचक के रूप में भी कार्य करता है तथा पेट के कीड़ों को निकालने में भी इसका उपयोग किया जाता है। ह्रदय रोग, अल्सर्स, खून से संबंधित बीमारियों, स्केबीज़ तथा सफेद दागों के उपचार में भी इसका उपयोग किया जाता है। इन दोषों में बाबची के बीजों का काढ़ा बनाकर देने से राहत मिलती है।

एलीफेन्टिआसिस (Elephantiasis) अथवा चमड़ी के फूल जाने आदि जैसे रोगों में इसके बीजों के तेल की मालिश करने से राहत मिलती है। रिंग वार्म (Ring warms) की समस्या को दूर करने में यह अत्यधिक प्रभावी पाया गया है। रिंग वार्म होने की स्थिति में बाबची के बीजों का पावडर बनाकर इसे चिरौटा बीज के पावडर के साथ मिश्रित करके नींबू ज्यूस के साथ लेने से रिंग वार्म की समस्या दूर हो जाती है।

प्रयुक्त किए जाने वाले भाग

बाबची की जड़ें, पत्ते, फल, बीज तथा तेल - सभी उपयोग में लाए जाते हैं।

बाबची का फूल एवं पत्तीयुक्त पौधा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

36. स्ट्राबेरी की खेती

स्ट्राबेरी मूलतः गुलाब परिवार का छोटी झाड़ी नुमा पौधा होता है जिसकी वर्तमान में आस्ट्रेलिया, कनाडा, अमेरिका तथा यूरोप के विभिन्न भागों में वृहद स्तर पर खेती की जा रही है। भारत वर्ष में इसकी फसल हाल ही में प्रारंभ हुई है तथा इसके प्रारंभिक परिणाम दर्शाते हैं कि देश के विभिन्न भागों में इसकी खेती काफी सफलतापूर्वक की जा सकती है, जिससे मात्र 7-8 माह की अवधि में प्रति एकड़ लगभग 5 लाख रु. तक का लाभ कमाया जा सकता है।

स्ट्राबेरी की खेती इसके फलों के लिए की जाती है। खाने में स्वादिष्ट इसके फलों में विटामिन 'सी' तथा 'बी' प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। खाने के साथ-साथ इसके फलों से जैम, ज्यूस, शीतल पेय, आईसक्रीम, शराब, क्रश, आदि भी बनाए जा सकते हैं जिससे इसकी बाजार में काफी अधिक मांग रहती है। इसके साथ-साथ प्रायः उत्तरी भारत में माह दिसम्बर से मार्च तक का समय काफी अच्छा होने के कारण इस समय स्ट्राबेरी की काफी अच्छी फसल आती है जबकि यूरोप के बाजारों में इस समय स्ट्राबेरी उपलब्ध नहीं हो पाती। इस सीज़न में यूरोप के बाजारों में स्ट्राबेरी का निर्यात करके प्रचुर लाभ कमाया जा सकता है।

स्ट्राबेरी के फूल तथा फल

स्ट्राबेरी की खेती की विधि

खेती के लिए उपयुक्त तापमान तथा जलवायु

स्ट्राबेरी की खेती ऐसे क्षेत्रों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है जहां का तापमान 10 डिग्री सेंटीग्रेड से 32 डिग्री सेंटीग्रेड तक रहता हो। प्रायः ऐसे क्षेत्र जिनमें दिन का तापमान 20 से 30 डिग्री तथा रात का तापमान 10 से 14 डिग्री के बीच रहता हो, इसकी खेती के लिए सर्वाधिक उपयुक्त होते हैं। दिन में सूर्य का साफ प्रकाश तथा वातावरण में औसतन 50 से 60% तक की आर्द्रता इसकी खेती के लिए आदर्श परिस्थितियां प्रस्तुत करती है। वातावरण से संबंधित परिस्थितियां उपरोक्तानुसार अनुकूल न होने पर ''ग्रीन हाऊस'' अथवा ''पौलीहाऊस'' व्यवस्था भी की जा सकती है अथवा सिंचाई की कोई ऐसी व्यवस्था भी की जा सकती है जो अपेक्षाकृत सस्ती हो।

खेती के लिए उपयुक्त भूमि

स्ट्राबेरी की खेती के लिए सर्वाधिक उपयुक्त होती है-काली दोमट मिट्टी। ऐसी भूमि जिसमें किसी प्रकार के कैल्शियम अथवा सोडियम लवण न हों, जिसका पी.एच. मान 5.5 से 7.5 (न्यूटरल से थोड़ा एसिडिक) तक हो तथा जिसमें जल निकास की उपयुक्त व्यवस्था हो, इसकी खेती के लिए उपयुक्त होती है।

भूमि की तैयारी

स्ट्राबेरी की खेती के लिए नर्म तथा भुरभुरी मिट्टी की आवश्यकता होती है, अतः भूमि की तैयारी के लिए यह आवश्यक है कि भूमि की ट्रेक्टर से (कल्टीवेटर तथा डिस्कस का उपयोग करते हुए) 18से 24 इंच तक गहरी जुताई की जाए। खेत की जुताई क्रिस-क्रास विधि से की जानी चाहिए तथा यदि खेत में कोई कंकर-पत्थर आदि हों तो उन्हें चुन कर बाहर निकाल देना चाहिए।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

फसल के लिए खाद की आवश्यकता

फसल की बिजाई करने से पूर्व खेत में प्रति एकड़ 2 से 5 ट्राली गोबर की खाद (F.Y.M.), 50 कि.ग्रा. डी.ए.पी. तथा 75 कि.ग्रा. म्यूरेट ऑफ पोटाश डाले जाने की अनुशंसा की जाती है। भूमि को दीमक तथा कीट पतंगों से मुक्त रखने के लिए उसमें प्रति एकड़ 5 कि.ग्रा. बी.एच.सी. तथा 5 कि.ग्रा. थिमेट प्रति एकड़ डाला जाना उपयुक्त रहता है।

फसल के लिए बैड्स की तैयारी

स्ट्राबेरी की अच्छी फसल के लिए आवश्यक है कि भूमि में जल निकास की सही व्यवस्था हो। अत: इसके लिए 'रेज़्ड बैड्स' बनाए जाना उपयुक्त रहता है। इस कार्य हेतु एक बैड से दूसरे बैड का अंतर 20 से 30 से.मी. रखा जाना उपयुक्त रहता है तथा बैड्स जमीन से प्राय: 25 से 30 से.मी. ऊंचे बनाए जाने चाहिएं। बैड्स में पौधे से पौधे की दूरी 20से 25 से.मी. तथा कतार से कतार की दूरी 30 से.मी. रखा जाना उपयुक्त रहता है। इज़रायली पद्धति से की जाने वाली बिजाई में प्रति बैड पौधों की चार कतारें लगाई जाती हैं तथा इस पद्धति में प्रति एकड़ 34,000 पौधे लगाए जाते हैं जबकि कैलिफोर्निया पद्धति से प्रति एकड़ 24,000 पौधे लगाए जा सकते हैं (वैसे कई परामर्शदाता प्रति एकड़ 40,000 तक पौधे लगाने की अनुशंसा भी करते हैं)।

पानी तथा सिंचाई की आवश्यकता

स्ट्राबेरी की अच्छी खेती के लिए पर्याप्त तथा अच्छी गुणवत्ता के पानी की आवश्यकता होती है। इसके लिए उपयुक्त पानी का पी.एच. मान 6.5 से 7.5 तक तथा इसकी इलैक्ट्रिकल कन्डक्टिविटी 1 (एक) से कम होनी चाहिए। पौधों की बढ़त के समय स्प्रिंकलर्स का उपयोग तथा जब इनमें फूल तथा फल आ रहे हों तो ''ड्रिप इरीगेशन'' विधि का उपयोग किया जाना उपयुक्त होता है। ट्यूबवैल अथवा सीधे (फ्लड) सिंचाई करने की अपेक्षा ड्रिप इरीगेशन अथवा स्प्रिंकलर सिस्टम के अनेकों लाभ हैं, जैसे—

— इससे पौधों को नपी-तुली तथा उपयुक्त मात्रा में पानी मिलता है.
— इससे पानी की पर्याप्त बचत होती है.
— इससे स्ट्राबेरी के उत्पादन में 20 से 25% तक की बढ़ोत्तरी होती है.
— इस विधि से सिंचाई करने से स्ट्राबेरी के फलों के साइज़ में 5 से 10% तक की वृद्धि होते देखी गई है.
— इससे फलों के ''फ्लेवर'' तथा पुष्ठता (Firmness) में भी वृद्धि होती है.
— इससे लेबर का खर्चा भी कम होता है.
— फलों के निर्यात की संभावना भी बढ़ जाती है.

यद्यपि सिंचाई की आवश्यकता भूमि के प्रकार, खेत में छाया की उपलब्ध्यता तथा भूमि की जलग्रहण क्षमता आदि जैसे अनेकों कारकों पर निर्भर करती है, परन्तु गर्मियों में प्राय: प्रत्येक चौथे दिन तथा सर्दियों में 7 से 10 दिनों के अंतराल पर सिंचाई करने की आवश्यकता होती है।

पौधे लगाने (पौधों की बिजाई) का उपयुक्त समय

स्ट्राबेरी के पौधे अगस्त से अक्टूबर माह तक लगाए जा सकते हैं। परीक्षणों में अगस्त में लगाए गए पौधों के परिणाम सर्वोत्तम पाए गए हैं।

पौधे लगाने की विधि

स्ट्राबेरी के पौधे लगाते समय मुख्यतया निम्नलिखित पहलुओं पर ध्यान दिया जाना आवश्यक होगा—

— लगाने हेतु पौधों में से केवल वही पौधे चुनें जो सेहतमन्द हों, जिनकी जड़ें पूर्णतया विकसित हों तथा जिनकी सभी जड़ें सही सलामत हों।
— पौधे लगाने का कार्य प्रात: काल तथा शाम के समय करना चाहिए, दोपहर के समय नहीं।
— पौधों की जड़ें भूमि में सीधी खड़ी होनी चाहिएं। ये न तो मुड़नी चाहिएं तथा न ही मिट्टी के बाहर रहनी चाहिएं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

- पौधों को 'रेज़्ड बेड' पर लगाना चाहिए एवं पौधे से पौधे की दूरी 20 से 25 से.मी. तथा लाइन से लाइन की दूरी 30 से.मी. रखी जाना उपयुक्त होगा।
- पौधों की बिजाई के उपरान्त हल्की सिंचाई कर दी जानी चाहिए।
- भूमि में पर्याप्त नमी तब तक 'मेन्टेन' की जाना आवश्यक होगी जब तक पौधों में नए पत्ते आना शुरु नहीं हो जाते।
- प्राय: 10 से 15% तक पौधे मर जाते हैं। इस मृत्यु दर को सही देखभाल से कम किया जा सकता है।

निराई-गुड़ाई

यद्यपि निराई-गुड़ाई का कार्य हाथ से ही किया जाना सर्वाधिक उपयुक्त होगा, परन्तु खरपतवार के नियंत्रण हेतु कुछ घासनाशक (वींडीसाइड्स) जैसे ग्लाईफोसेट, अट्राजिन, लेनासाइल, 2-4 डी, दिक्वात आदि भी प्रयुक्त किए जा सकते हैं।

खाद का प्रयोग तथा प्रयोग की विधि

स्ट्राबेरी की खेती में खाद के प्रयोग की विधि तथा खाद की मात्रा प्रयुक्त की जाने वाली सिंचाई की विधि पर निर्भर करेगी, जोकि निम्नानुसार हो सकती है—

(क) फ्लो/फ्लड सिंचाई विधि के संदर्भ में

जहां फ्लो/फ्लड सिंचाई विधि का उपयोग किया जा रहा हो उन खेतों में 5 ग्राम यूरिया प्रति पौधा (रिंग विधि से) ऐसे दिया जाना चाहिए कि खाद पौधे से 2-3 इंच दूर रहे। यह खाद पौधों की बिजाई के 21 दिन के बाद दी जानी चाहिए तथा 21-21 दिन के अंतराल से दो बार पुन: खाद दी जा सकती है। इस प्रकार फसल को खाद के कुल 3 'डोज़' दिए जाना पर्याप्त होगा। खाद देते समय यह ध्यान रखा जाना आवश्यक होगा कि पौधों की जड़ें खाद से सीधे सम्पर्क में न आऐं। खाद की प्रत्येक डोज़ के बाद सिंचाई की जाना आवश्यक है। पौधों की अच्छी बढ़त के लिए आवश्यक अन्य माईक्रो न्यूट्रेन्ट भी बिजाई के एक माह के उपरान्त दिए जा सकते हैं। माईक्रो न्यूट्रेन्ट्स की मात्रा का निर्धारण मिट्टी की जांच के उपरान्त किया जाएगा।

(ख) ड्रिप इरीगेशन के संदर्भ में

जिन खेतों में ड्रिप इरीगेशन की व्यवस्था हो उनमें प्रति एकड़ प्रति सप्ताह 12.5 कि.ग्रा. यूरिया अथवा 20 कि.ग्रा. अमोनियम सल्फेट डाला जाना उपयुक्त होगा। यह खाद बिजाई के 15 दिनों के उपरान्त देना आरंभ किया जाना चाहिए तथा 2 माह तक देते रहना चाहिए। इस विधि से दी जाने वाली खाद ड्रिप/टैंक सिस्टम के माध्यम से ही दी जानी चाहिए।

मल्चिंग की विधि तथा आवश्यकता

(क) फ्लो/फ्लड सिंचाई के संदर्भ में

स्ट्राबेरी की अच्छी फसल के लिए मल्चिंग बहुत अवश्य है। यह मल्चिंग तब की जानी चाहिए जब स्ट्राबेरी के लगभग 50% पौधों में फूल आने लगें। मल्चिंग हो जाने से एक तो भूमि की नमी बनी रहती है दूसरे फल सड़ने से बच जाते हैं। यह मल्चिंग घास से, भूसे से अथवा प्लास्टिक से की जा सकती है।

(ख) ड्रिप इरीगेशन की दशा में

सिंचाई की ड्रिप इरीगेशन विधि अपनाने की दशा में प्लास्टिक शीट से मल्चिंग की जानी चाहिए। इस संदर्भ में काली मोटी प्लास्टिक शीट का उपयोग किया जाना चाहिए। फल तोड़ लेने के उपरान्त मल्चिंग हटा ली जानी चाहिए।

फलों की तुड़ाई

जब स्ट्राबेरी के फल 95% लाल हो जाएं तो उनकी तुड़ाई कर ली जानी चाहिए। वैसे यदि फलों की बिक्री किसी दूर के बाजार में करनी हो, अर्थात् यदि फलों की तुड़ाई तथा उनकी बिक्री में ज्यादा समय लगने की संभावना हो तो फलों की तुड़ाई इससे पहले भी की जा सकती है।

फलों की तुड़ाई के उपरान्त की व्यवस्था तथा पैकिंग

स्ट्राबेरी शीघ्रता से नष्ट होने वाला (highly perishable) तथा अत्यधिक नाजुक फल है। अत: इनकी ग्रैडिंग तथा पैकिंग सावधानीपूर्वक की जानी चाहिए तथा इनकी हैंडलिंग में भी पूरी सावधानी बरती जानी चाहिए।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पैंकिंग हेतु प्लास्टिक के बॉक्सेज का उपयोग किया जाना चाहिए जिसमें प्रत्येक बॉक्स में 250 ग्राम स्ट्राबेरी पैक की जा सके। इन प्लास्टिक बॉक्सेज को पुनः ऐसे कारुगेटेड क्रेट्स में पैक करना चाहिए जिससे एक क्रेट में 8 बॉक्स पैक हो सकें। यदि फलों की प्री-कूलिंग की जा सके तथा रैफ्रीजरेटेड वैन उपलब्ध हो तो तुड़ाई के उपरान्त स्ट्राबेरी के फलों को अपेक्षाकृत और ज्यादा देर तक सुरक्षित रखा जा सकता है।

स्ट्राबेरी की फसल को होने वाले प्रमुख नुकसान/बीमारियां

स्ट्राबेरी की फसल को होने वाली प्रमुख बीमारियां हैं-क्राउन रॉट, पावडरी मिल्डयू, ग्रेमोल्ड, रेड स्टेल आदि। इनके साथ-साथ रूट रॉट जैसे इन्फैक्शन्स भी पौधों को हो सकते हैं। इन बीमारियों से बचाव के लिए बावस्टीन तथा एम-45 के स्प्रे की अनुशंसा की जाती है। पशुओं तथा पक्षियों से भी स्ट्राबेरी की फसल को नुकसान हो सकता है अतः इनसे भी फसल की सुरक्षा की जाना आवश्यक है।

स्ट्राबेरी की खेती पर होने वाले आय-व्यय का विवरण

(प्रति एकड़ के आधार पर)

(क) प्रति एकड़ व्यय

1. पौधों (प्लांटिंग मेटेरियल) की लागत= 45,000/-
   (30000 पौधे 1.5 रु. प्रति पौधे की दर से)
2. खाद तथा कीटनाशकों आदि पर व्यय= 3,000/-
3. भूमि की तैयारी पर व्यय = 1,000/-
4. बैड्स आदि बनाने तथा मजदूरी आदि पर व्यय। = 7,000/-
5. फसल सुरक्षा/देखभाल आदि पर व्यय= 20,000/-
6. ड्रिप पाईप्स की स्थापना पर व्यय = 50,000/-
7. फलों की पैकिंग तथा ट्रांसपोर्टेशन पर व्यय. = 75,000/-

कुल व्यय= 2,00,000/-

(ख) फसल से प्राप्त होने वाली कुल आय

1. कुल उत्पादन =7500 कि.ग्रा.
   (25000 पौधों से 300 ग्राम प्रति पौधे की दर से कुल फलों की प्राप्ति)
2. बिक्री दर = 60 रु. प्रति कि.ग्रा.
3. कुल प्राप्तियां = 4,50,000/-
4. **कुल लाभ (450000—200000) =2,50,000/-**

उपरोक्तानुसार देखा जा सकता है कि स्ट्राबेरी की फसल काफी लाभकारी फसल है। परन्तु यह भी ध्यान दिया जाना आवश्यक है कि यह अत्यधिक नाजुक फसल है तथा एक ओर जहां इसे पशु पक्षियों द्वारा काफी नुकसान पहुंचाया जाता है वहीं पक जाने के उपरान्त इसकी शीघ्रातिशीघ्र तुड़ाई तथा बिक्री की जाना अत्यावश्यक होती है अन्यथा लाभ के स्थान पर हानि भी हो सकती है। अतः अत्यधिक लाभकारी फसल होने के बावजूद इसकी खेती करने का निर्णय लेने से पूर्व उन समस्त पहलुओं पर विचार करना भी आवश्यक है जो इस फसल की सफलता के रास्ते में बाधक हो सकते हैं।

स्ट्राबेरी की खेती हेतु पौधों/प्लांटिंग मेटेरियल का प्राप्ति स्थल

स्ट्राबेरी की फसल हेतु पौधे/प्लांटिंग मेटेरियल प्राप्त करने हेतु, इनकी खेती हेतु मार्गदर्शन प्राप्त करने हेतु तथा इनके विपणन/निर्यात हेतु मार्गदर्शन प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति निम्नलिखित पतों पर सम्पर्क कर सकते हैं—

- **मे. शिवॉन एग्रोटेक**
  (मारकण्डे एक्सपोर्ट डिविज़न)
  सी-210, मधुवन, दिल्ली-110092.
  फोन-(011) 2053478/2053479.
  फैक्स-(011) 2222209/2231830.

- **एग्रोफाइन्स**
  12/33, ओल्ड राजेन्द्र नगर,
  नई दिल्ली. फोन-5715670.

नोट :—किन्हीं परामर्शदाताओं द्वारा स्ट्राबेरी की फसल से होने वाले लाभ की मात्रा को अत्यधिक बढ़ा-चढ़ा कर बताया जाता है। किसानों/स्ट्राबेरी का उत्पादन करने के इच्छुक व्यक्तियों के यह हित में होगा कि सर्वप्रथम वे उन क्षेत्रों का भ्रमण अवश्य करें जहां इसकी खेती हो रही है। इसके अतिरिक्त वे यह भी सुनिश्चित कर लें कि क्या उनके क्षेत्र की जलवायु तथा मिट्टी इसकी खेती के लिए उपयुक्त होगी अथवा नहीं। इन सभी पहलुओं पर विचार करने के उपरान्त ही उन्हें ''स्ट्राबेरी की खेती जैसे लाभकारी किन्तु नाजुक पौधे'' जैसी फसल की खेती के क्षेत्र में पदार्पण करना चाहिए।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

37. मेंहदी (Lawsonia inermis linn) की व्यवसायिक खेती

मेंहदी भारतवर्ष में ही नहीं अपितु पूरे विश्व में आदिकाल से उपयोग में लाई जाती रही है। यूं तो यह पौधा मूल रूप से ईरान का है परन्तु अब मिश्र, अफ्रीका, अरब तथा भारत में इसकी काफी बड़े स्तर पर खेती की जा रही है। भारतवर्ष में हर धर्म के लोग इसको हाथों-पैरों पर अनादिकाल से श्रृंगार के रूप में लगाते आ रहे हैं। बालों को रंगने में भी इसका बहुतायत में उपयोग हो रहा है। मेंहदी के पुष्पों से इत्र भी प्राप्त किया जाता है जिसे "हिना" कहते हैं। आज "हिना" विश्व के अत्यधिक मंहगे इत्रों में से एक है। मेंहदी के पत्तों, छाल, फल और बीजों का उपयोग विभिन्न औषधियों के निर्माण में भी किया जाता है।

पाश्चात्य देशों में जहां विभिन्न जड़ी-बूटियों पर नवीनतम शोधकार्य तीव्र गति से चल रहा है वहां भी नवीनतम शोध कार्यों से यह ज्ञात हुआ कि शरीर के विभिन्न अंगों पर मेंहदी का लेप करने से रक्त का तापक्रम नियंत्रित किया जा सकता है। इन उपयोगों की जानकारी प्राप्त होने से अब विकसित देशों के लोगों का रुझान भी मेंहदी के प्रयोग की तरफ बढ़ा है। यही कारण है कि इसके निर्यात में भारी वृद्धि हो रही है। यूनानी मतानुसार मेंहदी शीत और उष्ण इन दोनों वीर्यों का यौगिक है। इनमें उष्ण वीर्य प्रधान है परन्तु शीत वीर्य की शक्ति बहुत शीघ्र प्रकट होती है इसलिए इसकी प्रकृति दूसरे दर्जे की शीत एवं रुक्ष वर्ण की जाती है।

आयुर्वेद के पुराने ग्रन्थों में मेंहदी को "नखरंजनी" एवं "मदयन्तिका" की संज्ञा दी गई है। अथर्ववेद में इसे मदावति के नाम से पुकारा गया है। औषधीय रूपों में मेंहदी कफ-पित्त नाशक, शोथहर तथा व्रणशोधक होती है। इसके पुष्प निद्राजनक, शोथहर और ज्वरघ्न होते हैं। इसके बीज स्तम्भक, अतिसार एवं प्रवाहिका में उपयोगी होते हैं। मेंहदी के पत्तों एवं फूलों से तैयार किया जाने वाला धनसत्व कुष्ट रोग में उपयोगी होता है। इसके पत्रों को स्वरस कामला में उपयोगी

मेंहदी की सुकोमल कोंपलें

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

माना जाता है। सिरदर्द, पीलिया और कुष्ट रोग में भी मेंहदी का उपयोग काफी बढ़ रहा है। जली हुई चमड़ी पर शीतलता पहुंचने में भी मेंहदी उपयोगी पाई गई है।

आधुनिक चिकित्सा पद्धति के शोधकार्य से इसमें निम्न तत्व पाये गये हैं, जो धुलनशील होते हैं - लासोन (Lawsone), 2-हाईड्रोक्सी (2-hydroxy), 1-4 नाप्थाक्विनोन (1-4 napthaquinone, रेज़ीन (resin), टैनिन (Tannin), गैलिक एसिड़ (gallic acid), ग्लूकोज (glucose), मैनीताल (manital), वसा (Fat), म्यूसीलेज़ (mucilage) तथा क्विनोन (quinone)।

मेंहदी के पौधे झाड़ीदार रूप में मिलते हैं। इसकी शाखाएं कंटमय नुकीली होती हैं। पर्ण-अभिमुख क्रम में, लम्बे, सनायपत्र सदृश, आधार एवं अग्र की ओर कम चौड़ी कुठिताग्र, चर्मिल एवं सरल धार वाले होते हैं। स्त्रियां इसकी पत्तियां पीसकर हाथ-पांव में लाल रंग रंगने के काम में उपयोग करती हैं। इसके पुष्प हरिताभ श्वेत, गुच्छों में सुगंधित शाखाग्र खिलते हैं तथा फल गोल एवं कई बीजों वाले होते हैं। मेंहदी के पौधे सम्पूर्ण भारत में पाये जाते हैं। कई जगह इनको खेतों एवं बगीचों की बाउन्ड्री पर भी लगाया जाता है तथा फेन्सिंग हेतु भी प्रयुक्त किया जाता है। इसके फूलों की अत्यधिक मीठी सुगंध मन को अत्यंत भाती है।

वर्तमान में यूं तो मेंहदी की व्यवसायिक खेती राजस्थान, गुजरात व पंजाब में की जाती है लेकिन इस समय गुजरात व पंजाब में इसकी खेती नहीं के बराबर रह गई है जबकि पश्चिमी राजस्थान के पाली जिले की "सोजत" तहसील में इसकी व्यवसायिक खेती बड़े पैमाने पर (लगभग 70,000 हेक्टेयर से ज्यादा क्षेत्रफल में) की जा रही है तथा मेंहदी उत्पादन एवं व्यापार के मामले में सोजत पूरे विश्व की प्रमुख मण्डी बन गई है। वर्तमान में सोजत के औद्योगिक क्षेत्र में मेंहदी का पावडर बनाने वाले तथा सफाई करने वाले लगभग 50 से अधिक कारखाने लगे हुए हैं। ये निर्माता पूरे विश्व में अपना माल तो बेचते ही हैं, साथ ही भारत के गांव-गांव में मेंहदी की आपूर्ति भी करते हैं। इस समय 100 से अधिक ब्राण्ड नामों से मेंहदी बिक रही है। मेंहदी उत्पादक किसानों की सुविधा के लिए सोजत में कृषि उपज मंडी की व्यवस्था भी की गई है जहां प्रतिदिन होने वाली नीलाम बोली में किसान अपना माल बेच सकते हैं। मेंहदी को विक्रय कर से मुक्त रखा गया है। पाली जिले के साथ-साथ इसकी व्यवसायिक खेती का क्षेत्रफल राजस्थान के नागौर व जोधपुर जिलों में भी बढ़ रहा है। काफी विस्तृत बाजार होने के कारण मेंहदी की खेती व्यवसायिक रुप से काफी लाभकारी है तथा पंजाब, हरयाणा, राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश एवं गुजरात आदि राज्यों की जलवायु इसकी खेती के लिए काफी उपयुक्त है।

मेंहदी की कृषि तकनीक

1. उपयुक्त भूमि

मेंहदी की खेती सभी प्रकार की भूमियों तथा मृदाओं - कंकरीली, पथरीली, हल्की, भारी एवं दूसरी प्रकार की कृषि के लिए अनुपयुक्त भूमियों में संभव है। हां, अत्याधिक जल भराव वाली, क्षारीय एवं लवणीय भूमि इसके लिए उपयुक्त नहीं है।

2. खेत की तैयारी

मेंहदी की फसल एक बार लगाने के बाद कई साल तक (लगभग 100 साल तक) चलती है। अत: जहां मेंहदी लगानी हो, उस खेत को गर्मी में गहरी जुताई करके छोड़ दें, ताकि हानिकारक कीटाणु नष्ट हो जाएं। दीमक आदि रोगों से बचाने के लिए खेत में नीम की खली का पावडर प्रति एकड़ 20-30 किलोग्राम प्रति एकड़ की दर से अवश्य डालें। मानसून की प्रथम वर्षा होने पर खेत में 2-3 जुताइयां और करें तथा फिर पाटा लगाकर खेत को छोड़ दें।

3. बिजाई की विधि

मेंहदी की बिजाई इसके बीजों से की जाती है जिसके लिए सर्वप्रथम उसकी नर्सरी बनाना आवश्यक होता है। नर्सरी निम्नानुसार बनाई जाती है-

नर्सरी बनाना: मेंहदी का बीज राई के समान बारीक होता है अत: मार्च-अप्रैल के महीने में छायादार जगह पर (जहां सिंचाई के लिए जल की व्यवस्था हा), ऊपर उठे हुए बैड बनाकर मेंहदी के बीजों को छिड़क दिया जाता है। एक एकड़ में मेंहदी लगाने के लिए दो किलोग्राम बीज की नर्सरी तैयार करनी चाहिए। बैड में बीज छिड़ककर हल्की सिंचाई की जाती है व 15-20 दिन तक बैड को ऊपर से सूखने नहीं दिया जाता क्योंकि यदि बैड सूख जाएगा तो अंकुरण नहीं होगा। 10-20 दिन में मेंहदी का लगभग सारा बीज उग जाता है जिसकी नियमित सिंचाई करते रहना चाहिए। नर्सरी में खरपतवार भी उगती है अत: खरपतवार निकालना भी आवश्यक है क्योंकि खरपतवार नहीं निकालने पर मेंहदी के पौधे नष्ट हो सकते हैं। नर्सरी काल में पौधों को स्वस्थ रखने के लिए हर 15-20 दिन बाद नीम की पत्ती का घोल छिड़कना चाहिए। जून-जुलाई में एक दो बार गौ-मूत्र का छिड़काव करना भी लाभकारी होता है।

4. पौध रोपण

अगस्त माह तक नर्सरी में पौध 40-45 सेंटीमीटर तक बड़ी हो जाती है, तदनुसार इसकी रोपाई खेतों में की जाती है। रोपाई करने के पहले खेत में 45 सेंटीमीटर की दूरी पर हल द्वारा सीधी लाइनें बना दें। इस प्रकार लाइन से लाइन की दूरी 45 सेंटीमीटर रखें। रोपाई करते समय नर्सरी से पौधों को उखाड़कर टोकरी में भरकर लाएँ और इस टोकरी के ऊपर गीला बारदाना ढक कर रखें। ध्यान रहे कि उतनी ही पौध उखाड़ें जितनी पौध आप 2-3 घण्टे में लगा सकें। पौधे लगाते समय पौधे से पौधे की दूरी 30 सेंटीमीटर रखनी चाहिए। पौधे लगाते समय खुरपी से 15 सेंटीमीटर गहरा गड्ढा करके 2-3 पौधे एक साथ

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लगाकर अंगुलियों से अच्छी तरह से दबा दें ताकि जड़ के पास खोखला स्थान न रहे।

फसल को खेत में रोपण करते समय मिट्टी अच्छी गीली होनी चाहिए। यदि रोपाई के समय हल्की-हल्की बारिश हो तो यह फसल के लिए अत्यंत लाभदायी होती है। रोपाई के बाद अतिरिक्त सिंचाई देने की आवश्यकता नहीं होती है। कड़ी धूप के समय रोपाई का कार्य नहीं करना चाहिए।

5. निराई -गुड़ाई

फसल रोपाई के बाद पौधों में नए पत्ते आना शुरु हो जाते हैं। रोपाई के एक माह बाद खेत में निराई करना आवश्यक होता है ताकि खरपतवार से खेत को मुक्त रखा जा सके। यदि आवश्यक हो तो अक्तूबर में कुलपा भी चलाया जा सकता है। वैसे प्रतिवर्ष खेत में 1-2 बार कुलपा चलाना आवश्यक होता है।

6. खाद व सिंचाई

मेंहदी की जड़ें काफी गहरी जाती हैं अत: इसको किसी प्रकार की खाद या सिंचाई की आवश्यकता नहीं रहती है। सिंचाई करने पर मेंहदी के पत्तों में रंजक तत्वों की भी कमी आती है, अत: इसकी गुणवत्ता क्षीण हो जाती है। इसलिए मेंहदी की खेती में सिंचाई नहीं करनी चाहिए। यह पूर्णत: असिंचित फसल ही लाभदायक रहती है। इसमें किसी प्रकार के खाद का उपयोग करने की भी आवश्यकता नहीं होती है।

7. कटाई

बिजाई के प्रथम वर्ष में आगामी मार्च-अप्रेल माह में इसकी प्रथम कटाई तेज धारदार हंसिये से जमीन से दो - तीन इंच ऊंपर से करें। पहली कटाई में क्योंकि पौधों की ऊंचाई कम होती है, अत: विशेष उत्पादन नहीं मिल पाता है जिससे किसानों को पहले वर्ष ज्यादा आमदनी नहीं हो पाती है। फिर भी कटाई करना अत्यंत आवश्यक है। अगले वर्षो में प्रत्येक वर्ष दो कटाइयां की जानी चाहिएं जिनमें से प्रथम कटाई अक्तूबर-नवम्बर तथा दूसरी कटाई मार्च माह में करनी चाहिए। मेंहदी की कटाई करके छोटी-छोटी ढेरियों में इसे सुखावें। ढेरियां सुखाते समय ध्यान रहे कि वे ज्यादा दिनों तक खेत में न पड़ी रहें। पूर्णत: सूख जाने पर इन ढेरियों को इकट्ठा कर लिया जाता है। इकट्ठा करते समय ढेरियों में नमी नहीं रहनी चाहिए। तदुपरांत इन छोटी ढेरियों की एक बड़ी ढेरी बनाकर 4-5 दिन तक इसे और सूखने दें लेकिन ध्यान रहे कि पत्तों का रंग न उड़ने पाए। पूर्णत: सूख जाने के बाद मेंहदी के पत्तों को झाड़ लेवें और डंठल अलग कर लेवें। पत्ते झाड़ते समय तिरपाल बिछा देवें ताकि पत्तों में मिट्टी, कंकड़ न आ सकें। साफ किए हुए पत्तों को बोरों में भरकर बिक्री के लिए भेजा जा सकता है।

8. उत्पादन

मेंहदी की खेती से प्रतिवर्ष प्रति एकड़ 600 से 800 किलोग्राम पत्तों का उत्पादन होता है। वर्तमान समय में इसका भाव 18 से 22/- रुपये प्रति किलोग्राम है।

9. मेंहदी की खेती के संदर्भ में रखी जाने वाली प्रमुख सावधानियां

मेंहदी की खेती के संदर्भ में निम्नलिखित सावधनियां रखी जाना आवश्यक हैं -

- अच्छी गुणवत्ता एवं अधिक उत्पादन के लिए मेंहदी की "रजनी" वैरायटी अधिक उत्तम है।
- नर्सरी के समय एवं खड़ी फसल में भी खरपतवार का नियंत्रण आवश्यक है।
- खड़ी फसल में वर्ष में दो बार कुलपा अवश्य चलायें।
- ज्यादा उत्पादन लेने के लिए खेत को छोटे-छोटे ब्लॉक्स में विभाजित कर हल्की मेड़बंदी अवश्य करें ताकि खेतों में नमी अधिक समय तक बरकरार रहे।
- फसल को निश्चित अवधि में अवश्य काट लेना चाहिए। नियमित कटाई न होने पर पत्तों की गुणवत्ता तो नष्ट होती ही है, साथ ही पत्ते झड़ भी जाते हैं और मेंहदी का तना भी अत्यधिक मोटा होने के कारण आगे फसल काटने में भी परेशानी आती है।
- मेंहदी के पत्तों को ज्यादा दिनों तक स्टॉक में नहीं रखना चाहिए। फसल आते ही बेच देना लाभदायक रहता है। भण्डारित की गई मेंहदी का रंग हल्का होता जाता है।

मेंहदी पर आधारित कुटीर एवं लघु उद्योग

भारत से मेंहदी का निर्यात पाउडर के रूप में ज्यादा होता है। कई बार विदेशों से भी इनके पत्तों की मांग आती रहती है। अत: जहां पर मेंहदी की खेती हो रही हो उसके आस-पास मेंहदी पर आधारित निम्न उद्योग लग सकते हैं :-

1. पिसाई संयंत्र

मेंहदी के पत्तों को पीसने से पूर्व इसकी सफाई करके डण्ठल, रेत व कंकड़ को अलग-अलग किया जाता है। तदुपरांत पत्तों को साफ करने के बाद इनको पल्वराइजर से बारीक पीसा जाता है और 25-25 किलोग्राम की पैकिंग करके बिक्रित/निर्यात

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

किया जाता है।

भारतवर्ष के घरेलू बाजार में मेंहदी की 50 ग्राम से 1 किलोग्राम तक की पैकिंग सर्वत्र बिकती है। अत: मेंहदी की पिसाई के संयंत्र लगाने की काफी गुंजाइश रहती है। इसके लिए स्वचलित सफाई मशीन, पल्वराइजर, स्वचलित पैकिंग मशीन इत्यादि की आवश्यकता रहती है जोकि **मद्रास स्टोर्स, 63 गूजरपुरा रोड, जुमेराती, भोपाल (म.प्र.) फोन : (0755) 543039** से प्राप्त की जा सकती है।

2. मेंहदी कोन Cone उद्योग

आजकल मेंहदी लगाने वाली महिलाओं के पास समयाभाव के कारण वे मेंहदी को तरल रूप में ही खरीदती हैं। कुछ कम्पनियां तरल मेंहदी के कोन भारत में व अंतर्राष्ट्रीय बाजार में बेच रही हैं। इस प्रकार की मेंहदी को गीला करके कोन में भरकर अच्छी पैकिंग करके भी निर्यात/बिक्रित किया जा रहा है।

इस प्रकार का पैकेजिंग उद्योग भी लगाया जा सकता है।

3. हिना इत्र उद्योग

पौराणिक काल से ही "हिना" का इत्र बहुत ही मंहगे इत्रों में गिना जाता रहा है। समाज का उच्चतम आयवर्ग ही इसका उपयोग करने की क्षमता रखता है। इसका इत्र ऊष्ण तासीर का होता है तथा सर्दियों के मौसम में इसका उपयोग बहुत बढ़ जाता है। ठण्डे देशों में इसका प्रचलन प्रचुर मात्रा में होता है। खाड़ी के देशों में अमीर शेख इसका भारी मात्रा में उपयोग सदियों से करते आ रहे हैं।

भारत से इस इत्र का निर्यात फ्रांस, इटली, इग्लैण्ड, जर्मनी इत्यादि कई यूरोपीय देशों में तथा अरब देशों में प्रचुर मात्रा में किया जा रहा है। अत: जिन क्षेत्रों में मेंहदी का उत्पादन होता हो, वहां पर अत्यधिक मूल्यवान "हिना इत्र" उद्योग भी स्थापित हो सकते हैं।

मेंहदी की खेती से लाभ

यूं तो मेंहदी की खेती समान्य क्षेत्रों में भी काफी उपयोगी है परन्तु विशेष रूप से ऐसे क्षेत्रों के लिए जो कम उपजाऊ हों तथा जहां कोई दूसरी व्यवसायिक फसल न ली जा सके, यह विशेष रूप से लाभकारी है। बागड़/फेन्सिंग के उद्देश्य से मेंहदी का वृक्षारोपण तो सर्वश्रेष्ठ है ही। इसकी खेती के प्रमुख लाभ निम्नानुसार हैं-

- पड़ती भूमि का पूर्ण सदुपयोग
- मृदा व जल संरक्षण में लाभकारी
- वर्ष पर्यान्त खेत का हरा-भरा रहना
- रासायनिक खाद व कीटनाशकों की आवश्यकता नहीं
- बागड़/फेन्सिंग के लिए सर्वाधिक उपयुक्त
- निर्यात द्वारा विदेशी मुद्रा की प्राप्ति की संभावना
- ग्रामीण स्तर पर मेंहदी उद्योगों की स्थापना की संभावनाऐं
- पर्यावरण संरक्षण में लाभकारी
- छोटे एवं बड़े किसानों को निश्चित आमदनी
- अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि प्राकृतिक आपदाओं का कोई विशेष असर नहीं।

इस प्रकार अपेक्षाकृत अनुपजाऊ तथा उपजाऊ क्षेत्रों के लिए मेंहदी एक काफी लाभकारी फसल है जिसकी बिक्री के लिए राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पर्याप्त बाजार उपलब्ध है।

मूसली की खेती को प्रोत्साहित
करने हेतु कार्यरत
प्रदेश का सबसे बड़ा हर्बल फार्म
MDHP
मां दंतेश्वरी हर्बल प्रोडक्ट्स प्रा.लि.
एवं
हाईटेक मूसली फार्म
कोण्डागांव, जिला-बस्तर (म.प्र.)
संस्थान द्वारा मूसली की खेती से संबधित दी जा रही प्रमुख सेवाऐं
• मूसली की खेती से संबधित नि:शुल्क प्रशिक्षण
• मूसली के उत्कृष्ट बीजों (प्लांटिंग मेटेरियल) का प्रदाय
• एयरकूल्ड चैम्बर में मूसली का प्लांटिंग मेटेरियल नि:शुल्क रखने की व्यवस्था
• मूसली के विक्रय में सहयोग/मार्गदर्शन
सम्पर्क करें
श्री अनुराग त्रिपाठी / श्री रमाशंकर त्रिपाठी
मां दन्तेश्वरी हर्बल प्रोडक्ट्स प्रा.लि.
(इलैक्ट्रॉनिक टेलीफोन एक्सचेंज के सामने)
कोण्डागांव, जिला-बस्तर (म.प्र.)
फोन : (07786) 42506/42920 फैक्स : 42980
ई-मेल : mdhherbs@vsnl.com

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

38. गुग्गुल/गुग्गलू (Commiphora Mukul) का कृषिकरण

गुग्गुल एक बहुशाखीय झाड़ीनुमा वृक्ष होता है। इसकी शाखाओं का अग्रभाग नुकीला होता है। इसके पत्ते चिकने तथा सपत्र होते हैं जिनमें 3-3 पत्रक होते हैं। इसके पत्ते चमकदार अमिलट्वाकार, एकान्तर व कोणोद्भूत होते हैं। इसके फल मांसल, लम्बे, गोल, छोटे बेर के समान रक्त वर्ण के होते हैं। इसके फलों को राजस्थान में 'गुगलिया' कहते हैं। इसकी शाखायें श्वेत व मुलायम होती हैं। इसकी छाल हरापन लिये पीले रंग की होती है। इसके तने व शाखाओं पर कागज की तरह की एक झिल्ली सी होती है। यह धीमी गति से बढ़ने वाला पौधा है अत: इसकी आयु 500 वर्ष तक होती है। इसके तने व शाखाओं से जो निर्यास (गोंद) निकलता है, वही गुग्गुल (गुगल) कहलाता है।

प्राप्ति स्थान

गुग्गुल का पौधा भारत में राजस्थान, गुजरात, खानदेश, मध्यप्रदेश, आसाम, सिलहट, पूर्वी बंगाल, मैसूर आदि स्थानों पर जंगलों में प्राकृतिक रूप से पाया जाता है। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान के सिन्ध व ब्लूचिस्तान क्षेत्रों, अरब, अफ्रीका व अफगानिस्तान के दक्षिणी भाग में भी यह पाया जाता है। 1960 के दशक में भारत में इसका वार्षिक उत्पादन 500 मीट्रिक टन था जोकि 1990 के दशक में मात्र 5 मीट्रिक टन रह गया। इसके अत्यधिक दोहन व गोंद निकालने के अवैज्ञानिक तरीके के कारण इसके पेड़ निरन्तर मरते गये और नया वृक्षारोपण नहीं किया गया। परिणामत: भारत सरकार ने इसे दुर्लभ प्रजाति के पौधों की श्रेणी में सूचीबद्ध कर दिया है जिसके फलस्वरूप गुग्गुल का या इससे बनी औषधि का निर्यात करने पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। लेकिन यदि किसान अपने खेत में इसका वृक्षारोपण कर इसकी खेती करके इसका उत्पादन करता है तो वह इसे निर्यात कर सकता है। इसके अतिरिक्त कोई भी निर्यातक या औषधशाला किसान से उत्पादित फसल से प्राप्त गोंद को खरीद कर उसका निर्यात भी कर सकती है। इसके कृषिकरण का प्रमाण-पत्र स्थानीय पटवारी अथवा वनमण्डल अधिकारी से प्राप्त करना अनिवार्य होगा।

गुग्गुल के पौधों की शिखाएं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुग्गुल के औषधीय उपयोग

गुगुल एक दिव्य औषधि है। इसका वर्णन वेदों में भी उपलब्ध है। यह कृमिनाशक, गण्डमाला हर, कफ निस्सारक, मूत्रल, रसायन, वल्य, शीत प्रशमन, वर्ण्य, कुष्ठघ्न लेखन, नाड़ीबल्य, व्रणशोधक व जन्तुघ्न होता है। यह रक्तशोधक, रक्तकण व श्वेतकण वर्धक व यकृत उत्तेजक भी होता है। वातजन्य व्याधियों में इसका उपयोग विशेष रूप से किया जाता है। गुगुल का उपयोग वातरक्त, आमवात, व्रणशोथ, नाड़ीव्रण, भगन्दर, कुष्ठ, प्रमेह, मूत्रकृच्छ, शोथ, श्लीपद, गण्डमाला, उपदंश, नेत्ररोग, शिरारोग, हृदयरोग, अम्लपित्त, स्त्री रोग, पाण्डुरोग, उदररोग आदि में प्रभावी रूप से किया जा सकता है।

गुगुल के धूम्र को अथर्ववेद में यक्ष्मा के कीटाणुओं को नष्ट करने वाला कहा गया है। इसकी गन्ध से यक्ष्मा के कीटाणु मृगों के समान भाग जाते हैं। नाड़ी संस्थान पर गुगुल का लाभकारी प्रभाव रहता है। इससंदर्भ में एक तो यह शरीर में वात को सन्तुलित स्थिति में बनाये रखता है, दूसरे समस्त नाड़ी संस्थान को सम्बल प्रदान करता है। गुगुल त्रिदोष हर, शोथघ्न, कृमिघ्न व वेदना स्थापन होने के कारण केन्सर में भी लाभप्रद है। गुगुल स्निग्ध, पिच्छिल, सूक्ष्म और सर होने के कारण दृद्य है। हृदयरोग विशेषत: हृदयावरोध एवं पाण्डु में भी यह उपयोगी है। यह वसा व पित्त के चयापचय के कारण उत्पन्न होने वाला हृदयरोगों को दूर करने में भी श्रेष्ठ है।

गुगुल का कृषीकरण

गुगुल के पौधों से गुग्गुल निकालने की परम्परागत विधि के कारण इसके पौधे समाप्त होते चले गए हैं जिसके कारण आज यह पौधा लगभग लुप्त होने की कगार पर है। अब गुग्गुल निकालने की एक ऐसी विधि खोज निकाली गई है जिससे गुग्गुल भी निकल जाता है तथा पौधा भी नहीं मरता। परन्तु इससे पहले यह आवश्यक हो गया है कि पहले गुग्गुल के पौधे तैयार किए जाएं जिसके लिए इसके कृषिकरण की आवश्यकता है। सौभाग्यवश देश में कई स्थानों पर इसकी खेती प्रारंभ की जा चुकी है जोकि काफी सफल रही है। इसके कृषिकरण से जुड़े विभिन्न पहलू निम्नानुसार हैं—

नर्सरी तैयार करना

गुग्गुल के पौधे कलम से ही तैयार होते हैं। पुराने पौधों से कलम लेने का उपयुक्त समय 14 जनवरी से 14 फरवरी के बीच का होता है। कलम की मोटाई तर्जनी अंगुली से पतली नहीं होनी चाहिए तथा यह हाथ के अंगूठे से मोटी नहीं होनी चाहिए। कलम लगभग 9 इंच लम्बी होनी चाहिए। स्वस्थ पौधों से कलम प्राप्त कर पॉलीथीन की थैली में लगाकर नियमित हल्की सिंचाई करते रहना चाहिए। लगाने के एक महीने से दो महीने के बीच इन कलमों में नए पत्ते आना शुरु हो जाते हैं तथा जुलाई-अगस्त तक ये पौधे खेत में लगाने लायक हो जाते हैं।

खेत में स्थानान्तरण

जुलाई-सितम्बर तक का समय इन पौधों (कलमों) को खेत में लगाने का होता है। इस कार्य हेतु सर्वप्रथम 60×60×60 सें.मी. के गड्ढे पौधे लगाने के लिए खोदे जाते हैं। जिस थैली में पौध लगाई गई हो, उस पॉलीथीन की थैली को चाकू से काट कर अलग कर लें व उस पौधे को मिट्टी की पिण्ड सहित तैयार किए गए गड्ढे में रोप दें। पौधों को खेत में लगाते समय कतार से कतार व पौधे से पौधे के मध्य 2 मीटर की दूरी रखी जाती है। इस प्रकार प्रति हेक्टेयर 2500 पौधे लगाए जाते हैं। पौधा लगाने के बाद उसके चारों तरफ की मिट्टी को अच्छी तरह दबा देना चाहिए एवं हल्की सिंचाई कर देनी चाहिए।

गुग्गुल को प्राय: कई बीमारी नहीं लगती लेकिन दीमक से इसे अवश्य खतरा रहता है। चूंकि औषधीय पौधों की खेती करने में रसायनिक खाद तथा रासायनिक कीटनाशकों का उपयोग नहीं करना चाहिए अत: दीमक नियंत्रण के लिए जैविक तरीका ही अपनाना चाहिए। इसके लिए तैयार किए गए गड्ढों में दो किलोग्राम नीम की खली का चूर्ण डालें। दूसरा तरीका यह है कि दो किलो नीम के पत्ते, दो किलो धतूरे के पत्ते व दो किलो आक के पत्ते बारीक पीस कर 100 ली. पानी में घोल तैयार कर लें। यह तैयार किया गया घोल प्रत्येक पौधे को दो-दो लीटर पिलावें। हर 15 दिन में यह प्रक्रिया दो वर्ष तक अपनावें। इससे पौधों में दीमक नहीं लगती है। गुग्गुल के पौधों को अतिरिक्त सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती तथा यह पौधा कम पानी में भी जिंदा रह जाता है। जो पानी बरसात में बरसता है उसको यह पौधा अपने अंदर संग्रहित करके रख लेता है। इस पौधे के प्रत्येक हिस्से पर एक झिल्ली का आवरण होता है जो पानी के वाष्पीकरण को रोकता है।

गुग्गुल निकालने की नई विधि

गुग्गुल का पौधा जब आठ साल का हो जाता है तो इसमें से एक रेज़ीन निकलना प्रारंभ होता है जो गुग्गुल कहलाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुग्गुल निकालने का परम्परागत तरीका यह है कि इसके पौधे के तने में तेज चाकू से तीन इंच गहरा चीरा लगाया जाता है। परिणामत: उस पौधे में विद्यमान गुग्गुल रिसकर बाहर निकलता है। 15-20 दिन में पौधे से पूरा गुग्गुल निकल जाता है। इस विधि से प्रत्येक पौधे से 500 ग्रा. से 1500 ग्रा. तक गुग्गुल प्राप्त हो जाता है लेकिन पौधा पूर्णत: मर जाता है।

गुग्गुल निकालने की इस परम्परागत विधि की कमियों को देखते हुए गुग्गुल निकालने की एक नई विधि **सैन्ट्रल एरिड जोन रिसर्च इंस्टीट्यूट (काजरी) जोधपुर** द्वारा ईजाद की गई है। इस विधि के अनुसार गुग्गुल के पौधे 8 वर्ष के हो जाने पर इनके मुख्त तने व मोटी शाखाओं को छोड़कर हाथ के अंगूठे से कम वाली पतली शाखाएं कटर के द्वारा काट ली जाती हैं। इसे छंटाई (Prunning) कहते हैं। इस प्रकार छटाई की हुई शाखाओं को इकट्ठा करके कुट्टी करने वाली मशीन से आधा इंच से एक इंच तक काट लेते हैं जिसे कुट्टी या कुतर करना कहते हैं। तदुपरांत इसे धूप में सुखाते हैं। पूर्णत: सूख जाने पर इसे बोरों में भर कर रख लेते हैं। छटाई करने का सर्वाधिक उपयुक्त समय 14 जनवरी से 14 फरवरी के मध्य का है। इस समय पौधे में रेज़िन की मात्रा सर्वाधिक होती है।

गुग्गुल की कुट्टी को बारीक पीस कर साल्वेन्ट विधि (Solvent Proccss) से इसका गुगल निकाला जाता है। यह एक रासायनिक प्रक्रिया है। अभी तक प्रयोगशाला स्तर पर यह कार्य सफलता पूर्वक किया जा चुका है और इसके परिणाम भी संतोषजनक प्राप्त हुए हैं। एक बार छटाई करने के बाद शेष बचे हुए गुग्गुल के पौधे में नई शाखाएं अपने आप आना शुरू हो जाती हैं। दो वर्ष बाद वे पुन: छटनी करने योग्य हो जाती हैं। इस प्रकार प्रत्येक दो वर्ष के बाद गुग्गुल के पेड़ों की छटाई की जाती है। ज्ञातव्य हो कि गुग्गुल के पेड़ की उम्र 500 वर्ष तक भी हो सकती है।

गुग्गुल के वृक्षारोपण से आय

गुग्गुल के वृक्षारोपण से प्रथम आय 8 वर्ष बाद ही प्राप्त होती है। आठ वर्ष के बाद आगे प्रत्येक दो वर्ष में फसल प्राप्त होती रहती है और इससे निरन्तर आय प्राप्त होती है। एक पेड़ की छटाई से प्राप्त सामग्री से औसतन 800 ग्राम शुद्ध गुग्गुल प्राप्त होता है। सालवेन्ट प्रोसैस (Solvent Process) से निकाला गया गुग्गुल अर्ध पारदर्शी, हल्के सुनहरे रंग का होता है। इसका वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय बाजार मूल्य 200/- रु. प्रति कि.ग्रा. तक हो सकता है जबकि परम्परागत तरीके से निकाले गए गुग्गुल की कीमत 100/- रु. प्रति किलोग्राम से 150 रु. प्रति किलोगाम तक होती है क्योंकि इसमें 80% से अधिक विजातीय द्रव्यों का मिश्रण होता है। इसके विपरीत साल्वेन्ट प्रोसैस से निकाले गए गुग्गुल की शुद्धता 100% रहती है।

उपरोक्तानुसार देखा जा सकता है कि एक एकड़ के क्षेत्र में गुग्गुल के 1000 पौधे लगाए जा सकते हैं और प्रत्येक पौधे से औसतन 800 ग्राम गुग्गुल प्राप्त होता है। इस प्रकार एक एकड़ के क्षेत्र में गुग्गुल की खेती से 800 कि.ग्रा. गुग्गुल का उत्पादन होता है। यदि गुग्गुल का वर्तमान बाजार मूल्य (200 रु. प्रति कि.ग्रा.) देखा जाए तो इससे 1.6 लाख रु. प्राप्त होंगे। वृक्षारोपण और गुग्गुल निकालने की प्रक्रिया में अधिकतम 80/- रु. प्रति किलोग्राम खर्च होगा। इस प्रकार गुग्गुल के वृक्षारोपण के 8 वर्ष बाद किसान को लगभग एक लाख रुपया प्रति एकड़ शुद्ध लाभ प्राप्त होगा। यह लाभ हर दो वर्ष के अंतराल में लगभग 300-400 वर्ष तक जारी रहेगा।

नि:संदेह औषधीय पौधों की खेती में गुग्गुल की खेती बिना अधिक रख-रखाव के भी अत्याधिक लाभप्रद है। इसके बावजूद भी अभी भारत में इसकी खेती विधिवत रूप से नहीं की जा रही। कभी विश्व में गुग्गुल निर्यात करने में भारत का प्रथम स्थान था लेकिन बिडम्बना यह है कि आज हमारे देश में गुग्गुल पाकिस्तान से आयात किया जा रहा है। गुग्गुल की बढ़ती हुई मांग को देखते हुए इसका विधिवत् वृक्षारोपण अत्यंत आवश्यक हो गया है।

एस. वी. हैल्दी हर्ब्स इण्डिया
सम्पर्क : राजीव सोढ़ी, 29, संविद नगर, कनाडिया रोड़, इन्दौर
फोन : 490709 मोबाईल : 98270-33709
सफेद मूसली, मस्कदाना, कौंच, कलिहारी अस्वगंधा, सर्पगंधा, कालमेघ, गुग्गल, सिंदुरी, लेमन, सिट्रोनेला, मेन्था, पामारोजा आँवला, गुडमार आदी
औषधीय एंव सुगंधीय पौधो के उत्पादक एंव प्रदायकर्ता

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

39. जोजोबा (होहोबा)

परिचय

जोजोबा अथवा होहोबा एक विदेशी पौधा है। यह मूलत: ऐरीजोना के मरूस्थल, केलीफोर्निया व उत्तरी मैक्सिको का मूल पौधा है। भारत में इसे सर्वप्रथम भावनगर (गुजरात) व जोधपुर (राजस्थान) में प्रयोग के लिए बोया गया था।

जोजोबा ''सिमोनडेसी' (Simmondsiceae) कुल का सदा हरा-भरा रहने वाला पौधा है तथा इसका वानस्पतिक नाम 'Simmandsia Chinensis' है। अंग्रेजी में इसे जाजोबा (Jajoba), शीप-नट (Sheep-nut) तथा वाइल्ड हेज़ल (Wild Hazel) भी कहते हैं।

जलवायु

जोजोबा का झाड़ 3-4 मीटर तक ऊंचा होता है। इसकी जड़ें भूमि में गहराई तक जाती हैं। यह पौधा अधिकतम $50^{0}C$ तापक्रम तक सहर्ष सहन कर लेता है तथा $-9^{0}C$ तापमान में भी यह जीवित रह सकता है। यह 15 से.मी. से 50 से.मी. वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रों में भी जीवित रह सकता है। समुद्रतल से 1500 मी. की ऊंचाई तक इसकी खेती की जा सकती है। यद्यपि इसको जीवित रहने के लिए तो सिंचाई की आवश्यकता नहीं रहती, किन्तु इसकी खेती से आर्थिक लाभ प्राप्त करना हो तो नियमित सिंचाई आवश्यक है। व्यवसायिक रूप से खेती करने पर ''ड्रिप सिस्टम'' लगाना उचित रहता है।

जोजोबा एक एकलिंगी पौधा है। इसमें नर व मादा फूल अलग-अलग पौधों पर लगते हैं। नर फूल हमेशा गुच्छों में लगते हैं जिनकी संख्या 7 से 36 तक होती है। शाखा की एक ग्रन्थि से एक ही मादा फूल निकलता है। फूल प्राय: अक्टूबर-नवम्बर माह में आते हैं जिनमें अप्रैल-मई तक बीज बनते हैं। इस समय अपेक्षाकृत अधिक पैदावार होती है। कभी-कभी अच्छी सिंचाई होने पर अप्रैल-मई में भी फूल खिलते हैं जिनसे अक्टूबर तक बीज बनते हैं परन्तु इस समय पैदावार अपेक्षाकृत कम होती है।

जोजोबा का बीज लम्बा, गोलाईयुक्त व नुकीला होता है जिसमें लगभग 45% से 55% तक तेल होता है। इसके तेल का उपयोग मशीनों में, सौन्दर्य प्रसाधनों में व चिपकाने वाले पदार्थों के निर्माण में प्रयुक्त होता है। इसके तेल के गुण 'स्पर्म व्हेल' से निकले तेल के समान होते हैं।

जोजोबा की कृषि तकनीक

पौधशाला की तैयारी

जोजोबा की बिजाई हेतु सर्वप्रथम पौधशाला तैयार करनी होती है। पौधशाला वहीं तैयार करनी चाहिए जहां की मिट्टी लवणीय व क्षारीय न हो तथा सिंचाई हेतु मीठा पानी उपलब्ध हो। गर्म व ठण्डी हवाओं से पौधों को बचाने के लिए पौधशाला के चारों ओर वायु अवरोधक झाड़ियां लगा देनी चाहिएं।

पौधशाला तैयार करते समय सर्वप्रथम प्लास्टिक की थैली में बालू मिट्टी, चिकनी मिट्टी और गोबर की अच्छी सड़ी हुई खाद या मींगणी 2:1:1 के अनुपात में अच्छी तरह मिलाकर भरते हैं। थैली में नीचे की तरफ 6-8 छेद कर देते हैं ताकि अतिरिक्त जल बाहर निकल जाए। थैली तैयार करने का कार्य सितम्बर अथवा जनवरी माह में पूर्ण कर लिया जाना चाहिए।

पौधशाला हेतु बीज की मात्रा

होहोबा के एक कि.ग्रा. बीज में करीब 1,000 से 1,200 तक दाने आते हैं। हमेंशा ताजे एवं स्वस्थ बीज की ही बिजाई करनी चाहिए क्योंकि एक वर्ष पुराने बीज में अंकुरण 80% से 90% और 3 से 5 वर्ष पुराने बीज में अंकुरण बहुत कम होता है या होता ही नहीं हैं। एक हेक्टेयर में रोपण हेतु बीज की मात्रा निम्नानुसार होगी—

लाइन से लाइन व पौधे से पौधे की दूरी (मी. मं.)	गड्ढों की संख्या प्रति हेक्टेयर	बीज की मात्रा (कि.ग्रा/हेक्टेयर)
3×1.3 मीटर	2,500 गड्ढे	5-6 कि.ग्रा.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पौधों का रोपण करते समय प्रत्येक गड्ढे में कम से कम दो पौधे लगाए जाने चाहिएं।

बीज उपचार

1. बीजों को बोने से पूर्व उन्हें 24 घंटे पानी में भिगोना चाहिए ताकि बीज सरलता से अंकुरित हो सकें।

2. यदि थैलियों में बीज लगाने के बाद बरसात में नमी बनी रहे या खड़ी फसल में अधिक नमी हो तो जड़ गलन रोग से बचाव के लिए एक ग्राम बाविस्टीन, एक ग्राम स्ट्रेप्टोसाइक्लिन तथा दो ग्राम कॉपर ऑक्सीक्लोराइड का 10 ली. पानी में घोल बनाकर पौधे के तने के साथ-साथ 5-10 मि.ली. प्रति. पौधे की दर से डालना चाहिए।

पौधशाला को तैयार करने का समय एवं विधि

अच्छे अंकुरण व स्वस्थ पौधे तैयार करने के लिए थैलियों में बीज की बुआई हेतु अक्टूबर अथवा मार्च का प्रथम सप्ताह उपयुक्त होता है। इस समय बोए गए पौधे जुलाई माह तक करीब 20 से 30 से.मी. ऊंचे हो जाते हैं। थैलियों में बीज को नुकीली तरफ से मिट्टी में इस प्रकार दबाया जाना चाहिए कि उसका एक चौथाई भाग मिट्टी से बाहर रहे। बुवाई के बाद हल्के फुव्वारे से दिन में दो बार पानी देना चाहिए जिससे मिट्टी की ऊपरी सतह पर नम बनी रहे। बुआई के 8-10 दिन के बाद अंकुरण प्रारम्भ हो जाता है तथा 15-20 दिन में सभी बीजों में अंकुरण हो जाता है। जब पौधा 1 माह का हो जाए तो दिन में एक बार पानी देना चाहिए। 4 से 5 माह का पौधा हो जाने पर 2-3 दिन में एक बार पानी देना चाहिए जिससे पौधे को मजबूती मिलती रहे। पौधों के खेत में प्रतिरोपण से पूर्व उन्हें नर्सरी से 2-4 दिन पहले ही उखाड़ लेना चाहिए।

क्षेत्रीय रोपण

खेत में लाइन से लाइन व पौधे से पौधे की दूरी 3×1.3 मी. रखते हुए 45×45×45 सें.मी. आकार के गड्ढे खोदकर उन्हें मिट्टी तथा अच्छी सड़ी हुई गोबर की खाद से भरा जाना चाहिए। गड्ढों को तैयार करने का काम जुलाई माह से पूर्व कर लेना चाहिए। जुलाई माह में अच्छी बरसात होते ही थैली में लगे पौधों से थैली को काटकर अलग कर देना चाहिए। पौधा रोपण के बाद उसके चारों ओर की मिट्टी को अच्छी तरह दबा दें। रोपाई के तुरन्त बाद प्रति पौधा 8-10 लीटर पानी दे देना चाहिए। पानी देने के 1-2 दिन बाद गड्ढों में खुरपी से थोड़ी गुड़ाई कर देनी चाहिए जिससे गड्ढे में नमी बने रहे। नर पौधों की लाइन हवा की दिशा (उत्तर-पश्चिम की तरफ) लगाई जानी चाहिए, जिससे परागण अधिक होगा।

सिंचाई तथा रख-रखाव

होहोबा का पौधा वैसे तो बिना पानी भी जिन्दा रह सकता है परन्तु ऐसे में अच्छी उपज प्राप्त नहीं होती। अतः उपज प्राप्ति के लिए सिंचाई आवश्यक है। फूल आते समय तथा फल बनते समय 15-15 दिन के अंतराल से 15 से 20 लीटर पानी प्रति पौधा देते रहना चाहिए जिससे अधिक उपज प्राप्त हो। यदि 60 से 80 कि.ग्रा. नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर दी जा सके तो इससे पौधों की उपज बढ़ जाती है।

नर व मादा पौधों का अनुपात

नर व मादा का अनुपात 1:4 रखा जाना चाहिए। इस अनुपात को बनाए रखने हेतु निम्न उपाय अपनाए जाने चाहिएं—

1. प्रत्येक गड्ढे में दो पौधे लगाएं। एक-दो वर्ष मे जैसे ही सभी पौधों के फूल निकलना प्रारम्भ हों, अनुपात से अधिक पौधों को काट दिया जाए।

2. पौधों की रोपाई लाइन से लाइन व पौधे से पौधे की दूरी 3×1.3 मीटर रखते हुए इस प्रकार की जाए कि प्रति हेक्टेयर मादा पौधों की संख्या कम से कम 1,800 रहे। पौधों का यह अनुपात आर्थिक दृष्टि से अधिक लाभकारी होता है।

उपज

साधारणतया 3 से 4 वर्ष बाद जोजोबा के पौधों मे फूल आना शुरु हो जाते हैं। परन्तु प्रारम्भिक वर्षों में उपज कम मिलती है। 5 से 10 वर्षों के बीच उपज बढ़ना शुरु हो जाती है। दस वर्ष बाद एक पौधे से औसतन एक कि.ग्रा तक बीज प्राप्त किया जा सकता है। इसका फल अप्रैल से मई माह के बीच पक जाता है। सिंचाई की अच्छी व्यवस्था होने पर इसका पौधा वर्ष में दो बार फल देता है और इस प्रकार दूसरी फसल अक्टूबर माह में मिल जाती है। परन्तु अक्टूबर में उपज की मात्रा बहुत कम मिलती है।

15 वर्ष बाद जोजोबा का प्रत्येक पौधा औसतन 1.5 कि.ग्रा. बीज का उत्पादन देता है। इसके स्वस्थ बीज में तेल की मात्रा 45% से 55% तक होती है।

आर्थिक विश्लेषण

यद्यपि हमारे देश में अभी होहोबा का उत्पादन व्यवसायिक स्तर पर प्रारम्भ नहीं हुआ है, फिर भी मोटे तौर पर प्रति हेक्टेयर औसत उत्पादन से आमदनी का आंकलन किया जा सकता है। खेत में 3×1.3 मीटर की दूरी पर पौध रोपण करने एवं अच्छे रख-रखाव से पांच वर्ष बाद प्रत्येक पौधे से करीब 150 ग्राम से 200 ग्राम बीज एवं दस वर्ष

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बाद प्रत्येक पौधे से करीब 1 कि.ग्रा. बीज प्राप्त होने लगता है।

इस प्रकार लगाई गई जोजोबा की फसल से दस वर्ष बाद प्रति हेक्टेयर करीब 1,800 कि.ग्रा. बीज की प्राप्ति होती है। वर्तमान समय में राजस्थान सरकार ने जोजोबा के बीज का समर्थन मूल्य 154/- रु. प्रति कि.ग्रा. घोषित किया है। अतः दस वर्ष बाद जोजोबा की खेती से प्रति हेक्टेयर 2,77,200 रु. की आमदनी प्रति वर्ष होती है।

15 वर्ष बाद प्रत्येक पौधा 1.5 कि.ग्रा. बीज देता है अतः 15 वर्ष बाद प्रतिवर्ष इससे प्रति हेक्टेयर 4,15,800 रु. की आमदनी होगी जोकि अन्य फसलों की तुलना में काफी अधिक है। यह आमदनी 15 वर्ष बाद हर वर्ष बनी रहती है। जोजोबा के पौधों की आयु 40 से 200 वर्ष तक की होती है।

जोजोबा की खेती से जुड़े मुख्य बिन्दु

- जोजोबा शुष्क प्रदेशों में उपजाया जा सकने वाला एक उपयोगी व मूल्यवान पौधा है।
- वर्षा की अनिश्चितता के कारण राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश आदि राज्यों में इसे सरलता एवं सफलता से लगाया जा सकता है।

एक हेक्टेयर जोजोबा की खेती के बीज से निकला तेल 124 व्हेल मछली से निकले तेल के बराबर होता है। अतः इसका रोपण कर व्हेल मछली को मरने से बचाया जा सकता है।

जोजोबा की फसल के बीच में अन्य जड़ी-बूटियां आसानी से लगाई जा सकती हैं जिनसे करीब 15-20 हजार रुपए प्रति हेक्टेयर की अतिरिक्त आय प्राप्त हो सकती है।

जोजोबा का तेल काफी मूल्यवान तथा उपयोगी है। इसकी निरन्तर बढ़ती हुई मांग को देखते हुए इसे लगाना एक समझदारी का काम है।

जोधपुर में इसका पौधा 10 रु. प्रति पौधे की दर से मिल सकता है।

जोजोबा की पौध प्राप्त करने के लिए निम्न पते पर सम्पर्क किया जा सकता है—

राजस्थान एग्रो फारेस्ट्री कारपोरेशन,
207, सेक्टर-7 (विस्तार), न्यू पावर हाऊस रोड,
जोधपुर-3 (राजस्थान.)
फोन—(0291) 430271. फेक्स—431359.

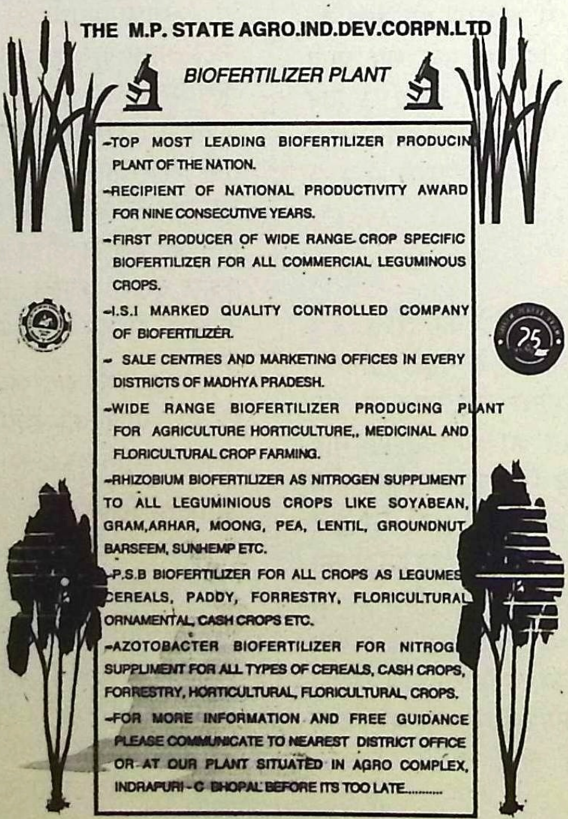

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

40. बहुपयोगी वृक्ष पोपुलर की खेती कैसे करें?

पोपुलर सीधा तथा तेज़ बढ़ने वाला वृक्ष है जिसकी वर्तमान में उत्तरी भारत के विभिन्न राज्यों में वृहद स्तर पर खेती हो रही है। कृषि वानिकी के लिए यह वृक्ष अत्यधिक उपयोगी माना जाता है तथा इसका उपयोग प्लाईवुड, पेटियों के निर्माण, माचिस बॉक्सेज़ के निर्माण, ब्लैकबोर्ड निर्माण, कागज़ के निर्माण तथा खेलों के सामान के निर्माण हेतु किया जाता है। पोपुलर का वृक्ष सीधा बढ़ता है तथा सर्दियों में इसके पत्ते गिर जाते हैं इसलिए ये रबी की फसल को नुकसान नहीं पहुंचाते। वृक्ष के सीधे बढ़ने के कारण इसकी छाया खरीफ की फसल को भी कम नुकसान पहुंचाती है। इर प्रकार इसके साथ-साथ अंर्तवर्तीय फसलों के रूप में अनेकों औषधीय फसलें भी ली जा सकती हैं जिससे कृषक को पर्याप्त अतिरिक्त आय भी प्राप्त होती है।

पोपुलर की खेती के लिए भूमि की आवश्यकता

पोपुलर की अच्छी खेती के लिए उचित जल निकास वाली दोमट मिट्टी सर्वोत्तम होती है। अम्लीय तथा क्षारीय भूमि इसकी खेती के लिए उपयुक्त नहीं होतीं। जिन क्षेत्रों का तापमान 40^0 से.ग्रे. से अधिक हो, वहां पर यदि सिंचाई की पर्याप्त सुविधा हो तो इसे सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है।

पौधे लगाने की विधि

पोपुलर की पौध किसी अच्छी नर्सरी से प्राप्त करके ही खेत में लगानी चाहिए। इसे लगाने से पहले खेत में एक महीना पहले 30 से.मी. चौड़े तथा एक मीटर गहरे गड्ढे खोद लेने चाहिएं। जो मिट्टी गड्ढे में से निकाली हो, उसमें 3 कि.ग्रा. गोबर की खाद, 50 ग्राम सुपर फास्फेट तथा 15 ग्राम बी.एच.सी. पावडर मिला देना चाहिए। तदुपरान्त पोपुलर की पौध को इस गड्ढे में खड़ा करके यह खाद मिली मिट्टी इस गड्ढे में भर दी जानी चाहिए तथा यह मिट्टी अच्छी तरह से दबा दी जानी चाहिए। पौधे लगाते समय ब्लॉक प्लांटेशन कि स्थिति में कम से कम 5×5 मीटर तथा मेड़ों पर पौधे लगाते समय प्रति पौधा 2.5 से 3 मीटर का फासला रखा जाना चाहिए। पौधा लगाते समय पौध की लंबाई कम से कम 3 मीटर तथा गोंलाई 6 से.मी. होनी चाहिए। पौधा लगाते समय ध्यान रखना चाहिए कि उसकी चोटी टूटे नहीं। पौध को धूप से बचाकर रखना चाहिए तथा लगाने से पहले उसे 48 घंटे पानी में डुंबोकर रखना चाहिए। यह ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि गड्ढे में पौध सीधी खड़ी लगे। एक एकड़ के क्षेत्र में पोपुलर के कुल 220 पौधे लगाए जा सकते हैं। प्राय: नर्सरी तैयार करने हेतु पौधों की कलमें 2 रु. प्रति कलम की दर से तथा तैयार पौधा (खेत में लगाने हेतु तैयार) 20 रु. प्रति पौधे की दर से मिल सकते हैं।

पोपुलर के पौधों से भरा खेत (अपनी प्रारंभिक अवस्था में)

पोपुलर की उन्नत किस्में

पोपुलर की अच्छी बढ़वार वाली कुछ किस्में हैं— जी-3, जी-48, एल-34, एल-49, पोपुलस डेलेटा आईडस आदि।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पौध लगाने की विधि

नर्सरी बनाने के लिए पूर्वतया स्थापित पौधों में से 20-25 से.मी. लम्बी टहनियां काट कर अच्छी तरह से तैयार की गई क्यारियों में 60×30 से.मी. के फासले पर रोप दी जानी चाहिएं। टहनी का 1/3 भाग बाहर तथा 2/3 भाग जमीन के अन्दर रहना चाहिए। कलमें लगाने के तुरन्त बाद तथा इसके बाद भी समय-समय पर इनकी सिंचाई की जानी चाहिए ताकि क्यारियों में नमी बनी रहे। लगभग एक वर्ष के बाद इन कलमों से 3 से 4 मीटर तक ऊंची पौध तैयार हो जाती है जिसको रोपण के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

पौधे लगाने का उपयुक्त समय

खेत में पोपुलर के पौधे लगाने का सर्वाधिक उपयुक्त समय 25 दिसम्बर से 28 फरवरी तक होता है।

पौधों की देखभाल

यूं तो पोपुलर के पौधों को ज्यादा हिफाज़त की आवश्यकता नहीं होती फिर भी पौधों की निम्नानुसार देखभाल की जाना आवश्यक होगा—

- पहले वर्ष में प्रति सप्ताह पौधों को पानी देना आवश्यक होगा। दूसरे वर्ष में गर्मियों के समय प्रत्येक 10 दिन के अंतराल पर तथा सर्दियों में 15 दिन के अंतराल पर पानी देना आवश्यक होगा। तीसरे वर्ष में गर्मियों में प्रत्येक 15 दिन में तथा सर्दियों में महीने में एक बार सिंचाई की जाना आवश्यक होगा।
- पौधों में वर्ष में एक बार 100 ग्राम यूरिया डालना आवश्यक होगा। यूरिया देने के बाद पौधों में पानी अवश्य दें।
- पोपुलर आग के प्रति काफी संवेदनशील होता है अतः खेत में पत्तियां आदि न जलाई जाएं।
- पोपुलर के पौधों को तेज हवाओं से बचाना भी आवश्यक होता है, इसलिए पौधों पर मिट्टी चढ़ाकर मिट्टी को अच्छी तरह दबा दिया जाना चाहिए।
- पौधों की कीटों से सुरक्षा करना भी आवश्यक है।
- अच्छे गोलाकार वृक्ष तैयार करने के लिए पौधों की कटाई-छंटाई बहुत जरूरी है। इसके लिए पहले वर्ष में पौधों की 1.5 मीटर ऊंचाई तक की सभी शाखाएं काट दी जानी चाहिएं। दूसरे, तीसरे तथा चौथे साल में पौधों के एक तिहाई से आधे हिस्से तक की शाखाएं काट दी जानी चाहिएं। इसी प्रकार पांचवें साल में भी ऊपर के एक तिहाई हिस्से को छोड़कर शेष शाखाएं काट दी जानी चाहिएं।

पोपुलर के साथ अंतवर्तीय फसलें

क्योंकि पोपुलर के पौधे सीधे ऊंचाई में बढ़ते हैं अतः इनके बीचों-बीच अनेकों अंर्तवर्तीय फसलें ली जा सकती हैं। उदाहरणार्थ इसके साथ-साथ अदरक, हल्दी, पचौली, लेमनग्रास, मेन्था, कलिहारी, जामारोज़ा, पामारोज़ा आदि जैसी फसलें ली जा सकती हैं जिससे किसान भाइयों को प्रारम्भ से ही आय प्राप्त होनी शुरु हो सकती है तथा उसे 7-8साल तक पोपुलर की फसल आने का इंतजार करने की आवश्यकता नहीं होती।

पोपुलर की खेती से भूमि को नुकसान

एक परम्परागत विश्वास कि पोपुलर की खेती से भूमि को नुकसान हो सकता है, पूर्णतया आधारहीन है। क्योंकि पोपुलर के पौधों की जड़ें ज्यादा गहरी नहीं जातीं अतः इस पौधे से भूमि को कोई नुकसान नहीं पहुंचता।

पोपुलर की फसल की कटाई

पोपुलर की फसल 7-8 वर्षों में काटने के लिए तैयार हो जाती है। जब पोपुलर के पौधों की जमीन से 1.37 मीटर ऊपर से गोलाई/मोटाई (लपेट) 90 से.मी. हो जाए तो ये पौधे काटने के लिए तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार से तैयार हुए एक पेड़ की कीमत लगभग 2000 से 2,500 रु. तक मिल जाती है। इसके अतिरिक्त पोपुलर के साथ लगाई जाने वाली अंर्तवर्तीय फसलों से भी अतिरिक्त आय होती है।

इस प्रकार पोपुलर की खेती एक अत्यधिक उपयोगी खेती है जो न केवल अपने आप में काफी लाभकारी है बल्कि इसके साथ-साथ लगाई जाने वाली अंर्तवर्तीय फसलों से भी काफी लाभ कमाया जा सकता है।

पोपुलर की पौध की प्राप्ति तथा परामर्श

देशभर में ऐसे अनेकों परामर्शदाता तथा नर्सरियां कार्यरत हैं जिन्हें पापुलर से संबंधित जानकारी तथा पौधों की प्राप्ति हेतु सम्पर्क किया जा सकता है। ऐसी ही कुछ फर्में जहां से पोपुलर के पौधे प्राप्त किए जा सकते हैं, वे हैं—

- **मे. एन. कुमार इन्टरप्राइजेस,**
  84-डी, प्रथम तल, राजगुरु मार्केट, हिसार-125001 (हरयाणा). फोन-37417.
- **मे. कंसल एग्रोटेक प्रा. लि.,**
  कंसल भवन, डिप्टीगंज, बुलंदशहर (उ.प्र.)
  फोन (05732) 50426/50528 (कार्या.) 50491 (नि.)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

41. बहुपयोगी वृक्ष - सिन्दूरी (Annato)

सिन्दूरी का पौधा

सिन्दूरी, जिसे संस्कृत में सिन्दूरपुष्पी, तृणपुष्पी, सुकोमला, रक्तबीजा, करछन्दा भी कहा जाता है, हिन्दी में लटकन, सिन्दूरिया तथा जाफरा, मराठी में शदरी; बंगाली में लटकन तथा गुजराती में सिन्दूरी आदि नामों से जानी जाती है। अंग्रेजी में इसे अन्नाटो अथवा अरनाटो तथा लेटिन में बिक्सा ओरेलेना लिन (Bixa Orellana Linn) के नाम से जाना जाता है। सिन्दूरी बिक्सासी (Bixaceae) कुल का एक झाड़ीनुमा छोटे आकार का हमेशा हरा रहने वाला पेड है जिसकी ऊंचाई लगभग 2 से 5 मीटर तक होती है। इसका उत्पति स्थान अमेरिका तथा वेस्टइंडीज है। विभिन्न देशों, विशेषकर ब्राजील, गुयाना, मैक्सिको आदि में भी इसे अन्नाटो रंग प्राप्त करने के लिए बहुतायत में लगाया जाता है। हमारे देश में यह मुख्यतया कर्नाटक, आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु, उड़ीसा, महाराष्ट्र तथा मध्यप्रदेश में वनों एवं बाग-बगीचों में सीमित संख्या में लगाया जाता है। इसके पत्ते पान के पत्तों के सामान कंगूरेदार होते हैं तथा इसके पत्तों की शिराएं लाल होती हैं। सिन्दूरी के पौधे मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं-

1. सफेद पुष्प वाला एवं हरे फल वाला, तथा
2. सिन्दूरी फूल वाला तथा लाल फलों वाला।

दोनों प्रकार के वृक्षों / झाड़ियों में पुष्प व फल गुच्छों में लगते हैं। पुष्प पत्र के दल पांच बहुसंख्यक पुंकेशर होते हैं। गर्भाशय एक परदे या घर विशिष्ट होता है। इसके फल अरंडी अथवा धतूरे के सामान मुलायम कांटेदार होते हैं जिनमें चार फांके होती हैं। इसकी भित्ती झिल्लीनुमा होती है जिसमें 50 तक त्रिभुजाकार मोमी लाल रग के बीज रहते हैं। इस पौधे पर पुष्प अगस्त से दिसम्बर तक आते हैं तथा फल मार्च - अप्रैल माह में पकते हैं। पकने पर फल दो भागों में लंबाई में चटक जाते हैं तथा अंदर भित्ती व चिपके हुए लाल बीज स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। ये बीज कुछ समय बाद झड़ जाते हैं। इन्हीं बीजों के मोमी भाग से केसरिया लाल रंग निकाला जाता है जिसे "अन्नाटो" कहते हैं।

सिन्दूरी के प्रमुख उपयोग

सिन्दूरी के वृक्ष की छाल कड़वी, चरपरी, शीतल, कसैली, ग्राही, ज्वरघ्न, मूत्रल, गुर्दारोग रोधी तथा रक्त विकार, तृपा, विषदोष, पित्त, वातपित्त, वमन, कफ, सिर का दर्द और भूत बाधा दूर करने वाली होती है। इसका मूल- त्वक उत्तम विषम ज्वर नाशक होता है जिसे क्वाथ रूप में चढ़े या उतरे हुये ज्वर में दे सकते हैं। यह क्वाथ प्रवाहिका तथा मूत्रकृच्छ रोगों एवं कामला में भी लाभकारी होता है। सिन्दूरी के बीजों का क्वाथ भी इन रोगों में दिया जा सकता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सिन्दूरी के पत्ते मधुर विरेचक तथा शोधक होते हैं। सुजाक की दशा में इन्हें जल में पीसकर तथा इनके साथ मिश्री मिलाकर पिलाने से विशेष लाभ प्राप्त होता है। इसके बीजों के ऊपर रहने वाले लाल रंगदार तत्व को पानी में घोलकर शरीर पर लगाने से मच्छर काटने का डर नहीं रहता। सिन्दूरी का यह रंग विषैला नहीं होता तथा इसको मिलाने से खाद्य पदार्थों का रंग व स्वाद प्रभावित नहीं होता। इस प्रकार इसका उपयोग बहुतायत में डेयरी उद्योग में मक्खन, पनीर, घी, मार्गेरीन, चाकलेट, आइसक्रीम आदि को रंग देने तथा रेशमी एवं सूती कपड़ों को रंगने, चमड़े की रंगाई तथा बूट पॉलिश बनाने के साथ-साथ दवाइयों को रंगने के लिए भी किया जाता है। इस रंग को माथे पर तिलक या बिन्दी के रूप में भी लगाने हेतु प्रयुक्त किया जाता है। औषधीय उपयोग हेतु मुख्यतया इसका मूल, पत्ते तथा बीज प्रयोग में लाये जाते हैं।

सिन्दूरी की कृषि तकनीक

1. भूमि तथा जलवायु की आवश्यकता : सिन्दूरी किसी भी प्रकार की अच्छे निथार वाली भूमि में लगाई जा सकती है। इस प्रकार सम्पूर्ण मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, उत्तरप्रदेश तथा आस-पास के राज्यों की जलवायु इसकी खेती हेतु काफी उपयुक्त है। यह एक विशुद्ध फसल के रूप में भी लगाई जा सकती है तथा अंर्तवर्तीय फसल के रूप में भी। जहां इसे विशुद्ध फसल के रूप में उगाया जा रहा हो वहां इसकी छाया में हल्दी, अदरक, सर्पगंधा, सफेद मूसली आदि जैसी अन्य औषधीय फसलें उगाई जा सकती हैं। इस पौधे को ज्यादा सिंचाई की आवश्यकता नहीं पड़ती अत: यह शुष्क तथा पड़ती भूमियों में भी लगाया जा सकता है।

सिन्दूरी एक बहुवर्षीय पौधा है जो कि प्राय: चौथे वर्ष से अच्छी तरह फल देना प्रारंभ करता है। प्रारंभिक काल में इसके पौधे अधिक पाला बर्दाश्त नहीं कर पातें अत: प्रारंभिक काल में इनका पाले से बचाव करना आवश्यक होता है।

2. बिजाई की विधि : सिन्दूरी की बिजाई कलम तथा बीज दोनों से की जा सकती है। यदि सिन्दूरी की बिजाई बीज से करनी हो तो इसके बीज अप्रैल माह में क्यारियों या पैकेटों में बोये जाते हैं जो लगभग आठ-दस दिनों में अंकुरित हो जाते हैं। ये अंकुरित पौधे जुलाई-अगस्त माह में रोपण हेतु तैयार हो जाते हैं। रोपाई करते समय ये पौधे 2X2 मीटर की दूरी पर 30X30X30 सेंटीमीटर आकार के पूर्वतया तैयार किये गये गड्डों में लगाये जा सकते हैं। लगाने के आठ-दस माह के उपरांत इन पौधों पर फूल तथा फल आने लगते हैं, हालांकि लाभप्रद फलन प्राय: चौथे वर्ष के उपरांत ही मिलता है। अच्छी फसल प्राप्त करने के लिए 4X4 मीटर की दूरी पर लगाये गये पौधों को छोड़कर बीच के पौधे निकाल दिये जाने चाहिएं। प्राय: तीसरे वर्ष में प्रति पेड़ लगभग आधा किलो बीज प्राप्त होते हैं जबकि चौथे वर्ष से प्रत्येक पौधा चार से पांच किलो बीज देने लगता है। इस प्रकार चौथे वर्ष से प्रति एकड़ लगभग 10-12 क्विंटल बीज प्राप्त होते हैं जो आगे प्रतिवर्ष, दसवें वर्ष तक प्राप्त होते रहते हैं।

3. बीज प्राप्त करने की विधि: जब फल चटकने लगें तो इनकी तुड़ाई करके इन्हें दो-चार दिन तक ढक कर रख दिया जाता है तथा बाद में इन्हें धूप दिखाकर लकड़ी से पीटकर इनके बीज निकाल लिये जाते हैं। इन सूखे हुये बीजों को बोरों में भरकर विपणन हेतु भेज दिया जाता है। पौधों की फलन उम्र समाप्त होने के उपरांत (प्राय: जब पौधे दस वर्ष से अधिक के हो जायें) तो इन पौधों से काफी मात्रा में लकड़ी प्राप्त हो जाती है जो जलाने तथा अन्य कार्यो में प्रयुक्त की जा सकती है। सिन्दूरी के साथ ली जाने वाली अंर्तवर्तीय फसलों से बिना कोई ज्यादा खर्च किए अतिरिक्त आमदनी प्राप्त हो जाती है।

सिन्दूरी एक ऐसा पौधा है जो सामान्य क्षेत्रों के साथ-साथ खेतों की मेड़ों, नदी-नालों के किनारों, आम रास्तों, सड़कों व रेल पथों के किनारों, निजी व पड़त वन भूमियों आदि में सफलतापूर्वक लगाया जा सकता है। क्योंकि यह पौधा सदा हरा-भरा रहता है अत: देखने में भी यह काफी शोभायमान प्रतीत होता है। पर्याप्त क्षेत्र में सिन्दूरी की खेती हो जाने के उपरान्त इससे रंग निकालने के उद्योग भी स्थापित किए जा सकते हैं। सिन्दूरी का रंग निकालने की आधुनिकतम तकनीक की जानकारी प्राप्त करने हेतु **सेन्ट्रल फूड टैक्नालाजिकल रिसर्च इंस्टीयूट, मैसूर - 570013.** से संपर्क किया जा सकता है।

सिन्दूरी की खेती के आर्थिक पहलू

सिन्दूरी के बीजों का औसत मूल्य 35-40/- प्रति किलोग्राम रहता है जबकि अन्नाटो का रंग 4000/- रुपये प्रति किलो की दर से बिक रहा है। इस प्रकार सिन्दूरी की खेती करके 40,000/- रुपये प्रति एकड़ आर्थिक लाभ प्रतिवर्ष कमाया जा सकता है।

सिन्दूरी एक ऐसा उत्पाद है जिसकी वर्तमान में अत्यधिक मांग है तथा भविष्य में भी यह मांग बढ़ते ही जाना है। हमारे देश में केवल डेयरी उद्योग हेतु ही 300 टन अन्नाटो रंग की आवश्यकता है जिसकी वर्तमान में पूर्ति जर्मनी एवं अमेरिका से अन्नाटो रंग आयात करके की जा रही है। अभी इसके बीजों का उत्पादन मुख्यतया आन्ध्रप्रदेश (400 टन) में होता है जिसमें से 200 टन बीज जापान व रुस को निर्यात कर दिया जाता है। इस प्रकार हमारे देश में ही इसकी खपत की व्यापक संभावनायें हैं तथा इसके साथ-साथ निर्यात की भी काफी संभावनायें हो सकती हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

42. रतनजोत अथवा जेट्रोफा (Jatropha Curcas)

जेट्रोफा अथवा रतनजोत, जिसे चन्द्रजोत, विदेशी अरंड, जंगली एरंड, बाघ मेरंड इत्यादि नामों से जाना जाता है, सामान्यत: कटिबंधीय तथा उष्ण कटिबंधीय स्थानों जैसे दक्षिणी अमेरिका, मैक्सिको, भारत, बर्मा, पाकिस्तान तथा श्रीलंका इत्यादि देशों में पाया जाने वाला पादप है। इसके लिए शुष्क तथा अर्द्धशुष्क जलवायु उपयुक्त होती है। सामान्यत: यह पथरीली, रेतीली, ढलाऊ, बलुई तथा कम गहराई वाली भूमि पर पाया जाता है। यूं तो यह पौधा यहां-तहां झाड़ियों, बगीचों, मेढ़ों, फेन्सिंग आदि में अपने आप उगता हुआ देखा जा सकता है परन्तु इसके विभिन्न औषधीय उपयोगों ने इसे अत्यधिक महत्व का पौधा बना दिया है। फलस्वरूप राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में इसकी विधिवत खेती प्रारम्भ हो चुकी है, जोकि अत्यधिक सफल सिद्ध हो रही है। इसका वानस्पतिक नाम जैट्रोफा कर्कस (Jatrofa Curcas) है।

परिचय

जेट्रोफा का पौधा बहुवर्षीय, हमेशा हरा-भरा रहने वाला, चिकना तथा मुलायम काष्ठ वाला झाड़ीनुमा पौधा होता है। यह शीघ्र वृद्धि करने वाला क्षुप होता है जिसमें पौधे की ऊंचाई 3 से 4 मीटर तक होती है।

जेट्रोफा का फूल युक्त पौधा

इसका तना चिकना तथा मुलायम काष्ठीय होता है। यह शाखित होता है तथा इस पर नोड (node) व इंटरनोड (internode) नहीं होते हैं। इसके तने में तथा पत्तों को तोड़ने पर सफेद रंग का दूध (latex) निकलता है बच्चे जिसके बुलबुले (गुब्बारे) बनाकर खेलते हैं।

जेट्रोफा की पत्तियां हृदयाकार होती हैं तथा इनमें तीन से पांच तक लूप उपस्थित होते हैं। इसकी पत्तियां तने पर एकान्तर क्रम में विन्यासित होती हैं तथा ये 10 से 15 से.मी. लम्बी, पीत-हरे वर्ण की तथा चिकनी होती हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जैट्रोफा में मूसला मूल तन्त्र पाया जाता है जो पौधे को दृढ़ता प्रदान करके आवश्यक पदार्थों को भूमि से पौधे के अन्य भागों तक जायलम तथा फ्लोयम द्वारा पहुंचाता है।

इसकी शाखाओं के अंतिम सिरे पर पुष्प लगते हैं। पुष्प सफेद-हरे रंग के होते हैं तथा केन्द्रीय पुष्प पहले खिलते हैं। पौधे पर पुष्प सितम्बर से नवम्बर माह तक में आते हैं।

जैट्रोफा का फल एक कैप्सूल की तरह गोल होता है तथा 2.5 से 4.0 से.मी. व्यास का होता है। यह फल हरे वर्ण का होता है तथा पकने पर काला हो जाता है। फल पौधे पर गुच्छे के रूप में लगते हैं तथा प्रत्येक फल में 3-4 बीज होते हैं।

जेट्रोफा के उपयोग

औषधीय उपयोगों के साथ-साथ जेट्रोफा अनेकों अन्य उपयोगों में भी प्रयुक्त होता है जिनमें से इसके कुछ प्रमुख उपयोग निम्नानुसार हैं—

सजावट में : जेट्रोफा का पौधा शीघ्रवृद्धि वाला तथा झाड़ीनुमा होता है अत: लोग इसे सजावट के लिए अपने बगीचे में तथा खेत के चारों ओर या वेस्टलैण्ड को हरा-भरा करने के लिए लगाते हैं।

चारदीवारी के रूप में : बहुधा जैट्रोफा को खेत के चारों ओर लगाया जाता है। इसे नजदीक-नजदीक लगाने से यह एक चारदीवारी का काम करता है। इसके बीच में किसान फसल बोकर जानवरों से तथा तेज हवाओं से फसल की रक्षा कर सकते हैं।

उद्योग में : जेट्रोफा के बीजों से प्राप्त तेल को साबुन बनाने, जलाने, लुब्रीकेन्ट बनाने तथा मोमबत्ती बनाने में उपयोग में लाया जाता है। इसके तेल में निम्न तत्व पाए जाते हैं—

मॉस्चर (नमी)	=	6.62%
प्रोटीन	=	18.2%
वसा	=	38.0%
कार्बोहाइड्रेट	=	18.0%
फाइबर	=	15.5%
एश (राख)	=	5%

जैट्रोफा के बीजों से 30% तेल मिलता है जिसमें मुख्यतया ''जेट्रोफीन एसिड'' पाया जाता है।

इसके तेल से प्लास्टिक तथा सिन्थेटिक फाइबर के लिए रॉ मैटेरियल भी तैयार किया जाता है।

औषधियों में : जेट्रोफा में 'जेट्रोफिन' नामक तत्व पाया जाता है जिसमें कैंसर प्रतिरोधी क्षमता होती है। अत: इसका उपयोग कैंसर सम्बन्धी औषधियों में किया जाता है। इसका तेल दस्तावर होता है। इसके तेल का उपयोग त्वचीय रोगों (जैसे दाद, खाज, खुजली), गठिया, लकवा आदि में भी किया जाता है। इसके दूध से असाध्य जख्म भर जाते हैं तथा सर्पदंश दूर होता है। इसे दंत रोगों में तथा मसूड़ों पर लगाने से मसूड़ों की सूजन दूर होती है।

जावा में इसके जूस का उपयोग गठिया तथा पेट सम्बन्धी रोगों में किया जाता है। इसकी पत्ती के जूस का उपयोग बवासीर में करते है।

रंगाई में : इससे डाई का निर्माण किया जाता है जिसका उपयोग कपड़ा रंगने, मछली पकड़ने का जाल रंगने आदि में किया जाता है। इससे एक बहुत उच्च किस्म का वार्निश भी तैयार किया जाता है।

भूमि सुधार में : जेट्रोफा के बीज से तेल निकालने के पश्चात् बची हुई खली से बायो गैस संयत्र सफलता पूर्वक चलाया जा सकता है एवं बायोगैस संयत्र से निष्कासित खली को प्राकृतिक खाद के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। इस खली में नाइट्रोजन, फास्फोरस व पोटेशियम अत्यधिक मात्रा में होते हैं।

वर्ष में एक बार यह पौधा अपने सारे पत्ते गिरा देता है जो एक बहुत अच्छी उर्वरक का कार्य करते हैं।

डीज़ल के रूप में : विभिन्न परीक्षणों से यह ज्ञात हो चुका है कि जेट्रोफा के तेल का उपयोग सीधा डीज़ल की जगह भी किया जा सकता है। लेकिन डीज़ल का भाव कम होने के कारण अभी इसका उपयोग इस कार्य हेतु नहीं किया जा रहा है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जेट्रोफा का कृषिकरण

यद्यपि अभी तक जेट्रोफा प्राकृतिक रूप से ही उग रहा था परन्तु जेट्रोफा जैसे औषधीय एवं औद्योगिक महत्व के पौधे का विधिवत रूप से वृक्षारोपण करना भी आर्थिक रूप से अतिलाभदायक सिद्ध हो रहा है। भारत वर्ष के कई प्रान्तों जैसे राजस्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक आदि में वन क्षेत्रों में इसका वृक्षारोपण कई वर्ष पूर्व किया गया था। लेकिन व्यवसायिक रूप से इसका वृक्षारोपण अभी तक नहीं किया गया है। इसकी बढ़ती हुई मांग को देखते हुए इसका वृक्षारोपण अतिआवश्यक हो गया है।

वृक्षारोपण की विधि : जेट्रोफा के पौधों का रोपण दो प्रकार से किया जाता है—

(1) बीज से नर्सरी तैयार करके पौधों को भूमि में लगाना।
(2) पौधे से कलम काटकर उसे सीधा भूमि में लगाना।

उपरोक्त दोनों विधियों से तैयार पौधों का जुलाई से सितम्बर तक अर्थात् बरसात के मौसम में रोपण करते हैं। इस अवस्था में इसे पानी की आवश्यकता होती है अत: इसके लिए जमीन को समतल करवा कर तैयार कराते हैं। यदि जमीन ज्यादा उबड़-खाबड़ हो तो उसमें ड्रिप द्वारा सिंचाई की जा सकती है।

खेत में इसका रोपण करते समय पौधे से पौधे तथा कतार से कतार के बीच की दूरी 2 मी. × 2 मी. रखनी चाहिए। रोपण के लिए गड्ढा 2'×2'×2' का होना चाहिए। तदुपरान्त तैयार पौधों या कलमों को जमीन में लगा देते हैं तथा गड्ढे में मिट्टी भर कर उसे अच्छी तरह से दबा देते हैं। इसके उपरान्त प्रत्येक 15-20 दिन में पौधे में अच्छी सिंचाई करते हैं। इसकी खेती के लिए प्रति हैक्टेयर 2500 पौधे लगते हैं जिसके लिए 2 कि.ग्रा. बीज की आवश्यकता होती है।

दूसरे वर्ष के बाद पौधों में फूल आना प्रारंभ हो जाते हैं। फूल से फल बनते समय पौधे को अच्छी सिंचाई देनी चाहिए ताकि सभी फूल, फल बन सकें। फल गुच्छे के रूप में लगते हैं। फल को पकने पर व काला पड़ने पर तुड़वा लिया जाता है तथा उसके ऊपर का छिल्का हटा कर उसमें से बीज निकाल लिए जाते हैं। बीज काले रंग के होते हैं।

राजस्थान में हो रही जेट्रोफा की विधिवत खेती का एक दृश्य

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रत्येक फल में से 3-4 बीज निकलते हैं। बीजों को बोरों में भरकर बिक्री के लिए भेज दिया जाता है।

मार्च माह में पौधे को 2-3 फुट ऊपर से काट दिया जाता है ताकि प्रत्येक कटी शाखा में से 3-4 नई शाखाएं निकल सकें। जितनी ज्यादा शाखाएं होंगी उतना ही अधिक उत्पादन (बीज) प्राप्त होगा। काटने की प्रक्रिया 5 वर्ष तक करते हैं। उसके बाद पौधे को काटते नहीं हैं।

जेट्रोफा के पौधे से प्रति हेक्टेयर निम्न रूप से आय प्राप्त होती है—

प्रति हेक्टेयर आय

		उत्पादन प्रति हेक्टेयर	भाव प्रति कि.ग्रा.	कुल आय
प्रथम वर्ष बाद	—	250	कि.ग्रा. ×10 =	2,500/-
द्वितीय वर्ष बाद	—	1,000	कि.ग्रा. ×10 =	10,000/-
तृतीय वर्ष बाद	—	2,500	कि.ग्रा. ×10 =	25,000/-
चतुर्थ वर्ष बाद	—	5,000	कि.ग्रा. ×10 =	50,000/-
पांचवें वर्ष बाद	—	8,000	कि.ग्रा. ×10 =	80,000/-
छठे वर्ष बाद	—	12,000	कि.ग्रा. ×10 =	1,20,000/-

इसके बाद 40-50 वर्ष तक प्रति हेक्टेयर 12,000 कि.ग्रा. उत्पादन प्रति वर्ष होता रहेगा। वर्तमान समय में इसके बीज का रेट 10/- रु. प्रति कि.ग्रा. है। इस प्रकार जेट्रोफा की फसल लगाकर अन्य फसलों से ज्यादा पैदावार ली जा सकती है।

जेट्रोफा की खेती के मुख्य लाभ

1. इस पौधे को कोई जानवर अर्थात् गाय, भैंस, भेड़, बकरी, ऊंट, नीलगाय व हिरण आदि न तो खाते हैं और न ही क्षति पहुंचाते हैं। अत: इसकी सुरक्षा के लिए तारबन्दी व बाड़ की कोई आवश्यकता नहीं होती है।

2. यह एक बहुवर्षीय फसल है एवं 40-50 वर्ष तक लगातार उत्पादन देती रहती है।

3. इसके लिये रासायनिक खाद या कीटनाशकों की आवश्यकता नहीं होती है।

4. लाइन से लाइन की दूरी 2 मी. होने के कारण इसके बीच में अन्य छायादार औषधीय पौधों की खेती की जा सकती है।

5. यह फसल अत्यन्त सूखारोधी व जलभराव को सहन कर सकती है।

6. जिस खेत में यह फसल खड़ी होती है यह अत्यन्त हरा-भरा दिखता है तथा इसके बीच में फूल वाले पौधे लगाकर मधुमक्खी पालन किया जा सकता है जिससे प्रति हेक्टेयर प्रति वर्ष लगभग 20-25 हजार रुपए की अतिरिक्त आय सम्भव है।

7. इस फसल का मुख्य उत्पादन बीज हैं जिनमें 40% अखाद्य तेल पाया जाता है। इसके बीजों का भण्डारण कई वर्षों तक बिना क्षति के किया जा सकता है।

8. विभिन्न वैज्ञानिक परीक्षणों से यह पाया गया है कि जेट्रोफा का तेल सीधा डीज़ल के रूप में ईंधन की जगह सफलता पूर्वक काम में लिया जा सकता है। हालांकि डीज़ल का भाव कम होने के कारण अभी इसका उपयोग नहीं किया जाता परन्तु आपातकाल में इसे उपयोग में ले सकते हैं।

9. अभी तक 'जेट्रोफा' का तेल अखाद्य तेल के रूप में काम में लिया जाता था। इसके तेल को खाद्य तेल के रूप में परिवर्तित करने के लिए वन अनुसंधान संस्थान (देहरादून) में शोध कार्य जारी हैं।

10. जेट्रोफा की खली में बायोगैस संयत्र सफलता पूर्वक चलाया जा सकता है। बायोगैस संयत्र से निष्कासित खली को प्राकृतिक खाद के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है, क्योंकि इस खली में नाइट्रोजन, फास्फोरस तथा पोटेशियम अत्यधिक मात्रा में होते हैं।

जेट्रोफा के बीजों/कलमों की प्राप्ति

यूं तो जेट्रोफा के बीज/कलमें स्थानीय रूप से प्राप्त किए जा सकते हैं परन्तु अच्छा होगा यदि अच्छी उपज वाली संकर प्रजाति के जेट्रोफा की कलमों से पौधे तैयार किए जाएं। जेट्रोफा की अच्छी प्रजाति के पौधों की कलमों हेतु **राजस्थान एग्रो फारेस्ट्री कारपोरेशन, 207, सेक्टर-7, न्यू पावर हाऊस रोड, जोधपुर-3 (राज.) फोन—(0291) 430271. फेक्स—431539** से सम्पर्क किया जा सकता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

43. अडूसा

प्राकृतिक रूप में उग रहे अडूसा के पौधे

अडूसा, जिसका अंग्रेजी नाम मालावार नट अथवा वसिका/ अडालसा, तथा वैज्ञानिक नाम अधातोड़ा वसिका (Ad hatoda Vasica) है, **एकेन्थेसी** परिवार की एक छोटी सदाबहार झाड़ी के रूप में समस्त भारतवर्ष में प्राकृतिक रूप से पाया जाता है। अडूसा की घनी झाड़ी 1.2 से 2.5 मीटर तक उंची होती है जिसकी लंबी शाखाएं होती हैं। इसकी शाखाओं पर गुच्छे के रूप में सफेद फूल आते हैं जो कि कालांतर में बीज के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इसके पत्ते गहरे हरे रंग के होते हैं।

औषधीय कार्य हेतु अडूसा के पत्ते, जड़ें, फूल तथा फल उपयोग में लाए जाते हैं। इसके पत्ते तथा जड़ों का उपयोग खांसी, पीलिया तथा बदहजमी के उपचार हेतु किया जाता है। एक वलवर्धक के रूप में भी इसका उपयोग किया जाता है। इसके हरे पत्तों को आसवित करके एसेन्शियल आयल तथा वेसीन नामक एल्केलाइड प्राप्त किया जाता है जोकि खांसी में अत्यंत उपयोगी होता है तथा श्वास तंत्र को सही करता है। इसके साथ-साथ इसमें हाईपरसेन्टिव गुण भी होते हैं तथा यह हृदय रोग में भी उपयोगी होता है। इसके पत्तों से पीले रंग की डाई का निर्माण भी किया जाता है तथा इसकी जड़ तथा तने की छाल से खांसी एवं स्पलीन आदि के उपचार हेतु दवाई का निर्माण किया जाता है।

औषधीय उपयोग हेतु इसके पत्तों को तोड़कर सुखा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लिया जाता है तथा तदनुसार संग्रहित कर लिया जाता है। पौधा जब लगभग एक वर्ष का हो जाए तो उसे उखाड़ लिया जाता है तथा तदनुसार साफ करके इसकी जड़ों को भी संग्रहित कर लिया जाता है। प्राय: इसके पत्तों की बिक्री दर 1.50 रु. से 4 रु. प्रति किलोग्राम तक होती है।

यद्यपि यह प्राकृतिक रूप में भी प्रचुर मात्रा में पाया जाता है परन्तु इसकी खेती भी की जा सकती है। इसका प्रवर्धन बीज से भी किया जा सकता है तथा कटिंग से भी। दोनों ही स्थितियों में सर्वप्रथम पौधों को पौलीबैग्स में विकसित करने की आवश्यकता होती है जिसके लिए मई-जून अथवा सितम्बर-अक्टूबर का माह काफी उपयुक्त रहता है। जब पौधे एक-डेढ़ माह के हो जाएं तो उनका विधिवत खेत में रोपण कर दिया जाता है। क्योंकि यह पौधा किसी भी प्रकार की भूमि में पैदा हो जाता है अत: मृदा के प्रकार के बारे में ज्यादा चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं होती। बंजर भूमि में भी यह सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है।

अड़ूसा के प्रमुख औषधीय उपयोग एवं उपयोग की विधि

पम्परागत रूप से अड़ूसा निम्नानुसार औषधीय उपयोगों में प्रयुक्त किया जा रहा है :-

- इसके पत्तों का काढ़ा जोड़ों के दर्द के उपचार हेतु दिया जाता है।
- इसके पत्तों तथा जड़ों का काढ़ा सभी प्रकार की खांसियों तथा ब्रोन्काइटिस के उपचार हेतु प्रभावी माना जाता है। खांसी तथा ब्रोन्काइटिस के उपचार हेतु इसका काढ़ा अदरक के साथ तैयार करके दिया जाना चाहिए।
- इसके सुखाए हुए पत्तों को रोल करके उनका सिगरेट जैसा बनाकर पीने से अस्थमा में राहत मिलती है।
- इसके पत्तों का काढ़ा गर्भ गिराने हेतु भी प्रयुक्त किया जाता है।
- इसके पत्तों का रस पेचिश तथा डायरिया के उपचार हेतु प्रयुक्त किया जाता है।
- इसका कड़वा रस पेट के कीड़े निकालने हेतु प्रयुक्त किया जाता है।
- इसके ताज़े फूलों का उपयोग आंखों की बीमारियों (आरथल्मिया तथा कंजक्टीवाइटस) के उपचार हेतु किया जाता है।
- इसके पत्तों का काढ़ा महिलाओं के मासिक धर्म को नियमित करने तथा घनोरिया के उपचार हेतु प्रयुक्त किया जाता है।
- इसके फूलों का काढ़ा खून को साफ करने तथा खून का संचारण नियमित करने हेतु प्रयुक्त किया जाता है।
- यह पीलिया रोग तथा मूत्र विकारों को ठीक करने में भी प्रभावी होता है।

उपरोक्तानुसार देखा जा सकता है कि अड़ूसा के अनेकों महत्वपूर्ण औषधीय उपयोग हैं। सौभाग्यवश यह पौधा हमारे देश के विभिन्न क्षेत्रों में काफी अधिक मात्रा में प्राकृतिक रूप से उपलब्ध है परन्तु इसका विधिवत प्रवर्धन भी किया जा सकता है, जोकि व्यवसायिक दृष्टि से काफी उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

विभिन्न भाषाओं में अड़ूसा के नाम

• Botanical	:	Adhatoda Vasica
• English	:	Malabar Nut
• Bengali	:	Bakas
• Gujrati	:	Alduso
• Konkani	:	Adolso
• Malayalam	:	Atalotakam
• Marathi	:	Aduldsa
• Punjabi	:	Bhekar / Basuti
• Tamil	:	Adadodai
• Sanskrit	:	Vasaka

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

44. सेमल मूसली (BOMBAX CEIBA)

सेमल को हिन्दी में सेमर अथवा सेमल, संस्कृत में शाल्मली, बंगाली में शिमुलगाछ, मराठी में सांवरी, गुजराती में शेमलो, पंजाबी में सिम्बल व अंग्रेजी में "सिल्क कॉटन ट्री" के नाम से जाना जाता है। इसका लेटिन नाम बाम्बेक्स सीबा है।

सेमल का वृक्ष विशाल कांटेदार होता है। सप्तपर्णी के वृक्ष के समान इसकी पत्तियां 5-7 तक गुच्छों में होती हैं। ये पत्तियां शीतकाल में गिर जाती हैं। पुष्प लाल या सफेद रंग के होते हैं जो मार्च के महीने में आते हैं। इसके फल लंबे व अण्डाकार छोटी लौकी की तरह लगते हैं। इसके सूखे फलों के अंदर सफेद रुई पायी जाती है जिसे अंग्रेज़ी में "इण्डियन कपोक" कहते हैं। रुई के बीच काले रंग के बीज भी पाये जाते हैं। इसके पुराने वृक्षों की छाल पर एक प्रकार के कृमि लगने से छोटे - छोटे कोटर बन जाते हैं जिनमें जेली की तरह का गाढ़ा स्राव जमा होता रहता है। यही स्राव निकल कर जम जाता है जिसे "मोचरस" कहते हैं।

सेमल के सभी अंग, जैसे-जड़ (मूसली), छाल, कांटे, गोंद (मोचरस), फूल, फल, रुई (कपोक) इत्यादि का औषधीय महत्व है। इस लेख में केवल "सेमल मूसली" अर्थात केवल इसकी उपयोगी जड़ प्राप्त करने के लिये अपनाये जाने वाले कृषिकरण की ही बात की गई है।

उपयोग : सेमल के वृक्ष की एक वर्ष से दो वर्ष तक की जड़ का ही उपयोग औषधियों में किया जाता है। इसे आयुर्वेद में "सेमल मूसली" के नाम से जाना जाता है। सेमल मूसली बल्य, वृष्य तथा वृहण होती है। वीर्य वृद्धि के लिए इसका प्रयोग चमत्कारी है। यह रसायन बाजीकरण के रुप में तिल के साथ उपयोग में लाया जाता है। छाल उतारी हुई सेमल की जड़ पीताभ-श्वेत वर्ण की, कोमल तथा लुआबी (Mucilaginous) होती है। पानी में भीगने से इसमें से काफी मात्रा में स्वच्छ लुआब निकलता है। यूनानी मतानुसार सेमल मूसली पहले दर्जे में शीत व रुक्ष होती है। सेमल मूसली को कच्चा या शकरकंद की तरह भून करके भी खाया जा सकता है। दो वर्ष पुरानी छिली हुई सूखी सेमल मूसली में निम्न तत्व पाये जाते हैं -

नमी (Moisture)	=	7.5 %
खनिज पदाथ (Mineral matter)	=	2.1%
प्रोटीन (Protein)	=	1.2%
वसा (fats)	=	0.9%
स्टार्च (starch)	=	71.2%
पैक्टिक सवस्टेंस (Pectic substances)	=	6.0%
सैल्यूलोज़ (Cellulose)	=	2.0%
फास्फाइड्स (Phospides)	=	0.3%
शर्करा (Sugar)	=	8.2%

जैसे-जैसे जड़ पुरानी होती जाती है इसमें से शर्करा, स्टार्च तथा पैक्टिक सबस्टेंस कम होते जाते हैं। Semul musli is reported to posess astringent, stimulant, tonic, aphrodisiac, emetic and demulcent properties. इसका उपयोग पेचिश तथा अतिसार (Dysentery) में भी किया जाता है।

सेमल मूसली शरीर में उत्तेजना का संचार करती है। शुक्र की निर्बलता में इसका चूर्ण दूध के साथ प्रतिदिन प्रात:तथा सायं (दो बार) कुछ दिनों तक सेवन करने से वीर्य शीतल एवं गाढ़ा हो जाता है। इससे नपुंसकता दूर होती है। वीर्यवर्धन के लिए प्रतिदिन 20 ग्राम सेमल मूसली रात्रि के समय एक गिलास दूध में भिगोकर 10 ग्राम मिश्री के साथ पीसकर सेवन करनी चाहिए। मिश्री व घृत के साथ इसका अवलेह क्षय रोग (टी.बी.) में दिया जाता है। सेमल मूसली को घी, जायफल व मिश्री में मिलाकर प्रमेह को दूर करने के लिए दिया जाता है। इतनी उपयोगी "सेमल मूसली" की कृषि करना उपयोगी व लाभकारी है।

सेमल मूसली का कृषिकरण

यूं तो सेमल के पेड़ की आयु 50 से 60 वर्ष तक होती है लेकिन "सेमल मूसली" प्राप्त करने के लिए इसकी 1-2 वर्ष पुरानी जड़ ही काम में आती है अत: इसकी खेती दो वर्षीय फसल के रुप में की जाती है।

भूमि : कोमल, दोमट, लाल, भुरभुरी व अच्छे जल निकास वाली भूमि में इसकी खेती करनी चाहिए। जल भराव वाली भूमि में इसकी खेती करना उपयुक्त नहीं होगा।

खाद : सेमल की खेती के लिये प्रति एकड़ 2 से 3 टन गोबर की सड़ी हुई या पत्तों की खाद उपयुक्त रहती है। रासायनिक खाद का प्रयोग न करें। खाद को खेत में भूमि की तैयारी के पूर्व ही डाल देना चाहिए।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

खेत की तैयारी : एक बार गहरी जुताई व उसके बाद दो-तीन बार अच्छी जुताई करके खेतों में ट्रेक्टर से या बैल वाले हल से 30-30 सेंटीमीटर की दूरी पर पक्तियां बना देवें।

बोने का समय व बुवाई : जून अथवा जुलाई की एक बरसात हो जाने के बाद खेत में बनी पंक्तियों के ऊपरी भाग पर हाथ से बीज को आधा इंच गहरा जमीन में गाड़ देवें (जैसे भिण्डी या कपास की बुवाई करते हैं)। पौधे से पौधे की दूरी 30 सेंटीमीटर रखी जानी चाहिए। इस प्रकार कतार से कतार की दूरी व पौधे से पौधे की दूरी 30 सेंटीमीटर रखनी चाहिए। यदि भूमि की उर्वरा शक्ति कम हो तो इसकी दूरी 40 से 45 सेंटीमीटर तक भी की जा सकती है। इसको "सीड-ड्रिल" से भी बोया जा सकता है।

बीज की मात्रा : प्रति एकड़ 3 से 4 किलो बीज पर्याप्त होता है।

सिंचाई : बरसात के दिनों में सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती है। यदि बरसात का अंतराल बढ़ जाये तो हल्की सिंचाई कर देनी चाहिए। प्रथम वर्ष में सर्दियों में प्रतिमाह दो सिंचाई व गर्मियों में चार सिंचाईयां करनी चाहिएं। दूसरे वर्ष बरसात में सिंचाई न करें। सर्दियों में केवल एक सिंचाई प्रतिमाह करें।

निराई-गुड़ाई : प्रारंभिक अवस्था में जब पौधा छोटा हो उस समय 1-2 बार निराई-गुड़ाई करें ताकि खरपतवार पौधों को दबाए नहीं। कुल्पा भी चला सकते हैं। किसी प्रकार के रासायनिक खरपतवार-नाशक का प्रयोग न करें।

बीमारी व उपचार : इसके पत्तों पर कीड़ा लगता है तथा वह उन्हें खाता रहता है। अत: ऐसे लक्षण दिखने पर नीम के पत्तों के घोल का छिड़काव कर देवें। गौ-मूत्र व पानी (50:50) का छिड़काव भी लाभदायक होता है। जानवरों से इसकी सुरक्षा अवश्य करें।

खुदाई : अगले वर्ष दिसम्बर/जनवरी में (अर्थात जब फसल 18 महीने की हो जाये तब) यह खुदाई करने लायक हो जाती है। खुदाई के पूर्व एक बार अच्छी सिंचाई कर देने से जड़ को उखाड़ने में सुविधा रहती है। इसका पेड़ तब तक 4 से 5 फुट तक ऊंचा हो जाता है अत: उसे खींचकर उखाड़ लिया जाता है।

जड़ की छिलाई : इसकी जड़ को उखाड़ कर मिट्टी साफ करके जड़ वाले हिस्से को चाकू से या ब्लेड से उसका छिलका उतार लेवें। तदुपरांत जड़ को पेड़ से अलग करके उसे घास पर या इसके ऊंपरी भाग का ही बिछौना बना कर दो दिन धूप में व उसके बाद छाया वाली जगह में सुखा देवें। पूरी तरह सूख जाने पर इसे बोरों में भरकर बिक्री के लिये भेजें।

उत्पादन : प्रति एकड़ इस फसल से 18 महीने में 1200 किलोग्राम से 1400 किलोग्राम सूखी जड़ प्राप्त होगी। वर्तमान में इसकी जड़ का बाजार भाव 20 से 25 रुपये प्रति किलो है। इस प्रकार प्रति एकड़ 20 से 30 हजार रुपये की फसल 18 महीने में मिलती है।

फसल पर होने वाला व्यय प्रति हेक्टेयर

भूमि की तैयारी पर व्यय	=	900/-
बीज की लागत	=	2000/-
बीज की बुवाई पर खर्च	=	500/-
निराई-गुड़ाई पर व्यय	=	1000/-
सिंचाई पर व्यय	=	1000/-
फसल उखाड़ने पर खर्च	=	2000/-
सफाई व सुखाने पर खर्च	=	3000/-
कुल खर्च	=	**10,400/-**

सेमल मूसली की खेती के संदर्भ में रखी जाने वाली प्रमुख सावधानियां

1. पहले वर्ष थोड़ा बीज खरीद कर इसके पेड़ अपने खेत की मेड़ पर लगा देवें ताकि प्रति वर्ष बीज आपको अपने खेत से ही मिलता रहे। इन पेड़ों को बीज उत्पादन के लिये ही सुरक्षित रखें। इससे हर बार आपको बीज खरीदना नहीं पड़ेगा।
2. पेड़ों से बीज तो मिलेगा ही, साथ ही इनका गोंद जिसे "मोचरस" कहते हैं, वह भी मिलेगा।
3. पहले थोड़े क्षेत्र में लगाकर उत्पादन करें तथा किसी बड़ी दवा बनाने वाली कंपनी को अपनी फसल का नमूना दिखाकर आप उससे बाई-बैक गारंटी की बात करें। इससे आपको भाव भी अच्छा मिल जाएगा। वर्तमान बाजार में सेमल मूसली, जिसका भाव 20-25 रुपये प्रति किलो है वह इतनी अच्छी गुणवत्ता वाली नहीं होती जैसी कि आप तैयार कर सकते हैं।
4. इस फसल को छायादार जगह में भी लगा सकते हैं। छायादार जगह में लगाने से एक तो उत्पादन अधिक मिलेगा दूसरे सिंचाई भी कम देनी होगी। ऐसे में खरपतवार भी कम आएगा।
5. एक ही खेत में इस फसल को लगातार न लें। फसल चक्र बदलते रहें।
6. जड़ों का भण्डारण नमी वाली जगह में नहीं करें।

सेमल मूसली से संबंधित अधिक जानकारी, खड़ी फसल देखने व बीज प्राप्त करने हेतु **राजस्थान एग्रो फोरेस्ट्री कार्पोरेशन** - बंगला नंबर 207, सेक्टर-7, न्यू पावर हाऊस रोड, जोधपुर-342003 (राजस्थान) फोन (0291) 430271, फैक्स (0291) 431539 से सम्पर्क किया जा सकता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

45. लटजीरा अथवा अपामार्ग

लटजीरा, जोकि संस्कृत में अपामार्ग तथा अंग्रेजी में प्रिकली चैफ फ्लावर के नाम से जाना जाता है तथा जिसका वैज्ञानिक नाम अच्यारन्थस एस्पेरा (Achyranthes Aspera) है, एक झाड़ीनुमा पौधा होता है जोकि सम्पूर्ण भारतवर्ष में वीरानी क्षेत्रों, बंजर स्थानों तथा जंगलों में अत्यधिक मात्रा में पाया जाता है। बरसात के समय यह प्राकृतिक रूप से अपने आप उगने वाला पौधा 2-3 फीट तक ऊंचाई प्राप्त कर लेता है तथा इस पर हरे-सफेद (ग्रीनिश-व्हाइट) रंग के फूल आते हैं। इसमें छोटे-छोटे बीज, जोकि इसकी टहनियों के अंत में लगते हैं, थोड़े तीखे से होते हैं तथा प्राय: कपड़ों से चिपक जाते हैं। अपामार्ग दो प्रकार का होता है - एक लाल तथा दूसरा सफेद। लाल अपामार्ग के डंठल का रंग लाल होता है तथा सफेद अपामार्ग के डंठल तथा पत्तों का रंग हरा (कुछ सफेदी लिए हुए) होता है। अनेकों औषधीय उपयोगों हेतु प्रयुक्त किए जाने के कारण अपामार्ग की भारतीय चिकित्सा पद्धति में महत्वपूर्ण भूमिका है तथा इसी कारण इसे "दिब्य बूटी" के नाम से भी जाना जाता है।

अपामार्ग के औषधीय गुण और उपयोग

अपामार्ग पौधे के पांचों अंग (पचांग) औषधीय गुणों से भरपूर होते हैं जिनको निम्नलिखित योग बनाकर औषधीय उपयोगों में लाया जा सकता है

- इसकी छ: माशा जड़ को पानी में घोलकर पिलाने से पथरी रोग में बहुत लाभ पहुंचता है तथा यह पथरी को टुकड़े-टुकड़े करके बाहर निकाल देता है।
- इसकी ताजी जड़ को दातुन के रूप में भी प्रयोग किया जाता है।

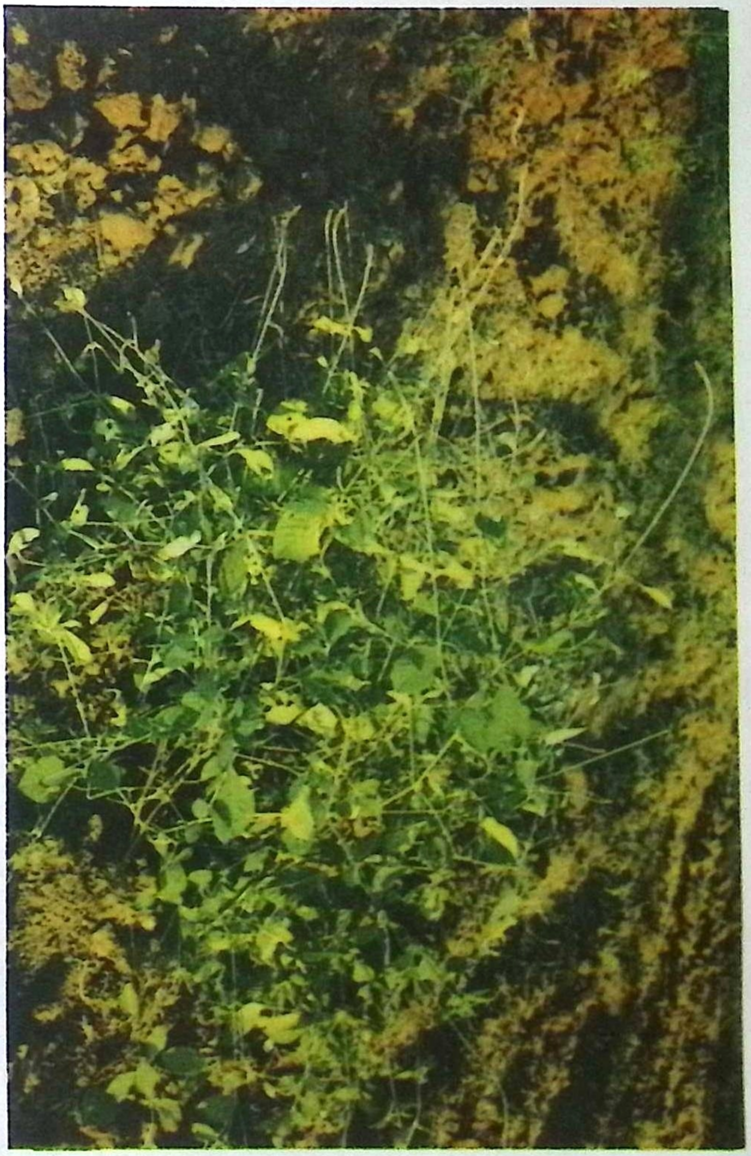

लटजीरा के पौधे

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

- इसकी जड़ का पेस्ट कैंसर के उपचार में उपयोगी है तथा यह पेट की गड़बड़ी में लाभकारी पाया गया है।
- अपामार्ग के ताजे पत्तों को पीसकर काली मिर्च, लहसुन और गुड़ के साथ मिलाकर गोलियां बनाकर देने से काले बुखार में लाभ होता है।
- इसका रस नासूर के ऊपर लगाने से नासूर भर जाता है।
- मोलक्का में इसकी पत्तियाँ पालक की तरह इस्तेमाल की जाती हैं।
- इस पौधे के बीजों को पीसकर उसका चूर्ण तीन माशे की मात्रा में सुबह-शाम चावल की धोवन के साथ देने पर बवासीर से पड़ने वाला खून बंद हो जाता है।
- इसके बीजों को दूध में डालकर बनाई गई खीर मस्तक के रोगियों के लिए उत्तम औषधि मानी जाती है।
- अपामार्ग के फूलों के डंठल और बीजों का चूर्ण साँप व अन्य जहरीले जीवों के डंक पर लगाने के काम में आता है।
- अपामार्ग का क्षार अस्थमा के रोगियों के लिए लाभकारी होता है।
- अपामार्ग के दाने (दो तोला) प्रतिदिन सुबह लगातार 365 दिन तक सेवन करने पर व्यक्ति दीर्घायु हो जाता है। इसके परागकण एलर्जी के लिए भी बहुत उपयोगी पाए गए हैं।
- इस पौधे का क्वाथ अपने मूत्रवर्धक गुणों के लिए प्रसिद्ध है और वह गुर्दों के जलशोथ में भी उपयोगी पाया गया है।
- श्वास नलिका पर भी अपामार्ग का उत्तम प्रभाव होता है। इसका सेवन करने पर कफ पतला होकर आसानी से बाहर निकल जाता है।
- बहुत से स्थानों में आदिवासी लोग अपामार्ग को गर्भ निरोधक के रूप में भी प्रयुक्त करते हैं।

अपामार्ग की खेती की विधि

यद्यपि अभी तो अपामार्ग वैसे ही इतनी अधिक मात्रा में प्राकृतिक रूप में ही प्राप्त हो जाता है कि इसकी खेती करने की आवश्यकता नहीं है परन्तु इसकी बढ़ती जा रही औषधीय उपयोगिता को देखते हुए इसके कृषिकरण की भी आवश्यकता पड़ सकती है।

इसकी खेती के लिये किसी विशिष्ट प्रकार की मिट्टी की आवश्यकता नहीं होती। मध्यप्रदेश की जलवायु इसकी फसल के लिये काफी उपयुक्त है। इसकी बिजाई 'छट्टा पद्धति' से की जा सकती है।

इसके लिए किसी विशेष रसायनिक उर्वरक की जरुरत भी नहीं होती। प्रायः अपामार्ग की फसल पर किसी प्रकार की कोई व्याधि का प्रभाव नहीं होता। कभी कभी "पाऊडरी मिल्ड्यू" नामक बीमारी फायलेक्टीनिया कोरिला कवक से हो जाती है, जिससे पौधों की पत्तियों एवं तनों पर सफेद पावडर जैसा पदार्थ जम जाता है जिससे पौधों की वृद्धि रुक जाती है। इसके उपचार के लिए माइक्रोआपोनाइज़्ड सल्फर का छिड़काव 5-10 दिनों के अन्तर से दो बार किया जाना चाहिए।

विभिन्न भाषाओं में लटजीरा के नाम

- Botanical : Achyranthes aspera
- English : Prickly Chaff Flower
- Bengali : Apang
- Gujrati : Aghedo
- Konkani : Kantmogra
- Malayalam : Katalati
- Marathi : Aghadha
- Punjabi : Kutri
- Tamil : Nayurivi
- Sanskrit : Apamarga

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

46. चन्द्रशूर

पुरातन काल ही से भारत की पहचान 'जड़ी-बूटियों एवं मसालों के देश' के रूप में दुनिया भर में रही है। यहां सैकड़ों पौध- प्रजातियां प्राकृतिक रूप से उगती हैं जिन्हें औषधीय दृष्टि से उपयोगी पाया गया है। इनमें से किन्हीं औषधीय पौधों की व्यवसायिक खेती भी प्रारंभ की जा चुकी है।

औषधीय फसलों में कुछ फसलें विशिष्ट परिस्थितियों तथा प्रक्रियाओं के बाद ही उगाई जाती हैं, जबकि कुछ बहुत ही कम संसाधनों में, कम सिंचाई के, अपेक्षाकृत कमजोर भूमि में बिना विशिष्ट तकनीकी जानकारी के सहजता से उगाई जा सकती हैं। ''चंद्रशूर'' ऐसी ही फसलों में से है जिन्हें कम लागत/कम संसाधनों में सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है।

चन्द्रशूर, जिसे वानस्पतिक शास्त्री 'लेपिडीयम सटाइवम' (Lepidium sativum) के नाम से पुकारते हैं, सरसों कुल का सदस्य होकर, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, गुजरात एवं महाराष्ट्र तथा अब मध्यप्रदेश में भी सफलतापूर्वक व्यवसायिक स्तर पर उगाया जा रहा है। इसके बीज लाल-भूरे रंग के होते हैं जो 2-3 मि.मी. लंबे, बारीक तथा बेलनाकार होते हैं। ये पानी लगने पर लसलसे (साबुदाना उबालने पर जिस प्रकार हो जाता है) हो जाते हैं तथा पानी सोख लेते हैं। इसके बीज स्वाद में तीक्ष्ण, करकराहट अथवा कड़वाहट युक्त होते हैं, जो अकेले खाने में अच्छे नहीं लगते हैं, अत: इसका सेवन दूध के साथ अथवा खीर के रूप में किया जाता है। चंद्रशूर के अन्य नाम हैं—असारिया, आरिया, हालिम, हाली, आलिया अथवा असालिया आदि।

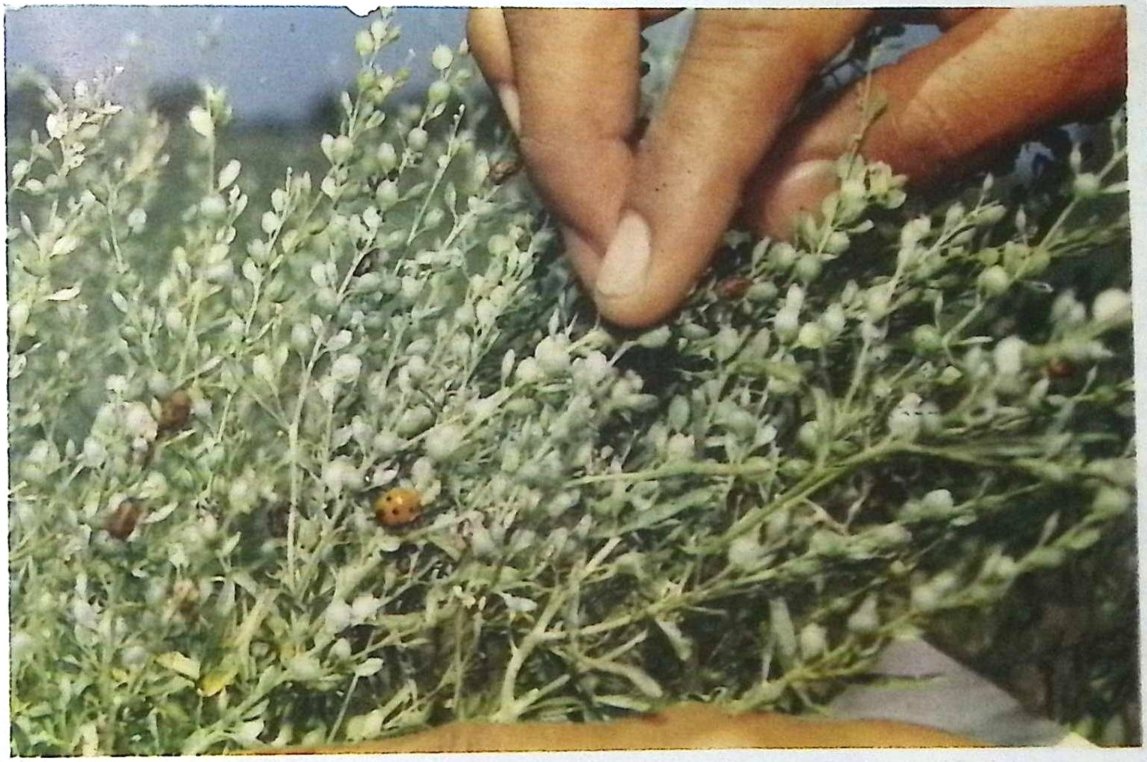

चन्द्रशूर का पूर्ण विकसित पौधा

चन्द्रशूर 30-60 से.मी. ऊंचा पौधा होता है जिसकी उम्र 3-4 माह की होती है। इसकी खेती रबी के मौसम में अलसी की भांति की जाती है। इसका पौधा भी अलसी से मिलता-जुलता ही

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होता है, परन्तु इसकी ऊंचाई एवं फैलाव अधिक होता है। चन्द्रशूर की खेती बहुत ही सरल है तथा यह बिना किसी विशेष प्रयास के की जा सकती है।

चन्द्रशूर के औषधीय उपयोग

चन्द्रशूर का बीज ही औषधीय उपयोग में आता है। वृद्धिकाल में बच्चों की बढ़वार यदि अवरुद्ध हो जाती है, ऊंचाई नहीं बढ़ती है, तो शारीरिक सुदृढ़ता-सुगढ़ता हेतु बच्चों को चंद्रशूर, खीर अथवा दूध के साथ दिया जाता है। ऊंचाई बढ़ाने के लिए विशेष रूप से इसे देते हैं। इसके अलावा प्रसव के उपरांत कई महिलाओं में दूध न उतरने की समस्या के निवारण हेतु भी चंद्रशूर उपयोगी पाया गया है। पाचन संबंधी विकार, नेत्र पीड़ा, वात, गैस, आंख आना (कंजक्टीवाइटस), मूत्रशुद्धि, दस्त साफ करना, प्रमेह निवृत्ति तथा विभिन्न स्त्री रोगों के साथ प्रसवोत्तर शारीरिक क्षतिपूर्ति हेतु भी आयुर्वेदिक चिकित्सा में चन्द्रशूर को कारगर औषधि माना गया है। इसे पशुआहार के रूप में देने से दुधारू पशुओं का दुग्ध उत्पादन बढ़ जाता है। ऊंटों को विशेष रूप से चन्द्रशूर खिलाया जाता है। **चन्द्रशूर के सेवन के बारे में मान्यता है कि यदि इसको खड़े-खड़े सेवन किया जाय तो ऊंचाई बढ़ती है, तथा बैठकर लिया जाये तो मोटाई बढ़ती है।** यह मान्यता सत्य तो नहीं, पर शारीरिक सुदृढ़ता के लिए निश्चित रूप से चंद्रशूर एक कारगर औषधि है।

बिजाई की विधि

चन्द्रशूर को रबी मौसम यानि अक्टूबर-नवम्बर माह में 3-4 बार जुताई कर खेत में 8-10 किलोग्राम बीज प्रति हेक्टेर की दर से छिड़काव करके बो देते हैं। गोबर खाद यदि पूर्व फसल में दी हो तो पुनः खाद देने की आवश्यकता नहीं होती है। दो बोरी डी.ए.पी. खाद बुआई के समय खेत में बिखेरना न भूलें। यदि एक-दो बार खेत की सिंचाई की जा सके तो यह लाभकारी रहता है। यद्यपि इसमें कोई विशिष्ट कीट-बीमारी नहीं लगती फिर भी यदि 'पाऊडरी मिल्डीव' लगता है, तो सल्फर डस्ट, तथा यदि कीड़ा लगे तो मोनोक्रोटोफॉस का छिड़काव करें। ऐसे क्षेत्र जहां अस्थाई दलदल होता है, वहां पर भी यदि इसे बिखेर दें, तो भूमि सूखने के साथ ही इसकी फसल तैयार हो जाती है। 90-120 दिन में जब पत्तियां हरी से पीली पड़ने लगें तथा फल में बीज लाल हो जाएं तो फसल काटने के लिए तैयार हो जाती है। तदुपरान्त इसे हंसिए/हाथ से उखाड़कर खलिहान में 2-3 दिन सुखाने के बाद डंडे से पीट कर अथवा ट्रेक्टर घुमाकर गहाई करके फिर बीज साफ कर लेते हैं। एक एकड़ से 4 से 5 क्विंटल बीज की उपज प्राप्त हो जाती है। वर्तमान में मध्यप्रदेश के नीमच व मन्दसौर की मंडियों में इसकी 1200-1500 रु. प्रति क्विंटल की दर पर बिक्री हो रही है।

चन्द्रशूर के बीजों का प्राप्ति स्थल—चन्द्रशूर का बीज रतलाम तथा मन्दसौर की मंडियों से प्राप्त हो सकता है। चन्द्रशूर का बीज मे. रवि एग्रोटेक, पिपलानी, बी.एच.ई.एल., भोपाल फोन : (0755) 754150 से भी प्राप्त किया जा सकता है।

औषधीय फसल चन्द्रशूर की प्रमुख विशेषताएं

- चन्द्रशूर यानि असारिया विभिन्न प्रकार की भूमियों में उगाया जा सकता है, यह हल्का उसरपन अथवा अम्लीयता भी सहन कर सकता है।
- इस फसल की सिंचाई यदि 1-2 बार ही की जाय तो भी अच्छी फसल हो जाती है।
- चन्द्रशूर की खड़ी फसल को पशु नहीं चरते।
- चन्द्रशूर की फसल को सामान्यतः कोई कीट-बीमारी भी नहीं लगती। अतः यह एक प्रदूषण मुक्त खेती है।
- चन्द्रशूर को ज्यादा खाद/उर्वरक की आवश्यकता भी नहीं होती है।
- घरेलू अथवा स्थानीय उपयोगिता (पशुआहार) होने से विपणन की समस्या नहीं है।
- चन्द्रशूर के पौधों की वृद्धि तेजी से होती है, अतः नींदा (खरपतवार) पनप नहीं पाता है। इससे स्वतः ही खेत में नींदा नियंत्रण हो जाता है। (यह कृषकों का अनुभव है जिस पर विस्तृत अनुसंधान की आवश्यकता है)।
- चन्द्रशूर के आयुर्वेदिक विशिष्ट योग में ''चन्द्रशूर हिम'' चन्द्रशूर मोदक, चन्द्रशूर यवागू, चन्द्रशूर फांट, चन्द्रशूर खीर प्रमुख हैं।
- यह कम लागत से अपेक्षाकृत अधिक लाभ देने वाली फसल है।
- चन्द्रशूर मलावरोध, चोट, अपच जैसी बीमारियों/विकारों में भी उपयोगी दवा है।

इस प्रकार चन्द्रशूर की खेती सीमित साधनों, कम धन एवं बिना किसी विशिष्ट कौशल के सफलता पूर्वक की जा सकती है। यदि किसी कारण से इसके उत्पादन को विक्रय करने में दिक्कत आये तो पशुपालकों-दुग्ध उत्पादकों को इसकी उपयोगिता बताकर स्थानीय मांग भी विकसित की जा सकती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

47. काली मूसली व काली हल्दी

1. काली मूसली

काली मूसली ''हाइपोक्सीडेसी'' कुल का पौधा है जिसका वानस्पतिक नाम ''कुरकुलिगो आरक्वाइडिस'' है। इसे हिन्दी में कालीमूसली, मूसली कन्द या सियाह मूसली कहते हैं। यूनानी में इसे मूसली सियाह तथा बंगाली में तलामली नाम से जाना जाता है। इसकी जड़ का आकार मूसल की तरह होता है इसी कारण इसे काली मूसली कहते हैं। बाजार में इसकी जड़ें काली मूसली के नाम से बिकती हैं। यह एक वर्षीय पौधा है जोकि ताड़ के छोटे पौधे के जैसा होता है तथा साल के जंगलों में बहुतायत से पाया जाता है। इसकी ऊंचाई करीब 30 से.मी. होती है। इसकी मूसला जड़ से पतली-पतली और जड़ें निकलती हैं। इसी मूसला जड़ का उपयोग विभिन्न औषधियों में किया जाता है। इसके फूल हल्के पीले रंग के होते हैं। यद्यपि यह पौधा पूरे देश में पाया जाता है परन्तु मुख्य रूप से यह मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा तथा बिहार के साल के जंगलों में पाया जाता है।

काली मूसली का पौधा

काली मूसली का उपयोग आयुर्वेदिक एवं यूनानी चिकित्सा पद्धतियों में किया जाता है। इसके कन्द या मूसला का उपयोग आयुर्वेदिक औषधियों के निर्माण में किया जाता है। यह स्वाद में कड़वी व लसलसी होती है। इसका उपयोग नपुसंकता को दूर करने तथा शक्तिवर्धक औषधियों में भी किया जाता है। इसके साथ-साथ इसका उपयोग बवासीर, दमा, चर्मरोग, पीलिया, सुजाक, मूत्र संबंधी विकारों तथा अतिसार के उपचार में किया जाता है। इससे कई यूनानी औषधियां भी बनाई जाती हैं। इसकी जड़ों में ग्लाइकोसाइडस व फालीसैथराइड (एक प्रकार की शर्करा) पाये जाते हैं। इसी के कारण यह शक्तिवर्धक होती है।

रोपण विधि— काली मूसली का रोपण बीजों द्वारा तथा पौध लगाकर-दोनों प्रकार से किया जा सकता है। इसके बीजों को रोपणी में उगा कर उनसे पौधे तैयार कर सकते हैं। तैयार पौधों को खेत में रोपित किया जा सकता है। रोपणी में बीजों से पौधों को तैयार कर खेत में लगाना उत्तम होता है। काली मूसली की खेती करने के लिये पहले तैयार पौधों की आवश्यकता पड़ती है अतः इसकी खेती करने से पूर्व प्रचुर मात्रा में पौध की व्यवस्था कर लेनी चाहिये। इसके पौधों को 15 से.मी. × 15 से.मी. की दूरी पर कतारों में जून-जुलाई माह में लगाते हैं। कतारों में लगाने से इसके बीच में अन्य कृषि कार्य करने में आसानी रहती है।

खेत की तैयारी— जिस खेत में काली मूसली की खेती करना हो उस खेत को तीन-चार बार अच्छी तरह से जुताई कर लेते हैं, जिससे खेत की मिट्टी भुरभुरी हो जाये। इसके लिये बलुवर दोमट मिट्टी अच्छी रहती है।

खाद— एक हैक्टेयर खेत के लिये 25-30 क्विंटल गोबर की खाद डालना अच्छा रहता है। इस पौधे को नमी व कार्बनिक तत्वों की भी अधिक आवश्यकता होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

निराई-गुड़ाई—फसल को प्रारम्भिक दिनों में खरपतवार से मुक्त रखने के लिये एक दो निराई व गुड़ाई करना लाभदायक रहता है।

सिंचाई—यदि खेत में नमी की कमी हो तो एक दो सिंचाई कर सकते हैं। जाड़े के दिनों में एक दो सिंचाई करने की आवश्यकता पड़ सकती है।

फसल—फसल करीब 10-11 महीने में तैयार हो जाती है। फसल तैयार हो जाने पर पौधों को जमीन से उखाड़ लेते हैं तथा कन्द (जड़) को छाया में सुखा कर विपणन हेतु भेज सकते हैं।

2. काली हल्दी

काली हल्दी जिन्जीबरेसी कुल का पौधा है तथा इसका वानस्पतिक नाम ''कुरकुमा सीजिया'' है। यह मुख्यतया पश्चिमी बंगाल, बिहार व मध्यप्रदेश के जंगलों में प्राकृतिक रूप से नमी वाले स्थानों पर पाया जाता है। यह हल्दी परिवार का ही एक पौधा है तथा यद्यपि इस पौधे की पत्तियां हल्दी की तरह की ही होती हैं परन्तु इसकी पत्ती के बीच में काले रंग की धारी होती है जिसके द्वारा हम इसे पहचान सकते हैं। यह एक-वर्षीय पौधा है तथा इसका कन्द (राइजोम) सुगन्धित होता है। मध्यप्रदेश में यह पौधा अमरकंटक के आसपास पाया जाता है। छिन्दवाड़ा जिले के पातालकोट में भी यह पौधा पाया जाता है परन्तु अत्यधिक दोहन के कारण आजकल यह पौधा लुप्त होता जा रहा है। पश्चिम बंगाल के कुछ भागों में इसकी खेती की जाती है तथा वहां पर इस पौधे के कंद को हल्दी के स्थान पर भी प्रयुक्त किया जाता है।

इस पौधे का उपयोग आयुर्वेदिक, यूनानी तथा अन्य चिकित्सा पद्धतियों में किया जाता है। आदिवासी लोग इस पौधे के कन्द का उपयोग अनेक बीमारियों के निराकरण के लिये करते हैं। इस कंद का उपयोग चोट, मोच, अन्दरूनी चोटों तथा दमा आदि के उपचार में किया जाता है। इसका कंद वात रोगों को दूर करने में भी प्रयुक्त किया जाता है। मध्यप्रदेश के लोग इस पौधे के कन्द को बहुत पवित्र मानते हैं तथा लोगों में ऐसी धारणा है कि जिसके पास काली हल्दी का कन्द होगा उसे कभी भी धन-धान्य की कमी नहीं होगी। इसके कन्द का उपयोग तंत्र-विद्या में भी किया जाता है। इस पौधे का कन्द प्राकृतिक कपूर का एक अच्छा स्रोत है। इस पौधे के कन्द का आसवन करके हम सुगन्धित तेल भी प्राप्त कर सकते हैं जिसका उपयोग सुगन्ध उद्योग में किया जा सकता है।

जलवायु व मिट्टी—यद्यपि इसकी खेती दोमट तथा बलुवर दोमट मिट्टी में की जा सकती है, परन्तु इसके लिये दोमट मिट्टी जिसमें जल निकास की अच्छी व्यवस्था हो, उत्तम रहती है। इसकी खेती नमी वाले स्थानों पर, जहां मिट्टी में कार्बनिक तत्वों की मात्रा अधिक होती है, अच्छी होती है। अधिक चिकनी मिट्टी व मुरम मिट्टी इसके लिए उपयुक्त नहीं। अधिक चिकनी मिट्टी में इसके कन्दों को बढ़ने का पर्याप्त अवसर नहीं मिलता है। इसके लिये नम उष्ण जलवायु, जहां 1500 मि.मी. वर्षा होती हो, ठीक रहती है। इसकी खेती के लिए ऐसी जलवायु जिसमें फसल की बढ़वार के समय समान रूप से बारिश होती हो, सबसे उपयुक्त है।

खेत की तैयारी—खेत में रोपण करने से पहले उसे अच्छी प्रकार से दो-तीन बार जोत लेते हैं, जिससे मिट्टी भुरभुरी हो जाये।

रोपण तकनीक—इसका रोपण कन्द के द्वारा किया जाता है। रोपण के लिये पुराने कन्दों में आये हुये नये कन्दों का प्रयोग किया जाता है। इसके लिए ऐसे कन्द जिनमें आँख (Nod) हो, को 30 से.मी. × 30 से.मी. की दूरी पर कतारों में जून-जुलाई महीने में लगाया जाता है।

सिंचाई—इसकी खेती के लिए खेत में नमी का रहना अत्यंत आवश्यक होता है। यदि खेत में नमी कम हो तो सिंचाई करने की आवश्यकता होती है। यदि बरसात अच्छी हुई है तो सिंचाई करने की आवश्यकता नहीं है। जाड़ों में एक दो सिंचाइयां करनी पड़ सकती हैं।

खाद—क्योंकि गोबर की खाद में कार्बनिक तत्वों की अधिक मात्रा होती है अत: मिट्टी में गोबर की खाद 12 क्विंटल प्रति एकड़ के हिसाब से डाली जानी चाहिये।

निराई-गुड़ाई—प्रारम्भ में फसल को खरपतवार से मुक्त रखने के लिए खरपतवार को निकाल कर खेत की दो बार गुड़ाई कर देनी चाहिये जिससे फसल अच्छी होती है।

फसल—यह फसल 9 से 10 महीने में तैयार हो जाती है। जब इसकी पत्तियां पीली पड़कर सूखने लगें तब समझना चाहिए कि फसल तैयार हो गयी है। फसल तैयार हो जाने पर कन्दों को जमीन से निकाल कर तथा उन्हें धोकर छाया में सुखा लेते हैं। इनका उपयोग विभिन्न औषधियों व सुगन्धित तेल निकालने हेतु किया जाता है। कन्द निकालते समय छोटे कन्दों को अगली फसल के लिए रख लेते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

48. तुम्बा की खेती

मरू क्षेत्र का नाम आते ही खतरनाक गर्मी, तूफानी रेतीली हवाएं एवं रेत के ढेर आंखों के सामने आ जाते हैं। प्राय: ऐसे स्थानों की कल्पना मात्र से ही लोग भयभीत हो जाते हैं तथा यहां पर वनस्पति की कल्पना भी नहीं कर पाते। परन्तु इसके बावजूद थार के रेगिस्तान में स्थित राजस्थान राज्य में जैव विविधता से भरपूर वानस्पतिक प्रजातियां पाई जाती हैं। यहां पर सामान्यत: लोग परम्परागत बाजरा या किसी अन्य ऐसी फसल की खेती ही करते हैं जो पूर्णत: वर्षा पर निर्भर रहती है। इस प्रकार यदि वर्षा समय पर न हो तो यहां के किसानों के सामने भुखमरी जैसी समस्या पैदा हो जाती है तथा इसे वे भगवान या भाग्य की विडम्बना मान लेते हैं।

ऐसे स्थानों पर परम्परागत फसलों के साथ-साथ या उनके स्थान पर वैकल्पिक फसल के रूप में **सनाय तथा तुम्बा** जैसी फसलों की खेती कर भाग्य की विडम्बना को बदला जा सकता है। इसी प्रकार की ऐसी कई अन्य फसलें भी हैं जिनकी खेती बहुत कम वर्षा में एवं कम खर्च में हो सकती है तथा उनके उत्पादों की कीमत भी काफी अच्छी मिल जाती है।

तुम्बा (सिटरूलस कोलोसिन्थिस) कुकुर बिटेसी कुल की ऐसी ही एक बहुवर्गीय भूशायी बेल है जो रेगिस्तानी क्षेत्रों में (प्राकृतिक) वन्य रूप में पाई जाती है। इसकी 4-5 प्रजातियां अफ्रीका एवं एशिया के उष्णकटिबंधीय प्रदेशों में मिलती हैं। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में इसकी तीन प्रजातियां—तुम्बा (सिटरूलस कोलो-सिंथिस), तरबूज (सिटरूलस बलगोरिस) व टिंडा (सिटरूलस पिस्तुलोसस) पाई जाती हैं है। इन सभी में से तुम्बा प्रमुख रूप से शुष्क क्षेत्रों में पाया जाता है।

तुम्बा के पूर्ण विकसित फल

तुम्बा को विभिन्न प्रदशों में एवं भिन्न-भिन्न भाषाओं में अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है। पंजाब में इसे धुडम्बा श्रुजागोशी; गुजरात में इन्द्रक, इन्द्रायण, इन्द्रवरुणा; महाराष्ट्र में कडुवृंदावन, पेय कुमुट; बंगाल में मकाल, करतम्मा एवं दक्षिणी राज्यों में टुमकीकाई, पवामेकीकाई, पापराबदामा आदि नामों से जाना जाता है। इसी प्रकार संस्कृत में इसे महेन्द्रा वरूनी, उर्दू में इनड्रयान, हिन्दी व बंगाली में ''गाली इनड्रयान'', मकल, गुजराती में इन्ड्राक, इन्ड्राकनन, मराठी में कदुर्वीनकवन, इनड्रयान, तमिल में पेक्कूमूटी, पेरीटूमटी, तेगलू में इटीपुच, पापारवुडम, कन्नड में पवमेक्केकमी, टुमटीकमी तथा मलयालम में पोकोम्मुती नामों से जाना जाता है।

इसका जड़ तंत्र काफी विकसित होता है तथा रेगिस्तानी इलाकों में तुम्बे की दूर-दूर तक फैली घनी बेलें रेत के क्षरण व उड़ने को रोकने में मुख्य भूमिका निभाती हैं। इसकी पत्तियां डेल्टाकार होती हैं। पुष्प ऊपर से हल्के हरे व नीचे से मटमैले रंग के होते हैं तथा नर एवं मादा पुष्प अलग-अलग होते हैं। इसके फल 5-8 इंच व्यास के होते हैं जो शुरू में हरे रंग के होते हैं तथा पकने पर कुछ पीले रंग के हो जाते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तुम्बा की खेती की विधि

तुम्बा की बेलें मरूस्थलीय रेतीली एवं गहरी भूमि में अधिक फैलती हैं तथा इस फसल की सर्वाधिक आर्थिक उपादेयता 150-300 मि.मी. वर्षा वाले क्षेत्रों में है। इसकी बुवाई हेतु मानसून की पहली वर्षा (जून/जुलाई) के बाद का समय उपयुक्त रहता है। अंकुरण हेतु बुवाई से पूर्व बीजों को बोरी के टाट में डालकर पानी में भिगो दें तथा भीगे हुए बीजों को 1-1½ फीट भूमि में गहरा गड्ढा करके गाड़ दें। इस पर थोड़ा-थोड़ा पानी समय-समय पर डालते रहें ताकि बीज भीगे रहें। 3-4 दिन बाद बीजों को बाहर निकाल कर टाट पर रगड़ लें तथा हवा में सुखा लें। तदुपरान्त इन बीजों की बुवाई करें।

बीजों द्वारा खेती

तुम्बा की बुवाई हेतु 3-3 मीटर दूर कतारों में 1-1 मीटर की दूरी पर 2-3 उपचारित बीज 2 से.मी. गहराई में दबाना उत्तम रहता है। सीधी बुवाई हेतु 200 ग्राम बीज प्रति एकड़ की दर से डालना पर्याप्त रहता है।

पौध रोपण द्वारा खेती

मई के अन्तिम सप्ताह या जून माह में प्लास्टिक की थैलियों में उपयुक्त खाद, काली मिट्टी व रेत को बराबर मात्रा में लेकर उपचारित किए हुए बीजों की बुवाई कर दें तथा बिजाई के एक माह के पश्चात् तैयार पौधों को 5-5 मीटर दूर कतारों में 1-1 मीटर की दूरी पर रोप दें। पौधरोपण के बाद हल्का पानी 10-15 दिन तक दें। पौध रोपण तकनीक द्वारा खेती हेतु प्रति एकड़ 100 ग्राम बीज की ही आवश्यकता होती है।

तुम्बा के फल नवम्बर माह में पककर पीले पड़ने लग जाते हैं अत: पहली तुड़ाई नवम्बर के अन्त में तथा दूसरी तुड़ाई दिसम्बर के अन्त में की जानी चाहिए। तुड़ाई के 20-25 दिन बाद फलों के सूखने/गल जाने पर बीज अलग कर लेने चाहिएं।

उपज : इसकी फसल से औसतन डेढ़ से दो क्विंटल बीज प्रति एकड़ प्राप्त हो सकता है।

तुम्बा की खेती के उपयोग : एक औषधीय फसल के साथ-साथ तुम्बा की खेती के अनेकों अन्य उपयोग भी हैं जो इसकी खेती को बहुपयोगी बनाते हैं। इसके प्रमुख उपयोगों को निम्नानुसार देखा जा सकता है—

(1) **औषधि के रूप में :** इसके विकसित फलों के सूखे गूदे में ''कोलोसींथ'' नामक औषधि का संगठन मिलता है जो बाजार में ''कड़वे स्वाद वाले गन्धयुक्त पाउडर'' के रूप में मिलता है। इसकी लुगदी से अत्यन्त गुणकारी औषधि ''जुलाब'' तैयार की जाती है जो दस्त हेतु उपयोगी है (परन्तु अधिक मात्रा में लेने पर खूनी दस्त हो सकती है)। यह औषधि यूरोप, अरब व सीरिया में बड़ी मात्रा में खरीदी जाती है। इसकी जड़ से प्राप्त रेजिन से भी कई औषधियां प्राप्त की जाती हैं जो पेट साफ करने, मानसिक तनाव, पीलिया, मूत्र रोग व गठिया आदि रोगों में गुणकारी साबित हुई हैं।

(2) **तुम्बा के बीजों का उद्योगों में उपयोग :** तुम्बे के बीजों से 21 प्रतिशत तेल निकलता है जो साबुन उद्योगों एवं अन्य उद्योगों में उपयोगी है तथा इसकी काफी मांग रहती है।

(3) **चारे के रूप में :** वर्षा ऋतु में तुम्बा के पौधे (10×2 मीटर की दूरी पर) उगाकर चारे के रूप में काम में लाए जा सकते हैं। यह चारा बकरियों की दुग्ध उत्पादन क्षमता में वृद्धि करता है।

(4) **भोज्य पदार्थ के रूप में :** इसके बीजों से आटा बनाकर उसे बाजरे के आटे में मिलाकर रोटी के रूप में खाया जाता है। बीज को पीसने से पहले उसे उबालकर उसका कड़वापन निकाल लिया जाता है।

(5) **पर्यावरण संरक्षण में :** तुम्बा रेत के टिब्बों के स्थिरीकरण में उपयोगी है तथा सूरत एवं कराची के क्षेत्रों में इसे ''आइपोमिया पेस्क्रेप्री'' के साथ उगाकर इसे टिब्बा स्थिरीकरण में प्रयुक्त किया जा रहा है।

(6) **मिश्रित खेती के रूप में :** बाजरा व मोठ के साथ भी तुम्बा लगाना लाभप्रद है। इसके मिट्टी क्षरण अवरोधी व नमी को सुरक्षित रखने के गुणों के कारण यह इन फसलों को हानि नहीं पहुंचाता है। इस प्रकार बाजरा व मोठ के साथ तुम्बा की फसल अतिरिक्त उपज के रूप में प्राप्त की जा सकती है तथा साथ ही इससे मृदा क्षरण में कमी लाई जा सकती है।

इस प्रकार तुम्बा एक बहुपयोगी पौधा है, जिसकी खेती से आर्थिक एवं पर्यावरणीय विकास दोनों ही हो सकता है। राजस्थानी में तुम्बा के बारे में कहा गया है—

''तुम्बा तरे, तुम्बा तारे,
जो तुम्बा की खेती करे उसे
तुम्बा कदेई न भूखा मारे''

अर्थात् तुम्बा सभी के लिए खुशहाली लाता है तथा तुम्बा की खेती करने वाला किसान कभी भी भूखा नहीं रहता।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

49. कौंच अथवा केवांच

कौंच अथा केवांच एक एकवर्षीय रोमयुक्त लता होती है जिसे संस्कृत में मर्कटी तथा कपिकच्छुका भी कहा गया है। इनमें मर्कटी से अभिप्राय है "वानर के समान रोमश" तथा कपिकच्छुका से अभिप्राय है कि "इसके रोमों का स्पर्श यदि वानर कर ले तो वह और अधिक खुजलाने लगता है"। शायद ही कोई ऐसा शैतान बच्चा हो (विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्र में) जिसने अपने साथियों को परेशान करने के उद्देश्य से कौंच अथवा केवांच का उपयोग न किया हो।

प्राप्ति स्थान

कौंच अथवा केवांच हिमालय की निचली उष्ण घाटियों से लेकर समस्त भारत के उष्ण प्रदेशों में उपस्थित मैदानी क्षेत्रों में पाई जाती है। यह प्राकृतिक रूप से अपने-आप भी उगती है तथा इसकी विभिन्न क़िस्मों की खेती भी की जाती है। अंडमान-निकोबार द्वीप समूहों तथा श्रीलंका में भी इसकी कृषि की जाती है।

परिचय

स्वभाव (Habit)— यह एकवर्षीय, चक्रारोही, शाकीय, रोमयुक्त लता है। यह वर्षा ऋतु में उत्पन्न होती है तथा इसमें शरद ऋतु में पुष्प तथा हेमन्त ऋतु में फल लगते हैं।

मूल (Root)— इसका मूल रक्तवर्ण होता है।

तना (Stem)— इसका तना हरा, शाकीय, बेलनाकार तथा अत्यधिक रोमिल होता है।

पत्ती (Leaf)— इसकी पत्ती हरी, संयुक्त, त्रिपत्रक, आकृति में विषमकोणीय तथा समचर्तुभुजाकार 3-6 इंच लम्बी होती है। इसकी मुख्य शिरा से 6-7 पाशर्विक शिराएं निकलती हैं। इसकी पत्ती का ऊपरी भाग चिकना होता है जबकि निचला भाग अत्यधिक रोमिल होता है। इसका पर्णवृन्त (Petiole) 6 से 11 से.मी. लम्बा होता है।

पुष्प (Flower) — पत्रकोणोद्रभूत (Axillary) तथा मंजरी (Pendulous Raceme) में लगे होते हैं। इसकी मंजरी नीचे की ओर झुकी होती है तथा पुष्प बैंगनी रंग के होते हैं। प्रत्येक पुष्प एक से डेढ़ इंच लम्बा होता है तथा मंजरी की लम्बाई 2 से 8 इंच तक होती है।

केवांच के पत्ते, फल तथा फलियां

फल (Furit)— केवांच में फल, शिम्ब या फली के रूप में लगते हैं। फली 3-5 के गुच्छों में पाई जाती है तथा फली उल्टे 'S' आकार में मुड़ी रहती है। यह 2 से 4 इंच लम्बी तथा 1/2 इंच चौड़ी होती है। इसके दोनों सिरे विपरीत दिशाओं में मुड़े रहते हैं। यह खाकी चमकीले रंग की तथा धारीदार होती है जिस पर अत्यधिक सघन चमकीले भूरे रोम होते हैं। ये रोम विषैले होते हैं। वन जाति की कौंच के रोम सघन, कड़े व अत्यधिक विषैले होते हैं जबकि वह प्रजाति जिसकी खेती की जाती है, के रोम कम विषैले होते हैं। ये खुजली भी कम उत्पन्न करते हैं। कौंच की एक ऐसी प्रजाति भी पाई जाती है जिसके फलों पर रोम नहीं होते।

बीज (Seed)— केवांच की प्रत्येक फली में 5-6 चमकीले बीज होते हैं जो काले, सफेद या चितकबरे हो सकते हैं। ये बीज अण्डाकार व चपटे होते हैं तथा बीज की मज्जा श्वेतवर्ण होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

केवांच के प्रमुख औषधीय उपयोग

कौंच के मूल, बीज, पत्ती तथा रोम का औषधीय महत्व होता है। मुख्यतया इनके औषधीय उपयोग निम्नानुसार हैं—

पत्ती— कौंच की कोमल पत्तियों का प्रयोग सब्जी के रूप में किया जाता है। यह अल्सर के रोगी के लिए फायदेमंद होती हैं। पत्तियां पशुओं के लिए चारे में भी काम में ली जाती हैं। कोमल पत्तियों का अचार वात रोग में भी लाभदायक है। पत्तियों को कालीमिर्च के साथ लेने से ये कृमिनाशक होती हैं। इसके अतिरिक्त पत्ती का रस सिरदर्द तथा खून को भी साफ करता है।

मूल— कौंच की जड़ रक्तवर्ण, शक्तिदायक व मूत्रल (diuretic) होती है।

—जड़ के क्वाथ को शहद के साथ मिलाकर देने से यह हैजे में हितकर होती है।

— जड़ ज्ञान तंतुओं को शक्ति देती है अत: सन्निपात की बेहोशी में यह अतीव लाभप्रद है।

—कौंच के मूल का क्वाथ किडनी को साफ करने वाला तथा अधिक पेशाब लाने वाला होता है।

—मूल का क्वाथ योनि शैथिल्य व शिश्न-शैथिल्य को दूर करता है।

—मूल को पानी में पीसकर उदर पर लेप करने से यह जलोधर में हितकारी होता है।

—इसके मूल को अकरकरहा के साथ मिलाकर मातृदुग्ध में पीसकर पिलाने से यह बालापस्मार में हितकारी होता है।

—इसके मूल के क्वाथ में शहद मिलाकर सेवन करने से यह विसूचिका में लाभकारी होता है।

—मूल-चूर्ण तथा कपिव्य फल मज्जा चूर्ण का दूध के साथ सेवन वन्ध्यत्व दूर करता है।

—मूल का क्वाथ ज्वर में हितकर होता है।

—मूल, रासना, बला तथा एरण्डमूल कषाय के साथ यशभस्म का सेवन कम्प्युक्त पक्षाघात को ठीक करता है।

रोम— कौंच की फली पर लगे कड़े रोम अत्यन्त विषैले होते हैं तथा इनके स्पर्श मात्र से ही खुजली उत्पन्न हो जाती है। दूध, दही या गोबर मलने से यह खुजली दूर की जा सकती है। रोम में एक एंजाइम-Mucanain तथा एक रसायन 5-hydroxytryptamine पाया जाता है।

— रोमों को घी के साथ मिलाकर त्वचा पर लगाने से शून्यवात दूर होता है।

— रोम को गुड़ तथा शहद के साथ लेने से पेट के कीड़े मर जाते हैं।

— रोम सहित फली की छाल तथा श्वेत खादिर को जल में पीसकर थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहने से संखिया से उत्पन्न विष लक्षण शांत हो जाते हैं।

— रोम से लीवर तथा पित्ताशय की बीमारियों को दूर करने की औषधियां निर्मित की जाती हैं।

—रोम में उपस्थित एंजाइम तथा रसायन के कारण ही खुजली व त्वचा पर दर्द होता है। इसका प्रभाव 3-5 मिनट तक रहता है।

बीज व फली— कौंच के बीज का रासायनिक संगठन निम्नानुसार है—

Moisture	—	9.1%
Protein	—	25.03%
Ether extract	—	2.96%
Fibre	—	6.75%
Mineral	—	3.95%
Calcium	—	0.16%
Phosphorus	—	0.47%
Iron	—	0.02%

विभिन्न भाषाओं में कौंच के नाम

हिन्दी	—	कौंच, केवाँच, क्रोंच.
बंगला	—	अलकुची
मराठी	—	खाजकुहिली, कंचकुरी, कवाचा.
गुजराती	—	कौंच, कवच, किवांच.
तेलगु	—	पिलियाडुगु, डुलागोंडी.
तमिल	—	पुनाइक काली
कन्नड़	—	नसुकुन्नी
मलयालम	—	नईकोरना
उड़िया	—	वाईखुजली कैंचू
पंजाबी	—	गाजली
अंग्रेजी	—	काउहेज (Cowhage), कॉविच (Cowitch).
Family	—	Papilionoideae

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इनके अतिरिक्त इसमें सल्फर तथा मैंगेनीज भी कुछ मात्रा में उपस्थित होते हैं। इसके बीजों में कुछ रसायन जैसे— 4-diHydroxy Phenylalanine (1.5%), Glutathione, Lecithin, Gallic Acid & Glucoside भी उपस्थित होते हैं।

इसके बीजों में कुछ अल्केलाइड्स भी पाए जाते हैं जिनका कुल प्रतिशत 0.53% होता है। इनमें प्रमुख हैं— Nicotine, Prurieninine ($C_6H_{16}O_2N_2$) तथा Prurienidine ($C_6H_{15}O_3N_3$)

इन बीजों में पांच प्रकार के क्षार (bases) भी पाए जाते हैं—Base-P, Base-Q, Base-R, Base-S & Base-X.

बीज में लगभग 5.9% गहरे भूरे रंग का तेल पाया जाता है जिसमें वसीय अम्ल का संगठन निम्नानुसार होता है—

Saturated Fatty acid (Stearic & Palmitic) =22.4%
Unsaturated Fatty acid (Oleic & linoleic) =76.7%
Unsaponifiable matter contains β-sitosterol.

बीज व फली का औषधीय महत्व

—कौंच की कोमल फलियों का अचार तथा सब्जी बनती है जो शक्तिदायक है तथा वातरोगों में लाभप्रद होती है।

—कोमल फलियां पशुओं के चारे में भी प्रयुक्त की जाती हैं।

—कौंच बीज तथा गेहूं समान मात्रा में लेकर उसे दरदरा पीसकर तथा इसका दलिया बनाकर दूध में उसकी खीर बनाएं। इसे मिश्री, घी तथा शहद के साथ लेने से बल वीर्य की वृद्धि होती है तथा शरीर ओजस्वी बनता है।

—कौंच बीज, विदारीकंद, असगन्ध, लोध्र तथा गोखरु से प्राप्त तेल क्षय रोग में लाभकारी होता है।

—इसके बीज अत्यन्त कामोदीपक होते हैं।

—बीजों के रस को शहद तथा अदरक रस में मिलाकर सेवन करने से श्वासरोग शांत होता है।

—बीज चूर्ण का सेवन मधु के साथ करने से श्वेतप्रदर में लाभ होता है।

—बीज चूर्ण का सेवन जल के साथ करने से मूत्रकृच्छ में लाभ होता है।

—बीजों को जल में पीसकर 7 दिन तक उपयोग करने से उपदंश में लाभ होता है।

—बीज चूर्ण का दूध के साथ सेवन शुक्रमेह को दूर करता है।

—बीज की खीर अर्दित में लाभकारी होती है।

—कौंच बीज, शालपर्णी व शतावरी के साथ सेवन करने से शारीरिक दुर्बलता दूर होती है।

—कौंच बीज, तोरई, ताल मखाने, वंशलोचन तथा मिश्री का चूर्ण गाय के दूध के साथ लेने से वीर्य सम्बन्धी सभी रोग दूर होते हैं।

—कौंच बीज, रुमीमस्तङ्गी, सफेद मूसली, मोचरस, खस-खस दाना तथा शतावर के समान मात्रा के चूर्ण को गरम दूध के साथ लेने से प्रदर, प्रमेह तथा धातु क्षीणता दूर हो जाती है।

—कौंच बीज, शतावरी, मुलहटी, आमलक, विदारीकंद, गोखरू, सफेद मूसली, सालमपंजा तथा जायफल का मिस्री के साथ मिश्रण कर दूध के साथ सेवन करने से वीर्य वृद्धि तथा कामशक्ति प्रबल होती है।

कौंच का कृषिकरण

भारत के जंगलों में कौंच प्राकृतिक रूप से पैदा होता है। इसकी एकवर्षीय चक्रारोही लताएं झाड़ियों पर चढ़ जाती हैं। जंगलों के अत्यधिक दोहन के कारण कौंच की नियमित आपूर्ति हेतु इसकी कृषि करना अत्यन्त आवश्यक हो गया है। कौंच की लता को चढ़ने के लिए सहारा वृक्षों (Supporting Plants) की आवश्यकता होती है। सहारा वृक्षों का चयन करते समय इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि वृक्ष शीघ्र बढ़त वाला (Fast growing) हो। इसके लिए अलग-अलग जलवायु के अनुसार अलग-अलग पेड़ों को चुना गया है। इस संदर्भ में

वसुन्धरा
बायो-आर्गेनिक्स
52, राजस्व कॉलोनी, टंकीपथ, उज्जैन 456010 (म.प्र.)
फोन : 514547 फैक्स (0734) 562423
□ कृषि, उद्यानिकी, पुष्प, सब्जी, बागवानी तथा औषधीय-सुगन्धीय पौधों से संबंधित सम्पूर्ण मेटेरियल एवं परामर्श सेवाएँ
□ नीम युक्त जैविक खाद, माऊन्ट नेचुरल फर्टीलाइजर, नीम खली, करंज खली, बोनमील युक्त खाद, स्टेरामील
□ जैविक खाद - व्याधि नियंत्रण हेतु बॉयो पेस्टीसाइड की सम्पूर्ण श्रृंखला
□ इज़राइल के फोलियर (एन.पी.के.+माइक्रो) फर्टीलाइजर
□ स्पेन के मोती ओसाट् नेपसैक स्प्रेयर तथा केमाटेल, इंग्लैंड के नोझल्स तथा ताईवान के ट्रेक्टर माउन्टेड पावर स्प्रेयर

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मध्य भारत के लिए-1 अगस्ती (Sesbaria Grandiflora), 2-जेट्रोफा (Jatropha curcas) तथा 3. सहजन (Moringa oleifera) ज्यादा उपयोगी प्रतीत होते हैं।

ये तीनों तीव्र बढ़ने वाली प्रजातियां हैं। प्रथम वर्ष इन सहारा पौधों की नर्सरी तैयार कर या नालियां बना कर सीधा वृक्षारोपण भी किया जा सकता है। वृक्षारोपण करते समय इन पौधों को अधिक नजदीक लगाया जाता है। अर्थात् पौधे से पौधे की दूरी 1 मीटर तथा कतार से कतार की दूरी 2 मीटर होनी चाहिए। एक वर्ष तक इन्हें पाल-पोस कर बड़ा करें। दूसरे वर्ष जून-जुलाई में प्रत्येक पौधे के पास एक या दो कौंच के बीज बो देने चाहिएं। यदि पानी बरस रहा हो तो सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती। पानी नहीं बरसने पर हल्की सिंचाई करते रहें। एक महीने में कौंच की लता इस सहारा पेड़ के ऊपर चढ़ जाएगी। अक्टूबर-नवम्बर में इस बेल पर फूल लगने शुरू होंगे व दिसम्बर-जनवरी में फलियां लगनी शुरू हो जाएंगी।

कौंच की पकी हुई फलियों को तोड़ने के लिए बाँस के डंडे के आगे लोहे का तार बांध कर यंत्र बनाया जाता है। इस यंत्र से पकी हुई फलियां तोड़ कर इकट्ठी करते रहें और जब सारी फलियां इकट्ठी हो जाएं तो डंडे से इनके बीज कूट कर अलग करके बोरों में भर लें। जनवरी के अंतिम सप्ताह में इसकी जड़ को भी खोद करके निकाल लें। इस प्रकार कौंच के बीज व जड़ दोनों का उत्पादन मिलता है।

उत्पादन

कौंच की विधिवत खेती से प्रति एकड़ 6.5 क्विंटल बीज का उत्पादन मिलता है जिसका वर्तमान बाजार मूल्य लगभग 25/- रुपये प्रति किलो है। इसके अतिरिक्त एक क्विंटल से 2 क्विंटल प्रति एकड़ जड़ें भी प्राप्त होती हैं जिनका वर्तमान बाजार भाव 15-20/- रुपये प्रति किलो है।

कौंच की खेती द्वारा कौंच का बीज व जड़ें तो मिलती ही हैं साथ ही सहारा पौधों से भी अतिरिक्त आमदनी होती है। अगस्ती, सहजन तथा जेट्रोफा-तीनों की खेती से प्रति वर्ष आय सम्भव है। इतना ही नहीं इन पौधों के बीच में छाया व नमी पसंद करने वाले औषधीय पौधों की खेती भी की जा सकती है। सर्पगंधा एवं कलिहारी की खेती इनके बीच में सफलता पूर्वक कर सकते हैं।

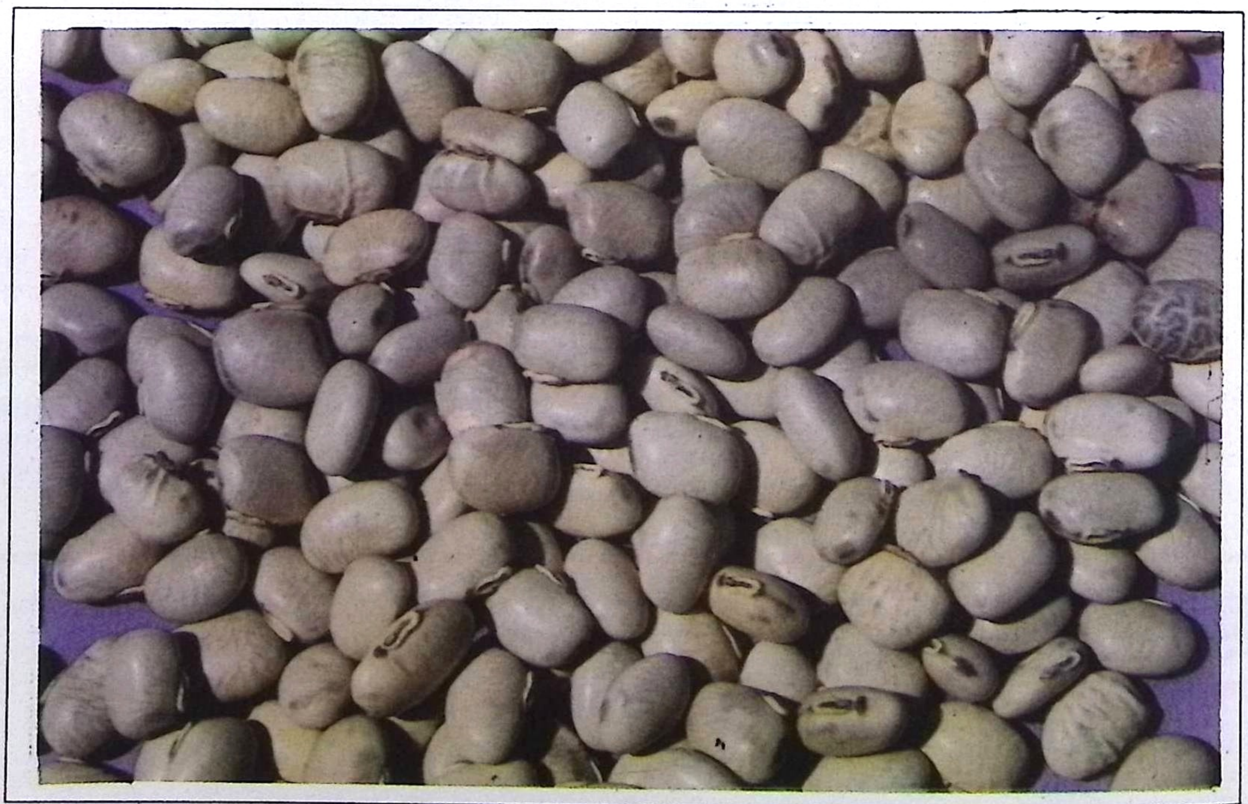

केवांच के बीज

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

50. केयोकन्द (कास्टम स्पियोसस)

केयोकन्द जमीन के अन्दर पैदा होने वाला प्रकन्द है जो 'स्टीयरायडल हारमोन' निर्मित करने वाला ''डायोस्जेनिन' नामक महत्वपूर्ण द्रव्य धारित करता है। यह पौधा 'जंगली कन्द' के नाम से भी जाना जाता है जो बंगाल से महाराष्ट्र तक तथा आसाम से हिमाचल प्रदेश तक के पर्वतीय प्रदेशों में प्राकृतिक रूप से वनों में पैदा होता है। इसकी गुणकारी प्रकृति के कारण अब औषधि जगत ने इसे खेतों में मौसमी खेती के रूप में पैदा करना शुरु कर दिया है।

संक्षिप्त विवेचना

वनस्पति की दुनिया में जिन्जिवरेसी परिवार के इस सदस्य का नाम ''कास्टस स्पियोसस'' है। विभिन्न प्रदेशों में इसके भिन्न-भिन्न स्थानीय नाम प्रचलित हैं, जैसे महाराष्ट्र में 'केमका', बंगाल में 'किय', उत्तरप्रदेश में 'केवकन्द', असाम में 'कियू' आदि। इसकी प्राकृतिक पैदाईश बंगाल, आसाम, मेघालय के ऊष्णकटिबंधीय आर्द्र प्रदेशों में; बिहार, उत्तरप्रदेश और हिमाचल प्रदेश के मिश्रित वनों में, तथा उड़ीसा, मध्यप्रदेश तथा महाराष्ट्र के जंगलों के आर्द्र प्रदेशों में होती है। अतिवृष्टि के ऐसे क्षेत्र जो गरम जलवायु धारित करते हैं जैसे-श्रीलंका, मलेशिया, वर्मा तथा चीन आदि में भी यह प्राकृतिक रूप से उगता है।

केयोकन्द का मनोहर फूल

कन्द के रूप में होने तथा आकर्षक फूल उत्पादित करने के कारण कई बागानों में शोभा युक्त प्रजाति के रूप में भी इसे लगाया जाने लगा है। सीज़नल होने से कन्द जमीन में रहकर वर्षा ऋतु प्रारंभ होते ही प्रस्फुटित होकर फूलने तक जमीन के ऊपर दिखने लगते हैं। इसे लगभग सात माह तक जमीन के ऊपर देखा जा सकता है। सितम्बर-अक्टूबर के माह में इसमें आकर्षक फूल देखने को मिलते हैं। दिसम्बर माह तक यह पौधा बीजान्वित होकर सूख जाता है तथा इसका कन्द जमीन के अन्दर दबा रहता है।

केयोकन्द के औषधीय गुण

इस पौधे के कन्द से 'ज्योस्जेनिन' नामक द्रव्य निकलता है, जिसका प्रयोग 'स्टीयराइड-हार्मोन' के विनिर्माण में किया जाता है। आधुनिक खेल जगत में तथा हार्मोन-डेफीशिएंसी की आपूर्ति के लिये हार्मोनल उपचार की भूमिका को नहीं भुलाया जा सकता। इसी कारण अब प्रकृति की इस देन को खेतों में उत्पादित किया जाने लगा है तथा अनेकों फार्मास्यूटिकल उद्योग व औषधियों के निर्माता इसकी खेती से जुड़ने लगे हैं। लिली जैसे आकर्षक सजावटी फूलों की दुनिया में इसे बगानों की शोभावर्धन के उद्देश्य से भी लगाया जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

केयोकन्द की खेती की विधि

'केयोकन्द' की खेती की विधि को निम्नानुसार देखा जा सकता है—

भूमि का प्रकार तथा खेत की तैयारी

यद्यपि दुमट मिट्टी में केयोकन्द की फसल अच्छी होती हैं परन्तु यह क्षारीय मिट्टियों में भी उगाया जा सकता है।

इसकी खेती के लिए भूमि की तैयारी हेतु खेतों की जुताई अच्छी तरह से तीन-चार बार करना चाहिए क्योंकि यह भूमिगत कन्द की खेती है। कन्द आकार की बढ़ोतरी करने के उद्देश्य से गोबर खाद की अच्छी मात्रा खेतों में डालकर जुताई करना उत्तम होगा ताकि जैविक खाद मिट्टी की निचली सतहों तक मिश्रित हो जाये।

जलवायु

ऊष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में अच्छी आर्द्रता धारण करने वाले क्षेत्र इसकी फसल के लिये उपयुक्त रहते हैं। 40 से 45 डिग्री सेन्टीग्रेड तापमान तथा 1200 से 1600 मि.मी. वार्षिक वर्षा में इसकी फसल बहुत अच्छी होती है। यदि वर्षा कम हो तो सिंचाई से पानी की आपूर्ति की सलाह दी जाती है।

रासायनिक खाद

भूमिगत तने के विकास की आवश्यकता को ध्यान में रखकर इसकी फसल को फास्फोरस युक्त खाद देना अधिक उपयोगी होगा।-अत: 2:1:1 के अनुपात वाली नाईट्रोजन, फास्फोरस तथा पोटाश युक्त रासायनिक खाद इसकी खेती के लिए उचित होगी। इसके लिए प्रति हैक्टेयर 60 किलो नाईट्रोजन, 30 किलो फास्फोरस तथा 30 किलो पोटाश युक्त एन.पी.के. या अमोनिया फॉस्फेट दिये जाने की सलाह दी जाती है।

बिजाई की विधि

केयोकन्द की खेती इसके बीजों अथवा प्रकन्द की कलियों के रोपण द्वारा की जाती है। जहां प्रकन्दों की मात्रा सीमित हो वहां इसके बीजों को नर्सरी में तैयार करके जुलाई माह में खेतों में उचित अन्तराल देकर लगाया जा सकता है। उस समय तक ये पौधे लगभग 10-12 से.मी. ऊंचाई के हो जाते हैं।

यदि प्रकन्दों से इनका रोपण करना हो तो प्रकन्दों को ऐसे छोटे-छोटे टुकेड़ों में काट लिया जाता है जिनमें से प्रत्येक टुकड़े में कम से कम दो कलियां हों। इन कलियों को अप्रैल-मई माह में जमीन में 10 से.मी. नीचे गड़ा दिया जाता है। प्रकन्दों से बिजाई किए जाने पर अंकुरण लगभग 90% होता है जबकि बीजों से अंकुरण लगभग 60-65% होता है। ये बीज/प्रकन्द 50×50 से.मी.की दूरी पर लगाए जाने चाहिएं।

सिंचाई

यदि वर्षा के पूर्व इसके बीज या कन्द या कलियां लगाई जाती हैं तो सिंचाई की जाना आवश्यक होगा। वर्षाकाल समाप्त होने के बाद भी अक्टूबर-नवम्बर में एक बार प्रति माह पानी देना इसकी बेहतर फसल के लिए श्रेयस्कर होगा।

निंदाई-गुड़ाई

माह में लगभग दो बार पौधों में मिट्टी चढ़ाने तथा खरपतवार से खेतों की सफाई करना उचित होगा।

कन्दों की निकासी

यह लगभग 7-8 माह की फसल है तथा जून-जुलाई में बीजने के उपरान्त फरवरी माह में इसके कन्द को जमीन से खोदकर निकाल लिया जाता है।

डायोस्जेनिन की प्राप्ति

केयोकन्द में जलीय अंश का प्रतिशत लगभग 85% होता है। इसमें से डायोस्जेनिन की प्राप्ति लगभग 1.5% होती है। यदि कन्दों को दो-तीन माह तक जमीन के अन्दर ही पड़े रहने दिया जाये तो इनमें डायोस्जेनिन का अंश बढ़ सकता है।

आर्थिक लाभ

केयोकन्द की खेती पर प्रति हैक्टेयर समूचा व्यय लगभग तीन हजार रुपये होता है। इसकी एक हैक्टेयर की खेती से लगभग 400-450 क्विंटल हरे प्रकन्द प्राप्त हो सकने का अनुमान है जिनके सूख जाने पर लगभग 60-70 क्विंटल प्रकन्द प्राप्त होंगे। सूखे प्रकन्दों का बाजार भाव लगभग 1200 रु. प्रति क्विंटल है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

51. धतूरा (डाटूरा)

धतूरा अथवा डाटूरा लिनियस ''सोलनेसी'' परिवार का एक पौधा है जो संसार के ऊष्ण कटिबंधीय तथा उष्ण शीतोष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में सर्वत्र पाया जाता है। दुनियां भर में इसकी कुल 15 प्रजातियां पायी जाती हैं, जिनमें से डा. इनोक्सिया, डा. मेटेल तथा डा. स्ट्रामोनियम औषधीय वनस्पति के रूप में महत्वपूर्ण हैं। ये सभी जातियां यदि कम मात्रा में ली जायें तो औषधि का कार्य करती हैं तथा ज्यादा मात्रा में ली जाएं तो नशीली तथा जहरीली होती हैं। शेष जातियां सजावटी होती हैं। डा. स्ट्रामोनियम से हायोसायामिन सामग्री तथा डा. इनोक्सिया और डा. मेटेल में स्कीपालेमीन नामक एल्केलाइड अच्छी मात्रा में पाये जाते हैं। एल्केलाइड स्कीपालेमीन का उपयोग मरीज़ को बेहोश करने की दवा के रूप में, बच्चा पैदा होने के समय दवा के रूप में, और दस्त रोकने की दवा के रूप में किया जाता है। इनसे स्कीपालेमीन बनाने तथा इनके आर्थिक महत्व को ध्यान में रखते हुए यहां पर धतूरा इनॉक्सिया तथा धतूरा मेटेल की खेती को विस्तार से वर्णित किया जा रहा है।

सामान्य विवरण : धतूरा इनोक्सिया वार्षिक झाड़ियों की तरह उगने वाला पौधा है तथा इसकी ऊंचाई लगभग 90 से 120 सें.मी. तक होती है। यह डा. मेटेल से काफी मिलता-जुलता है। इस पौधे की उत्पत्ति मैक्सिको है तथा यह पश्चिमी हिमालय, डेकन पेनिसुला, पश्चिमी पहाड़ी क्षेत्रों एवं भारत में कुछ अन्य स्थानों पर, ज्यादातर अपने आप उगता है। डा. मेटेल से इसकी अलग पहचान, घने मृदुरोमिल रोम, दस दांतेदार पंखुड़ियों और फलों, लम्बे और नरम कटक के कारण है। इसके पत्ते गहरे हरे, अण्डाकार तथा कुछ-कुछ हृदयाकार होते हैं। इसकी पत्तियां त्रिभुजाकार तथा असमान आधार की अण्डाकार होती हैं। इसके फल गोल और अव्यवस्थित रूप से स्फुटित होने वाले होते हैं।

धतूरे की दूसरी किस्म डा. मेटेल है जोकि सबग्लेबरस, फैलाबदार तथा कभी-कभी झाड़ीदार भी दिखाई देता है। यह पौधा सम्पूर्ण भारत में प्राकृतिक रूप में पाया जाता है। कहीं-कहीं पर इसे बगीचों में उगाया भी जाता है।

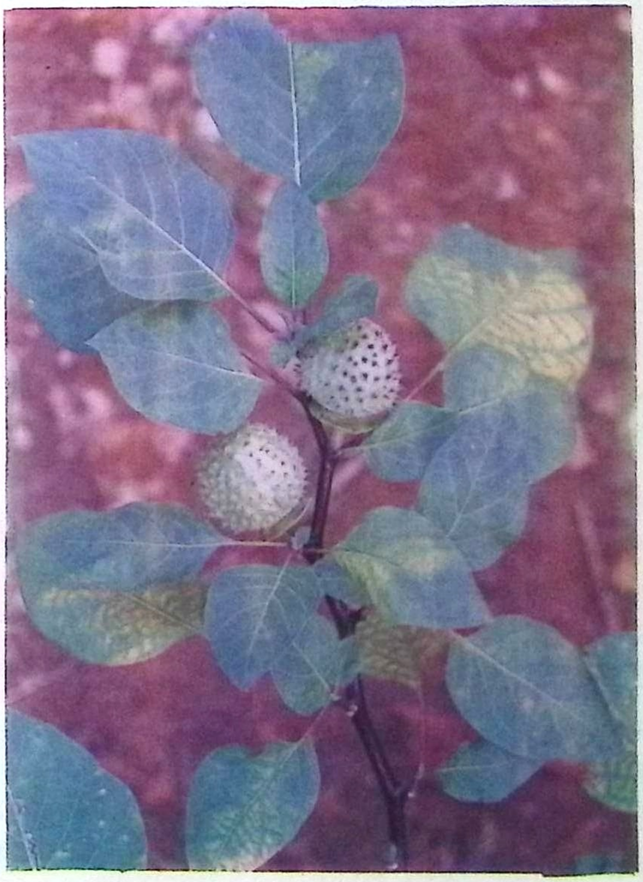

धतूरे का फलयुक्त पौधा

धतूरे की खेती हेतु कृषि तकनीक

भूमि : धतूरे की खेती किसी भी प्रकार की भूमि में की जा सकती है किन्तु अच्छी पैदावार के लिए चिकनी दुमट मिट्टी तथा खुले एवं अच्छे प्रकाश वाली जगह इसकी खेती के लिए उपयुक्त होती है।

खेत की तैयारी : धतूरे की खेती के लिए खेत की दो-तीन बार हल से अच्छी तरह जुताई करनी चाहिए। तदुपरान्त लगभग 10 टन गोबर की अच्छी सड़ी हुई खाद प्रति

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हेक्टेयर व साथ ही साथ नाइट्रोजन, फास्फोरस व पोटाश 25:50:25 की दर से मिट्टी में अच्छी तरह मिला दी जानी चाहिए।

बिजाई : धतूरा की बिजाई बीजों द्वारा की जाती है, जिसके लिए प्रति हेक्टेयर 7-8 कि.ग्रा. की दर से बीजों की आवश्यकता पड़ती है। कहीं-कहीं पर बीजों को पहले नर्सरी में लगाकर जब पौधा 8-12 से.मी. का हो जाता है, तो इसको अच्छी प्रकार से तैयार खेतों में स्थानान्तरित कर दिया जाता है।

डा. इनोक्सिया के बीज अक्टूबर-जनवरी या बसंत काल में बोये जाते हैं। डा. मेटेल के बीज मार्च माह में बोये जाते हैं और इसे गर्मी की फसल के रूप में उगाया जाता है। बीजों के अच्छे अंकुरण हेतु, अगर बीजों को एक रात पानी में भिगो दिया जाय या पानी से धोकर बीजों को एक-एक मीटर की पंक्तियों में लगाकर, ऊपर से मिट्टी से ढक दिया जाए तो 15 दिनों के अन्दर बीजों से अंकुरण निकलना शुरु हो जाता है और एक महीने के अन्दर पूरे बीज अंकुरित हो जाते हैं। नर्सरी में जब पौधे 10 या 12 सें.मी. के हो जाएं अथवा इन पर 4 पत्तियां आ जाऐं तब इन्हें खेत में स्थानान्तरित कर दिया जाना चाहिए।

निराई-गुड़ाई : जब धतूरे के पौधों की ऊंचाई करीब 10 या 12 से.मी. हो जाय तो खेत से खरपतवार निकालना अत्यंत आवश्यक होता है। इस समय खेत में पौधों को कतार में 70 से 90 से.मी. की दूरी पर स्थापित कर देना चाहिए और कमजोर पौधों को पक्तियों से निकाल देना चाहिए।

सिंचाई : अगर वर्षा नहीं हुई हो तो बीज बोने के बाद एक सप्ताह के अंदर सिंचाई कर देनी चाहिए। इसके बाद आवश्यकतानुसार 10-15 दिनों के बाद सिंचाई करनी चाहिए।

कटाई : डा. इनोक्सिया के पौधे यदि जाड़े या बसंत काल में उगाये गये हों तो ये फरवरी या अप्रैल में फलने लगते हैं और इनसे मार्च-अप्रैल के अन्त तक फल आ जाते हैं। जब फल पूर्ण रूप से कड़े हो जाते हैं तो उनको तोड़ लिया जाता है। फलों को उस समय तोड़ना चाहिए जब उनमें पत्ते हरे रहें। यह क्रिया दो तीन बार की जाती है और अंत में हंसिये से पूरे के पूरे पेड़ को काट लिया जाता है। इस प्रकार मई के अन्त तक अथवा फरवरी में लगाये गये पौधे जून में काट लिये जाते हैं। इसके फलों को धूप में खुले स्थान पर सुखाया जाना चाहिए।

उपज : धतूरे का मुख्य औषधीय उत्पादन इसके बीज तथा पत्तियां होते हैं तथा इसकी फसल से प्रति हैक्टेयर 1200 से 1700 किलोग्राम सूखे बीज प्राप्त होते हैं जिनमें एल्केलायड की मात्रा 0.2 से 0.35 प्रतिशत तक होती है।

धतूरा मेटेल के पौधों की बढ़ोत्तरी जुलाई में होती है और इस समय इसकी पत्तियों तथा शाखाओं की कटाई कर ली जाती है। पत्तियों को छाया में सुखाया जाता है। इसकी पहली कटाई जुलाई में तथा दूसरी कटाई अक्टूबर में ली जाती है। पौधों की अधिकतम वृद्धि तथा उनमें अधिकतम एल्केलायड जुलाई माह में होता है, जब इसकी पहली कटाई ली जाती है।

डा. मेटेल की उन्नत किस्में

1. आर.आर.एल. नील लोहित (परपल) : इसका पूरा पौधा हरी पत्तियों सहित परपल होता है। इसकी खेती से 240 से 290 क्विंटल प्रति हेक्टेयर हरी पत्तियां तथा 18-24 क्विंटल बीज प्राप्त होता है। बीजों में एल्केलायड की मात्रा 0.24 से 0.36 प्रतिशत तक होती है जबकि पत्तियों में यह मात्रा 0.12 से 0.19 प्रतिशत तक होती है।

2. आर.आर.एल. हरा (ग्रीन) : यह पौधा हरा होता है, इसकी पत्तियां हल्की हरी होती हैं, तथा यह देर में तैयार होता है। इसमें देर से फल तथा फूल लगते हैं। इसकी खेती से प्रति हेक्टेयर 210 क्विंटल हरी पत्तियां मिलती हैं जिनमें एल्केलायड की मात्रा 0.24 से 0.28 प्रतिशत तक होती है। इस किस्म से लगभग 15-20 क्विंटल बीज मिलते हैं जिनमें एल्केलायड की मात्रा 0.09 से 0.128 प्रतिशत तक होती है।

धतूरे के बीजों का प्राप्ति स्थल : बिजाई हेतु उत्तम किस्म के धतूरे के बीज प्रौद्योगिकी हस्तान्तरण विभाग, क्षेत्रीय अनुसंधान प्रयोगशाला, जम्मू से प्राप्त किए जा सकते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

52. सदाबहार की खेती

सदाबहार, जिसका अंग्रेजी नाम 'पेरीविन्कल'' तथा वानस्पतिक नाम 'केथेरेन्थस रोसियस' है, सम्पूर्ण भारतवर्ष में संभवतया सर्वाधिक सामान्य रूप से पाये जाने वाला फूल है। यद्यपि लगभग प्रत्येक घर तथा बगीचे में इसे फलता फूलता देखा जा सकता है परन्तु शायद ही कुछ लोग जानते हों कि यह पौधा कितने अधिक औषधीय महत्व का पौधा है। इस पौधे में कुल 65 एल्केलॉइड पाये जाते हैं। इसमें इन्डोल, रोबेसिन (एँजमेलिसिन) और सर्पेन्टाइन आदि पाये जाने के कारण इससे रक्तचाप कम करने वाली देशी एवं ऐलोपेथिक औषधियां तैयार की जाती हैं। इसकी पत्तियों में विनक्रिस्टिन और विनब्लासिटन ऐल्केलॉइड पाये जाते हैं जिनसे कैंसर जैसे असाध्य रोग को रोकने की औषधि तैयार की जाती है। इसकी जड़ों से अज्मालीसीन व रिस्पारीन नामक अल्कलाइड निकाले जाते हैं जोकि उच्च रक्तचाप (High Blood Pressure) प्रतिरोधी हैं।

सदाबहार के फूलयुक्त पौधे

सदाबहार अथवा सदासुहागन अथवा सदाफूली अथवा चांदनी आदि नामों से जाना जाने वाला यह पौधा अपने औषधीय गुणों के कारण बगीचों के साथ-साथ अब व्यापारिक स्तर पर खेतों में भी उगाया जाने लगा है। घर के बगीचे तथा गमले में उगाये जाने वाले इस शोभाकारी पौधे की तामिलनाडु के रामनाथपुरम, तिरुनेल वेली और मदुराई जिलों में खेती की जा रही है। भारत में इसकी तीन प्रजातियाँ मिलती हैं—(1) गुलाबी रंग के फूलों वाली, (2) सफेद फूलों वाली, तथा (3) सफेद फूल के बीच में गुलाबी धब्बे वाली। इनमें से प्रथम प्रजाति (गुलाबी रंग के फूलों वाली सदाबहार) में ऐल्केलॉइड की मात्रा सर्वाधिक होती है और इसी कारण भारत में इसकी काश्त सर्वाधिक हो रही है।

अनेकों विशेषताओं के कारण सदाबहार की काश्त करना अत्यधिक आसान है जैसे-(1) इसे सीमांत (मार्जिनल) भूमि में भी उगाया जा सकता है, (2) यह एक सूखा-रोधी फसल है और जहां अन्य कोई फसल न हो सके, वहां इसकी खेती की जा सकती है, (3) इसके सभी भाग कड़वे होते हैं अतः इसे पशु भी नहीं चरते तथा यह चोरी भी नहीं होती है, तथा (4) इसके फूल काफी सुन्दर होते हैं अतः आर्थिक लाभ के साथ-साथ यह बगीचों की शोभा भी बढ़ाती है तथा बगीचों को सदा हरा-भरा एवं फूलयुक्त रखती है।

सदाबहार की कृषि तकनीक

सदाबहार की खेती बीज बोकर या नर्सरी पौध प्रत्यारोपण द्वारा की जाती है। यह सभी प्रकार की मृदाओं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सिंचाई

गर्मी के महीनों में फसल की सिंचाई एक माह में 3-4 बार करनी चाहिए। इसके पश्चात् हर सप्ताह एक बार सिंचाई करना उचित रहता है। इसके अतिरिक्त प्राय: हर कटाई के बाद सिंचाई करनी चाहिए।

निराई-गुड़ाई

तिलपुष्पी की फसल में मोथा, दूब तथा बरु इत्यादि खरपतवार पैदा हो सकते हैं। इनको समय-समय पर हाथ से निकाल दिया जाना चाहिए।

रोग तथा कीड़े

इस फसल में मुख्यतया पत्तों का जलन रोग (Leaf blight) पाया गया है जिसे किसी भी कॉपर फफूंदी नाशक के छिड़काव द्वारा रोका जा सकता है। फफूंदी नाशक की मात्रा 0.1 से 0.2 प्रतिशत होनी चाहिए। 15 दिन के अन्तराल में इसका 3-4 बार छिड़काव करना चाहिए।

इस फसल में प्राय: कटवर्म, सुंडियां तथा चेपा कीड़े अधिक नुकसान पहुंचाते हैं जिनकेलिए 0.05% मेलाथियोन का छिड़काव 15 दिन के अन्तर से 2-3 बार करें। कटवर्म प्रभावित भूमि में गोबर की खाद के साथ 10% बी.एच.सी. या एलड्रीन पाउडर 20-25 कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर की दर से मिट्टी में भुरका जा सकता है।

पत्तियों की कटाई

हिमाचल प्रदेश के सोलन क्षेत्र में की गई इसकी खेती में पत्तियों की 2-3 कटाईयां ली गई हैं—पहली कटाई नवम्बर माह के मध्य में, दूसरी मार्च तथा तीसरी फूल आने से पहले। पहली कटाई वाली पत्तियों में लगभग 0.65 प्रतिशत ग्लाइकोसाइड पाया गया है जबकि दूसरी तथा तीसरी कटिंग से प्राप्त पत्तियों में 1.25 प्रतिशत ग्लाइकोसाइड पाया गया है। पत्तियों को 8-10 से.मी. लम्बी होने पर ही काटना चाहिए। नीचे की पीली पत्तियों तथा क्राउन की पत्तियों को छोड़कर शेष समस्त पत्तियां काट ली जाती हैं।

पत्तियों का भण्डारण

पूर्ण रूप से सूखी हुई पत्तियों का भण्डारण करना ग्लाइकोसाइड को सुरक्षित रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। पत्तियों को पतली परतों में फैलाकर 36-48 घण्टों तक सुखाना चाहिए। पत्तियों को गलन-सड़न से बचाने के लिए उन्हें समय-समय पर उलट पलट करते रहना चाहिए। पत्तियों को आर्द्र मौसम में नहीं सुखाना चाहिए तथा यदि इन्हें ओवन में सुखाना हो तो 50-60^{0}C तापमान पर सुखाना चाहिए। सूखी हुई पत्तियों को हवारहित डिब्बों में डालकर रख देना चाहिए। सावधानी से तोड़ी, सुखाई तथा संग्रहित की गई पत्तियों की क्रियाशीलता वर्षों तक बनी रहती है।

फसल से कुल प्राप्तियां

सोलन (हि.प्र.) में किए गए प्रयोगों से पता चलता है कि तिलपुष्पी की फसल से प्रति हैक्टेयर 150-160 क्विंटल ताजा पत्तियां अथवा 28-30 क्विंटल प्रति हैक्टेयर सूखी पत्तियां प्राप्त होती हैं। मुनार (केरल) में इसकी 4-5 कटिंग ली जाती हैं, तथा वहां प्रति हैक्टेयर 56 क्विंटल तक पत्तियों की उपज प्राप्त होती है।

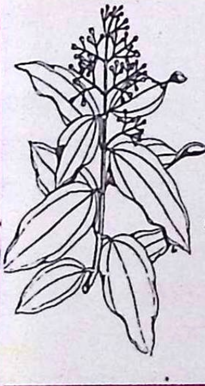

बालाजी हर्बल फार्मस्

43, दुर्गा चौक, घोड़ा डोंगरी, जिला - बैतूल (म.प्र.)

फोन : (07146) 48618 (नि.) 48675 (का.)

मोबाइल: 0714626901.

संपर्क सूत्र - विशाल अग्रवाल.

• सफेद मूसली (Chlorophytum Borivillianum), • अकरकरहा • कलिहारी • सतावर • मुश्कदाना • लेमनग्रास • सर्पगंधा • कौंच • बायवडिंग • चंदन • गुडमार • आंवला •मलकांगिनी • कालमेघ • काली हल्दी • जटामांसी एवं अश्वगंधा व सभी प्रकार के अन्य औषधीय पौधों के बीज एवं प्लांटिंग के प्रदायकर्ता.

➡ हमारे 30 एकड़ के फार्म पर लगी मसूली देखने के इच्छुक व्यक्ति पूर्व समय लेकर हमारे फार्म का कभी भी भ्रमण कर सकते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

55. नागर मोथा

औषधीय जगत में नागरमोथा का उपयोग बहुलता से होता आया है। बढ़ती हुई आयुर्वेदिक कंपनियों की मांग को देखते हुये वर्तमान में इसकी विधिवत खेती किए जाने की आवश्यकता महसूस होने लगी है। नागरमोथा को विभिन्न नामों से जाना जाता है उदाहरणार्थ संस्कृत में इसे नागरमुस्तिका एवं हिन्दी में नागरमोथा के नाम से जाना जाता है। यह ''साइप्रेसी'' कुल का पौधा है जिसका वानस्पतिक नाम ''साइप्रस स्केरिओसस'' है। साइप्रस की 60 प्रजातियां पाई जाती हैं जिनमें से साइप्रस स्केरिओसस का उपयोग तेल के रूप में होता है। इसमें पाई जाने वाली तीक्ष्ण सुगंध के कारण यह साबुन, परफ्यूम, अगरबत्ती आदि बनाने वाली अनेकों कम्पनियों द्वारा उपयोग में लाया जाता है। व्यवसायिक जगत में इसके तेल को साइप्रस तेल या साइप्रॉल के नाम से जाना जाता है।

नागरमोथा अक्सर नमीयुक्त स्थानों तथा दलदली भूमियों में नदी-नालों के किनारे अधिक मात्रा में पाया जाता है। भारत में यह बंगाल, उत्तरप्रदेश एवं भारत के उत्तर-दक्षिण भागों मे तथा म.प्र. में बुन्देलखण्ड, टीकमगढ़, बघेलखण्ड, नमदा सोनाघाटी, छत्तीसगढ़ एवं बस्तर के वनों में यह बहुतायत में पाया जाता है।

नागर मोथा की आकारिकी : नागरमोथा घास के समान पौधा होता है जो बेलनाकार, अरोमिल, पतला तथा 40-60 से.मी. तक लंबा होता है जो छोटे-छोटे सल्फपत्रों के गुच्छों से ढका होता है। इसकी पत्तियाँ विभिन्नता लिये हुये होती हैं जो प्राय: लंबी, तो कभी अनुपस्थित तथा पतली कमजोर होती हैं। इसका पुष्पक्रम छत्रक 8 से.मी. तक लंबा होता है। सहपत्र पत्तियों के समान तथा शुकिका रेखीय हल्का बदामी होता है। इसकी जड़ कंद के रूप में होती है जो बहुत सुगंधित तथा भूरे-काले रंग की होती है। इस जड़ को आसवित करके तेल निकाला जाता है।

नागरमोथा के औषधीय गुण एवं उपयोग : अधिकांशत: इसका उपयोग आयुर्वेदिक एवं यूनानी चिकित्सा में किया जाता है। इसकी जड़ों को तीक्ष्ण और शीत प्रभाव वाला वर्णित किया गया है। इसकी जड़ों में दुग्धश्रावण बढ़ाने की क्षमता होती है। इसके दर्दनिवारक व ज्वरनाशक गुणों के कारण यह शरीर के तापमान को भी नियंत्रित करता है। इसके अलावा इसका उपयोग अतिसार, थकान, जलन, मुख का कड़वापन दूर करने में, ज्वर में गला सूखने पर, बवासीर तथा फोड़े-फुन्सी में किया जाता है। इसकी जड़ें पेटदर्द-मूत्रवर्धन, गोनोरिया व सिफलिस रोगों में उपयोगी होती हैं। इसकी जड़ों से प्राप्त वेलेरियन के कारण एपीलिपसी दूर करने में भी इसका उपयोग करते हैं। वेलेरियन एक सुगंधित द्रव्य है जिसे अतिसार प्रवाहिका में भी उपयोग करते हैं। मुख से संबंधित बीमारियों जैसे-पायरिया आदि की दवाइयों में औद्योगिक रूप से साइप्रॉल तेल का उपयोग पुराने समय से होता आ रहा है। इसके साथ-साथ साबुन, धूप, अगरबत्ती, शेम्पू, हवन सामग्री, दंतमंजन आदि में तथा पत्तियों की चटाई-टोकरी आदि जैसे

नागरमोथा का पौधा

सजावट के सामान बनाने में भी इसका उपयोग किया जाता है। विभिन्न संस्थानों में इसके अन्य उपयोगों पर भी अनुसंधान कार्य जोरों से चल रहे हैं। इसमें तेल द्रव्य 0.075-0.080% तक पाया जाता है। उपरोक्तानुसार दवाइयों तथा गंध द्रव्यों में इसके तेल का उपयोग काफी अधिक मात्रा में हो रहा है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बुआई तथा नर्सरी की तैयारी

तगर की बुआई बीजों द्वारा तथा मूलस्तम्भों (Rhizome) की कटिंग द्वारा की जा सकती है। बीज की 500–600 ग्रा. मात्रा एक हैक्टेयर भूमि के लिए पर्याप्त होती है। इसके बीज बहुत छोटे तथा हल्के होते हैं। केवल स्वस्थ बीजों का ही उपयोग बुआई के लिए करना चाहिए। इसकी बुआई मानसून ऋतु में जून माह के अन्त में अथवा जुलाई माह के शुरु तक में कर देनी चाहिए। नर्सरी में बिजाई के लिए 1×3 मी. लम्बी जमीन से लगभग 6'' ऊंची क्यारियां बनाई जानी चाहिएं। इनमें 20–25 कि.ग्रा. गोबर की सड़ी हुई खाद मिला कर मिट्टी भुरभुरी व एकसार कर लेनी चाहिए। 50 ग्रा. बीज प्रत्येक क्यारी में 10 से.मी. की लाइन में बीजना चाहिए। बिजाई के बाद क्यारियों में हल्का पानी दे दें। ध्यान रखें कि क्यारियां नम रहें। छः से आठ दिनों में इसके बीज उग जाते हैं।

रोपाई

पौधे जब 10 से 15 सें.मी. लम्बे तथा 4 से 5 पत्तियों की अवस्था में होते हैं तो इन्हें खेतों में रोपित कर देना चाहिए। खेतों में पौधों तथा कतारों के बीच की दूरी 30×30 सें.मी. उपयुक्त रहती है। रोपाई के तुरन्त पश्चात् खेतों की सिंचाई कर देनी चाहिए।

सिंचाई

रोपाई के पश्चात् यदि वर्षा नहीं होती है तो पहली सिंचाई एक सप्ताह के अंदर-अंदर अवश्य कर देनी चाहिए। इसके पश्चात् आवश्यकतानुसार 10–15 दिनों के अन्तराल में सिंचाई करते रहना चाहिए।

निराई एवं गुड़ाई

जब पौधे 10–12 सें.मी. ऊंचे हो जाते हैं तो खेत से खरपतवार निकालना अत्यन्त आवश्यक होता है। समय-समय पर पौधों की निराई एवं गुड़ाई पौधों की अधिक उपज के लिए अत्यावश्यक होती है। छः माह बाद निराई-गुड़ाई के पश्चात् 20 कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर की दर से नाइट्रोजन खाद का छिड़काव कर देना चाहिए।

जड़ों की खुदाई

तगर के पौधों में अप्रैल माह के अन्त से लेकर मई माह के शुरु तक फूल आ जाते हैं तथा जून माह में बीज तैयार हो जाते हैं। इसके मूलस्तम्भों को जमीन से दो वर्ष बाद निकालना उचित रहता है। इस समय इसके मूलस्तम्भों में वलिपाटरिएट नामक तत्व अधिक रहता है तथा मूल और मूलस्तम्भों की उपज भी अधिक होती है। जड़ों को नवम्बर माह में उखाड़ना चाहिए। इन जड़ों को पानी में अच्छी तरह से धोकर छाया में सुखाना चाहिए तथा अच्छी तरह से सूखी हुई जड़ों को हवारहित डिब्बों में संग्रहित करना चाहिए।

तगर का उत्पादन

तगर की खेती करने पर एक हैक्टेयर भूमि से तगर की लगभग 8 से 10 क्विंटल तक सूखी जड़ें प्राप्त हो जाती हैं जिनमें वलिपाटरिएट की मात्रा लगभग 1.5–2.20 प्रतिशत तक होती है। इसके मूल स्तम्भ बाजार में लगभग 60–70 रु. प्रति किलो की दर से बिकते हैं।

सम्पर्क करें
आनन्द जैन
178, केशवगंज, सागर (म.प्र.)
पिन-470002.
फोन:(07582) 20149/25935/23285 (कार्या.)
फैक्स : (07582) 22819
E-mail - Staip@gwr1.net.in

बीज/प्लांटिंग मेटेरियल उपलब्ध है

सफेद मूसली, शतावर, अश्वगंधा, मुश्कदाना एवं सागरगोटा के उत्कृष्ट श्रेणी के बीजों/प्लांटिंग मेटेरियल के लिए सम्पर्क करें

वर्मीकल्चर से संबंधित आवश्यकताओं हेतु भी सम्पर्क करें

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

54. तिलपुष्पी (फॉक्सग्लाव) की खेती

तिलपुष्पी (Digilatis Lanata Enrh) स्क्रोफुलेरिएसी कुल का पौधा है। अंग्रेजी में इसे फॉक्सग्लाव (Foxglove) कहते हैं। यह द्विवर्षीय पौधा है जिसकी ऊंचाई लगभग 60 से 90 से.मी. तक होती है। इसका तना शाखारहित होता है, पत्तियां भूरी हरी तथा रोएंदार होती हैं तथा फूल सफेद या हल्के गुलाबी रंग की शिराओं युक्त होते हैं।

तिलपुष्पी की पत्तियों में औषधीय गुण विद्यमान होते हैं जिसके कारण से इसका औषधीय क्षेत्र में—मुख्यतया हृदय संबंधी रोगों के उपचार में उपयोग किया जाता है। इसकी पत्तियों में डिगोक्सीन नामक कार्डियक ग्लुकोसाइड पाया जाता है।

तिलपुष्पी प्राकृतिक रूप में दक्षिणी तथा मध्य यूरोप में पाई जाती है। इसे स्विटरलैण्ड, नीदरलैण्ड, रूस, जर्मनी तथा इंगलैण्ड में औषधीय फसल के रूप में उगाया जाता है। भारत में कश्मीर, हिमाचल प्रदेश तथा उत्तरप्रदेश की पहाड़ियों में इसकी काश्त की कोशिश की गई है। **डॉ. यशवन्त सिंह परमार, वानिकी विश्वविद्यालय, नौणी (सोलन)** में कई वर्षों के अनुसंधान के पश्चात् इसकी काश्त की विधि विकसित की गई है तथा तिलपुष्पी की ई.सी.—115996 किस्म को हिमाचल प्रदेश की पहाड़ियों में खेती के लिए उपयुक्त पाया गया है।

तिलपुष्पी के लिए उपयुक्त जलवायु

तिलपुष्पी की खेती 1200-2500 मी. की ऊंचाई तक के क्षेत्रों में की जा सकती है। इसके लिए 18-30°C तापक्रम उपयुक्त रहता है। जहां समय-समय पर वर्षा तथा चमकती धूप पड़ती हो वे क्षेत्र इसकी खेती के लिए उपयुक्त हो सकते हैं।

भूमि

यह पौधा दोमट मिट्टी में अच्छी तरह उगता है। रेतीली, चिकनी तथा वह मिट्टी जिसमें जल निकास की सुविधा न हो, इसकी अच्छी उपज के लिए अनुपयुक्त रहती है।

खेत की तैयारी

जिस खेत में तिलपुष्पी की खेती करना हो, सर्वप्रथम उस खेत की दो-तीन बार हल से जुताई करनी चाहिए। 30 टन गोबर की सड़ी खाद एक हैक्टेयर भूमि के लिए पर्याप्त रहती है। खाद मिलाने के बाद भूमि को पाटे द्वारा समतल कर देना चाहिए।

नर्सरी की तैयारी

तिलपुष्पी को उगाने से पहले रोपणी (Nursery) तैयार की जाती है। क्यारियों को खोदकर ठीक कर लिया जाता है तथा इनमें अच्छी तरह से गोबर की खाद मिला ली जाती है। क्यारियाँ 1×3 से.मी. की व सामान्य सतह से थोड़ी ऊंची बनाई जाती हैं जिनमें पानी का निकास सरलता से हो सके।

बुआई

तिलपुष्पी की बुआई बीजों द्वारा की जाती है। इसके बीज बहुत छोटे होते हैं। लगभग 2-3 कि.ग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर छिटका बिजाई के लिए लगते हैं। वैसे 500-600 ग्रा. स्वस्थ बीज एक हेक्टेयर भूमि के लिए पर्याप्त होता है। बिजाई के बाद बीजों को 0.5 से 1.0 से.मी. तक मिट्टी से ढक देना चाहिए तथा फिर उनकी हल्की सिंचाई करनी चाहिए। इसके उपरान्त क्यारियों को सूखी घास से ढक देना चाहिए ताकि उन्हें कोहरे से बचाया जा सके। बीज उगने के पश्चात् घास को हटा देना चाहिए। जब पनीरी 6 से 8 सें.मी. ऊंची हो जाती है तो उसे 45 से.मी. की दूरी पर बनाई गई कतारों में लगा देना चाहिए। पौधे से पौधे के बीच की दूरी 30 से.मी. तक रखनी चाहिए।

उर्वरक

तिलपुष्पी के लिए 100 कि.ग्रा. नत्रजन खाद, 50 कि.ग्रा. फास्फोरस तथा 25 कि.ग्रा. पोटाश, एक हेक्टेयर भूमि के लिए उपयुक्त रहती है। नत्रजन खाद 25 कि.ग्रा., फास्फोरस 50 कि.ग्रा. तथा 25 कि.ग्रा. पोटाश रोपाई के समय डाल देनी चाहिए। शेष नाइट्रोजन को तीन बराबर हिस्सों में रोपाई के 60 दिन के पश्चात् नवम्बर में पहली कटिंग के पश्चात् तथा नाइट्रोजन की आखिरी मात्रा फरवरी माह में डाली जानी चाहिए।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

में उगाई जा सकती है जिसमें जल-निथार की उत्तम व्यवस्था हो। परन्तु अधिक भारी मिट्टी इसके लिये उपयुक्त नहीं है। ऐसी बरानी भूमि जहां 100 से.मी. या इससे अधिक वर्षा सुनिश्चित हो, इसकी काश्त के लिए उपयुक्त होती है। सिंचित अवस्था में प्रत्येक पखवाड़े के अंतराल से इसकी सिंचाई करना लाभकारी होता है। सीधे बीज बोकर या पौधशाला में पौध तैयार करने हेतु 8 माह से अधिक के पुराने बीज का उपयोग नहीं किया जाता, क्योंकि तब बीज की अंकुरण क्षमता कम हो जाती है या नष्ट हो जाती है। इसका बीज महीन होता है अत: सीधी बोनी हेतु अढ़ाई किलोग्राम बीज प्रति हैक्टेयर काफी होता है जबकि नर्सरी में रोपा तैयार करने हेतु सिर्फ आधा किलोग्राम बीज ही पर्याप्त है। बोने के लगभग 8-10 दिन के बाज बीज अंकुरित होता है। पौधशाला में से बोनी के 60 दिन बाद जड़ सहित पौधे उखाड़कर तथा 8-10 से.मी. वर्षा प्राप्त हो जाने पर तैयार खेत में इसकी रोपाई की जाती है। रोपाई हेतु कतारों की दूरी 45 से.मी. तथा एक पौधे से दूसरे पौधे की दूरी 30 से.मी. रखी जाती है जिससे प्रति हेक्टेयर 74000 पौध संख्या प्राप्त हो सके। सर्वाधिक अंकुरण हेतु बीज को 12-24 घंटे साधारण पानी से तर रखा जाना चाहिए। सीधी बोनी करने हेतु बीज में 8-10 गुना बारीक बालू मिलाकर बोनी करना लाभकारी होता है।

खेत की तैयारी करते समय यदि प्रति हेक्टेयर 8-10 टन गोबर या कम्पोस्ट खाद अथवा 250 किलोग्राम हड्डी का चूर्ण या रॉक फॉस्फेट तथा नीम की पिसी खली खेत में मिला दी जाये तो रासायनिक उर्वरकों की आवश्यकता नहीं होती। भारतीय बागवानी अनुसंधान संस्थान, बंगलौर (कर्नाटक) में किये गये परीक्षणों से विदित हुआ है कि उर्वरकों के प्रयोग से जड़ों तथा उनमें विद्यमान एल्कोलॉइड्स की मात्रा तथा उपज में वृद्धि हुई है। फसल में 30 व 60 दिन बाद दो बार निंदाई-गुड़ाई की जानी चाहिये तथा जब फसल 120 दिन की हो जाये तब फसल के फूल तथा शाखाएं चोटने से जड़ों की अधिक वृद्धि होती है।

सदाबहार की छ: माह पुरानी फसल से प्रथम बार में पुरानी पत्तियों की चुंटाई की जा सकती है। इसके उपरांत तीन माह के अंतराल से फिर से दुबारा चुंटाई की जा सकती है। तोड़ी गई पत्तियों को छांव में फैलाकर पक्के फर्श पर सुखाया जाता है जिससे फफूंदी का असर व सड़ांध पैदा न हो सके। जड़ों को छ: माह बाद मय 6-10 से.मी. लम्बे तने सहित उखाड़कर सुखाया जा सकता है। वैसे जड़ों की अधिक उपज बोने या रोपने के 8, अथवा 12 माह की फसल को उखाड़े जाने पर प्राप्त होती है। इस स्तर की परिपक्वता वाली फसल की जड़ों में एॅल्कोलॉइड की मात्रा भी अधिक होती है। सिंचित अवस्था में पत्तियों, तना तथा जड़ों (सभी सूखे हुए) की उपज क्रमश: 36, 15 तथा 15 क्विंटल प्रति हेक्टर प्राप्त हो सकती है। असिंचित अवस्था में सूखी पत्तियां 20 क्विंटल, सूखा तना 10 क्विंटल व सूखी जड़ें लगभग साढ़े सात क्विंटल प्रति हेक्टर प्राप्त हो सकती हैं। तने की उपज हेतु भूमि से 7 से.मी. ऊपर के तने को काटकर सुखा लेते हैं। फसल की सम्पूर्ण अवधि में कई बार बीज बनते हैं अत: आखिर में अगली फसल हेतु ताजा बीज एकत्रित कर लेने चाहियें।

सदाबहार को कोई प्रमुख बीमारी नहीं होती है। कभी-कभी उल्टा-सूखा रोग (डाई-बेक), पत्ती-मोड़क, फ्यूजेरियम मुरझान रोग, उकटा आदि जैसे रोग असर करते हैं। इनकी रोकथाम हेतु फसल बोने या पौध रोपण के पूर्व फफूंदीनाशक दवा से इन्हें उपचारित करना अच्छा रहता है। कीट व्याधियों का प्रभाव प्राय: इस फसल पर नहीं देखा गया है।

सदाबहार की सूखी हुई जड़ का भाव 15-20 रुपये प्रति किलोग्राम तथा पत्ती का भाव 8-10 रुपये प्रति किलोग्राम रहता है। इस प्रकार इसकी काश्त से 12-15 हजार रुपये प्रति हेक्टर का लाभ सम्भावित होता है। इसकी पत्तियों तथा जड़ों का निर्यात भी होता है अत: इसकी काश्त के पूर्व व्यापारियों से करार कर लेना उचित होगा। वर्तमान में इसके बीज 40-60 रुपये प्रति किलोग्राम के भाव से बिकते हैं तथा कई निर्यातक व्यवसायिक फर्मे किसानों को इसके बीज उपलब्ध करवा कर किसानों से उपज खरीदने का अनुबंध भी कर लेती हैं।

वर्तमान में सदाबहार की सुधरी हुई किस्मों का विकास कार्य मुख्यत: बंगलौर केन्द्र पर किया जा रहा है तथा फूलवाली कुछ किस्मों का मिश्रण करके नई प्रजातियाँ विकसित की जा रही हैं। अधिक जड़ों वाली तथा एजमेलिसिन एॅल्केलॉइड बाहुल्य वाली सदाबहार की प्रजातियों की काश्त एवं इनका व्यापारिक भविष्य भारत में उज्जवल है तथा इस प्रकार की प्रजातियों की उपलब्धता की भविष्य में पूरी आशा है। कुछ राष्ट्रीय फर्में इसके एॅल्केलॉइड को निकालकर निर्यात भी करने लगी हैं। इस दिशा में **पूना स्थित राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला (National Chemical Laboratory, Pune) द्वारा विनिक्रिस्टिन और विनब्लास्टिन** निकालने के प्रयोग किये गए हैं, जिनके उत्साहजनक परिणाम प्राप्त हुए हैं। भविष्य में इसकी राष्ट्रीय स्तर पर खपत की भी प्रबल सम्भावनाएं हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

53. तगर अथवा जटामांसी

तगर हिमालय क्षेत्र में पाया जाने वाला एक महत्वपूर्ण औषधीय पौधा है जिसका वैज्ञानिक नाम वेलिरियाना जटामांसी जोन्स (Valeriana Jatamansi Jones) है। इसे मुश्कवाला, सुगन्धवाला, निहानी तथा जटामांसी आदि जैसे विभिन्न नामों से भी जाना जाता है। अंग्रेजी में इसे इंडियन वेलिरियन कहते हैं। यह पौधा ''वलिरियनेसी'' कुल के अन्तर्गत आता है।

पौधे की पहचान

तगर का पौधा किंचित रोमश व बहुवर्षीय होता है। इसका मूलस्तम्भ मोटा, अद्योगामी तथा मोटे तन्तुओं से युक्त होता है। इसके आधारीय पत्ते (Basal leaves) प्राय: 2 से 7 से.मी. व्यास में धारयुक्त,दन्तुर या लहरदार होते हैं। काण्ड पत्र (Stem leaves) आधारीय पत्तों से छोटी तथा संख्या में कम होती है। इसके फूल श्वेत रंग के या हल्के गुलाबी रंग के होते हैं। फूल प्राय: एकलिंगी होते हैं तथा नरपुष्प और स्त्रीपुष्प अलग-अलग पौधों पर पाए जाते हैं। इसके फल प्राय: रोमश या करीब-करीब रोमहीन रोते हैं।

प्राप्ति स्थान

तगर का पौधा हिमालय पर्वत में कश्मीर से भूटान तक 1200 से 4000 मीटर तक की ऊंचाई तथा खासी की पहाड़ियों में 1200 से 2000 मीटर की ऊंचाई तक में पाया जाता है। हिमाचल प्रदेश में यह जिला चम्बा, शिमला, सिरमौर, कुल्लू तथा सोलन जिलों में 1200 से 4000 मी. तक की ऊंचाई में पाया जाता है।

प्रयोज्य भाग

तगर के मूल या मूलस्तम्भ (Rhizome) का उपयोग औषधि के रूप में किया जाता है। इसका मूल स्तम्भ अत्यन्त गांठदार तथा हल्के पीले बादामी रंग का होता है। तगर में एक विशिष्ट उग्र गन्ध होती है तथा इसका स्वाद कड़वा होता है।

रासायनिक संगठन

भारतीय वलिरियन में 0.25 से 1.50 प्रतिशत तक उड़नशील तेल पाया जाता है। इस तेल में प्रधानतया ''सैस्क्वि टरपेन् वलिरिक एसिड'' इत्यादि पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त तगर के मूलस्तम्भ में वलिपाटरिएट नामक तत्व भी पाया जाता है।

तगर के औषधीय गुण

तगर का सुगन्धित तेल आसवन विधि द्वारा निकाला जाता है जो तम्बाकू तथा बियर को सुगन्धित बनाने के काम में आता है। इसके मूल तथा मूलस्तम्भ में सुगन्धित तेल होने के कारण इसे हवन सामग्री में भी प्रयुक्त किया जाता है। इसका वलिपाटरियट नामक तत्व मानसिक तनावों, मिरगी के दौरों तथा शायक आदि रोगों में प्रयुक्त किया जाता है।

तगर की कृषि तकनीक

भूमि : तगर दोमट रेतीली मिट्टी में उत्पन्न होता है। इसके लिए छायादार तथा नमी वाला स्थान, जिसमें जैविक खाद की प्रचुर मात्रा हो, उपयुक्त रहता है। इसे सेब के बगीचों में पेड़ों के नीचे भी उगाया जा सकता है।

खेत की तैयारी : जिस खेत में तगर की खेती करना हो, उसकी दो-तीन बार हल से जुताई करनी चाहिए। लगभग 40 टन गोबर की खाद प्रति हैक्टेयर के साथ नाइट्रोजन, फास्फोरस तथा पोटाश 40 : 20 : 20 कि.ग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से मिट्टी में मिला देनी चाहिए। नाइट्रोजन की 20 किलो ग्राम/हैक्टेयर की मात्रा रोपाई के एक माह पश्चात् डाल देना अधिक उपज के लिए उपयुक्त रहता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नागरमोथा तथा इसके उत्पाद खरीदने वाली कंपनियाँ : नागरमोथा अथवा साइप्रास स्केरियोसस का उपयोग बहुत सी आयुर्वेदिक कंपनियों द्वारा किया जाता है। इनमें से कुछ प्रमुख कम्पनियां तथा नागरमोथा का उपयोग करके उनके द्वारा बनाए जाने वाले प्रमुख उत्पाद निम्नानुसार हैं—

अमृत कलश-4	—	महर्षि आयुर्वेद, नई दिल्ली.
अलेरा क्रीम	—	अलारसिन मार्केटिंग प्रा.लि.
बाईओवेरा	—	बाइओटिका बोटेनिकल एक्सट्रेक्ट्स, ईशान रिसर्च लेबोरेटरी, 901 निर्मल टॉवर, बाराखंबा रोड, नई दिल्ली.
कारगो संस्कार दंतमंजन	—	कारगो ग्रामोद्योग संस्थान, कानपुर (उ.प्र.)
शिल्पा कफ टेबलेट, गासेर सिरप	—	शिल्पा केमिकल्स, 47-डी, इंडस्ट्रीयल एस्टेट, फोर्ट, लक्ष्मी बाई नगर, इन्दौर (म.प्र.)
सिसटीन टेबलेट	—	हिमालयन ड्रग कंपनी, शिवनगर, ई-एनीबेसेंट रोड, बंबई.

नागरमोथा की खेती के लिए उपयुक्त मिट्टी एवं जलवायु: नागरमोथा की खेती के लिये रेतीली दोमट मिट्टी अथवा मध्यम काली मिट्टी की आवश्यकता होती है। यह गर्म जलवायु में अधिकतम होता है। म.प्र. की जलवायु इसकी खेती के लिये काफी उपयुक्त है। यहां पर यह प्रचुर मात्रा में प्राकृतिक रूप में भी मिलता है।

कृषि : नागरमोथा की जड़ों का रोपण करके उसके उत्पादन के प्रयास प्रगति पर हैं। अभी तक किये गये प्रयासों के आधार पर कहा जा सकता है कि इसका बड़ी मात्रा में उत्पादन तथा कृत्रिम रोपण किया जाना संभव है।

खेत की तैयारी : अपेक्षाकृत अनुपजाऊ तथा बंजर भूमि में इसकी खेती आसानी से की जा सकती है जिसके लिये खेत को अच्छी तरह जुताई की जानी चाहिये। इसमें 15 टन प्रति हेक्टेयर के हिसाब से गोबर खाद मिलाते हैं। इसकी कृषि के लिये सर्वाधिक उपयुक्त रेतीली दोमट दलदली भूमि होती है जिसमें जलधारण क्षमता अधिक होने के कारण इसकी जड़ों का विकास अच्छी तरह से होता है। अप्रैल-मई माह में खेत को जोतकर खरपतवार रहित करके उसमें खाद मिलाकर थोड़े दिनों तक छोड़ दें ताकि उसमें धूप अच्छी तरह लग सके जिससे कि मिट्टी में उपस्थित सूक्ष्म जीवाणु नष्ट हो जायें।

रोपाई : जून से जुलाई माह में इसकी जड़ों को, जो कि समूह में पाई जाती हैं, अलग-अलग करके 15×15 से.मी. की दूरी पर लगा देते हैं। इस प्रकार एक हेक्टेयर में लगभग 2,00,000 पौधे लगाये जा सकते हैं। जड़ लगाने के तुरन्त बाद हल्की सिंचाई करना अति आवश्यक होता है।

सिंचाई : जड़ों की रोपाई के 15-20 दिन में पौध तैयार हो जाती है। जड़ों के उचित विकास के लिये इनमें नमी बनाये रखने की आवश्यकता होती है, इसलिये बरसात के बाद 10 से 15 दिनों के अंतराल में पानी देते रहना चाहिये।

निंदाई : बरसात के समय एक बार निंदाई करना आवश्यक है। इसके बाद भी समय-समय पर आवश्यकतानुसार निंदाई करते रहना चाहिये।

गुड़ाई : गुड़ाई के लिये सितम्बर से अक्टूबर माह का समय उपयुक्त होता है। इस समय पौधों के चारों ओर गुड़ाई कर दी जानी चाहिये।

जड़ों को निकालना : नागरमोथा की फसल जब सत्रह से अठारह माह की हो जाती है तब इसकी जड़ों का अर्क व्यापारिक रूप से उपयोगी होता है। अत: अगले वर्ष दिसम्बर-जनवरी माह में जब पौधों की पत्तियां पीली पड़ने लगें तब भूमि से जड़ों को खोदकर निकाला जाता है तथा उनको अच्छी तरह साफ कर मिट्टी रहित कर हल्की धूप में सुखा लिया जाता है। इसकी पत्तियों का भी विदोहन कर हम अतिरिक्त आय प्राप्त कर सकते हैं। बरसात को छोड़कर पूरे साल इसको एकत्रित किया जाता है। यह भूमि में 3-5 से.मी. तक अंदर रहता है अत: इसे खोदते ही कई जगह सूखी पत्तियों को जलाकर खत्म करके फिर जड़ें निकाली जाती हैं।

जड़ों का आसवन : नामरमोथा की जड़ों को आसवित कर तेल निकाला जाता है। इसके जड़ों से तेल का उत्पादन करीब 0.3% से 0.4% तक मिलता है। कन्नौज में इसकी बहुत सी आसवन इकाइयां हैं। वैसे तेल का उत्पादन संबंधित क्षेत्र की जलवायु पर निर्भर करता है। अभी तक छतरपुर जिले से इकट्ठी की गई जड़ों से 0.4% तक तेल मिला है

आसवन करने से पहले जड़ों को अच्छी तरह साफ करके तथा उन्हें मिट्टी रहित करके इनको छोटे-छोटे टुकड़ें में चिप्स या मोटा चूर्ण बना लिया जाता है जिनका आसवन भाप आसवन विधि द्वारा किया जाता है। इससे निकाला गया तेल गाढ़ा हरे भूरे रंग का तीव्र सुगंध लिये होता है।

म.प्र. में छतरपुर, कटनी तथा टीकमगढ़ जिलों में इसे एकत्रित किया जाता है। उ.प्र. में झांसी, बांदा आदि क्षेत्रों में भी यह पाया जाता है। इसका मुख्य बाजार मऊरानीपुर है। सिर्फ कन्नौज में ही प्रतिवर्ष 1,000 टन नागरमोथा आसवित कर उससे तेल बनाया जाता है।

आर्थिकी : बाजार में नागरमोथा 800 से 1000 रुपये प्रति क्विंटल की दर से बेचा जाता है जिससे 0.4% तक तेल की मात्रा प्राप्त की जा सकती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

56. तीखुर (Curcuma Angustifolia) की कृषि तकनीक

यह ''जिंजिवरेसी'' कुल का पौधा है जिसे सामान्यत: तीखुर के नाम से जाना जाता है। यह सफेद हल्दी तथा तुगाझीरी के नाम से भी जाना जाता है। इसे अंग्रेजी में ईस्ट इंडियन आरारोट, मराठी में टवाखीरा तथा तमिल में अरारूट किजांगु भी कहा जाता है।

इसका वानस्पतिक नाम कुरकुमा अंगस्टीफोलिया (Curcuma Angustifolia) है। तीखुर मध्य प्रांत की मूल प्रजाति है जो बंगाल, मद्रास तथा निचले हिमालयी भार्गो में बहुतायत में पायी जाती है किन्तु इसके अत्यधिक उपयोग और विदोहन के कारण प्राकृतिक रूप में यह विलुप्त होती जा रही है। मध्यप्रदेश में यह अधिकांशत: पूर्वी एवं दक्षिण-पूर्वी नम पर्णपाती साल एवं मिश्रित वनों में पाया जाता है जैसे-नर्मदा, सोन घाटी, अमरकंटक, बस्तर, मण्डला आदि क्षेत्र।

खोदने के लिए तैयार तीखुर की फसल

तीखुर की आकारिकी: तीखुर एक तना रहित कंदीय जड़ वाली शाक है। इसकी जड़ों में लंबे मांसल अवृंतिय रेशेनुमा संरचनायें निकलती हैं जिनके सिरों पर हल्के रंग के अंडाकार कंद पाये जाते हैं। इसकी पत्तियां 30 से 45 सें.मी. लंबी भालाकार तथा नुकीले शीर्ष वाली होती हैं। इसके पीले रंग के पुष्प गुलाबी सहपत्रों से घिरे होते हैं। इसके पुष्प सहपत्र से बड़े होते हैं तथा प्रत्येक सहपत्र के अक्ष में तीन-चार एक साथ पाये जाते हैं। इसका फल अंडाकार होता है जो तीन कपाटों में खुलता है तथा जिसके अंदर कई छोटे-छोटे बीज पाये जाते हैं।

तीखुर के औषधीय गुण : इसकी कंदीय जड़ों में स्टार्च (मांड) पाया जाता है जिसे कई बीमारियों में प्रयोग करने के अलावा वास्तविक अरारोट (जो कि मरांटा अरूंडिनेशिया से बनाया जाता है) के स्थान पर भी प्रयोग किया जाता है। इसकी जड़ों को अर्क़ के रूप में भी उपयोग किया जाता है। यह मधुर, पौष्टिक तथा ज्वर एवं रक्तशोधक होता है। यह कोढ़, जलन, अपच, अस्वाद, दमा, पीलिया, रक्ताल्पता, श्वेतकुष्ठ, पथरी, अल्सर एवं रक्त संबंधी बीमारियों में उपयोग किया जाता है। यह कमजोर बच्चों एवं अधिक उम्र के व्यक्तियों के लिए बहुत उपयोगी है। तीखुर का आटा फलाहारी वस्तु के रूप में उपयोग होता है। इसकी जलेबी, मिठाईयां आदि फलाहर के रूप में खाई जाती हैं। इसके अलावा इसे आइस्क्रीम या दूध में उबालकर मीठे व्यंजन के तौर पर भी उपयोग किया जाता है। अनेकों आयुर्वेदिक कंपनियां शक्तिवर्धक दवाईयों में इसका उपयोग करती हैं।

तीखुर की खेती के लिए उपयुक्त भूमि तथा जलवायु : तीखुर आंशिक छायादार या खुले स्थानों में सरलता से उगाया जा सकता है। इसके लिए रेतीली दोमट मिट्टी ज्यादा उपयुक्त रहती है। खेती के लिए चुने गये स्थान पर जल निकासी की उत्तम व्यवस्था होनी चाहिए। रेतीली मिट्टी इसकी कंदीय जड़ों को पनपने के लिए अनुकूल जगह

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रदान करती है तथा कंद के लिए हवादार वातावरण बनाने में भी सहायक होती है। यह पौधा 4^0 से. से 40^0 से. तक का तापमान सहन कर सकता है।

तीखुर के पौधों का प्रवर्धन : इसकी कंदीय जड़ के दो भाग होते हैं—मदर राइजोम एवं फिंगर राइजोम। तीखुर के बीजों में अंकुरण क्षमता नहीं होती इसलिए इसका प्रवर्धन इसके राईजोम से ही करते हैं। राइजोम ही बीज का काम करते हैं। इसे बाजार से लगभग 250 रुपये प्रति कि.ग्रा. की दर से प्राप्त किया जा सकता है। ये राइजोम मदर राइजोम होते हैं जिन्हें मई माह में प्राप्त कर नम रेत में दबा दिया जाता है ताकि इनकी अंकुरित कलिका रोपण के लिए प्राप्त हो सके।

भूमि की तैयारी : बिजाई से पूर्व इसकी भूमि को मई माह में कई बार जोता जाता है ताकि मई-जून की धूप उस भूमि में उपस्थित जीवाणु आदि को नष्ट करने में सहायक हो सके। लगभग 50 टन गोबर की खाद को मिला कर फिर इसकी जुताई करनी चाहिए। यह सुनिश्चित किया जाना आवश्यक है कि वर्षा का पानी किसी भी स्थान पर ठहरता न हो। खेत में जल निकासी की व्यवस्था अच्छी होनी चाहिए। रोपण से पूर्व 30 से.मी. की दूरी पर नालियाँ बना लेनी चाहिएं।

जून के अंतिम सप्ताह अथवा जुलाई के प्रारंभ में अंकुरित प्रकंदों को जीवित कलिका युक्त टुकड़ों में काट लिया जाना चाहिए। यह ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि प्रत्येक टुकड़े में कलिका उपस्थित हो।

प्रत्यारोपण तथा फसल की देखरेख : मानसून की हल्की बारिश के बाद इन्हें जून-जुलाई में खेत में प्रत्यारोपित किया जाना चाहिए। तीखुर की फसल की सही वृद्धि के लिए नम व छायादार परिस्थितियां आवश्यक होती हैं।

तीखुर के प्रकंदों के टुकड़े या कलिकाओं को दो नालियों के बीच में चढ़ी हुई मिट्टी में प्रत्यारोपित करना चाहिए। पौधों को कतार में 15-20 से.मी. की दूरी पर लगाया जाना चाहिए तथा प्रकंदों की गहराई 5-10 से.मी. से ज्यादा नहीं होनी चाहिए।

रोपण के तुरन्त पश्चात् सिंचाई आवश्यक होती है अत: बारिश न होने की स्थिति में सिंचाई जरूर की जानी चाहिए। वर्षा ऋतु के खत्म हो जाने के बाद माह में एक-दो बार सिंचाई की जानी चाहिए।

बरसात समाप्त हो जाने के पश्चात् 2-3 माह में एक बार निंदाई-गुड़ाई करने से फसल की वृद्धि अच्छी होती है।

तीखुर के कन्दों की खुदाई : तीखुर की फसल जनवरी-फरवरी माह में, यानि रोपण के 7-8 माह बाद निकाल लेने के लिए तैयार हो जाती है। इसके प्रकंदों को सावधानी पूर्वक निकाल लिया जाना चाहिए तथा मदर राइज़ोम को फिंगर राइज़ोम से अलग कर लिया जाना चाहिए। मदर राइज़ोम अगली फसल के बीज हेतु रेत में संरक्षित कर लिया जाना चाहिए तथा फिंगर राइज़ोम को धोकर साफ कर लिया जाना चाहिए।

फसल की प्रोसैसिंग (Processing of the crop): तीखुर से आटा प्राप्त करने के लिए प्रकंदों की दो तरीकों से प्रोसैसिंग की जाती है तथा आयुर्वेदिक कंपनियों हेतु इसे धोकर सुखा लिया जाता है। इन प्रंकदों से कपूर की गंध आती है जोकि तीखुर की पहचान है।

तीखुर की प्रोसैसिंग का एक तरीका आदिवासियों द्वारा पारंपरिक रूप से अपनाया जाता है। इस विधि में प्रकंदों को पानी से धोकर पत्थर पर घिसा जाता है जिससे एक प्रकार का गाढ़ा द्रव निकलता है जो कि स्टार्च बनता है। इसे दो-तीन बार पानी में निथारने से घिसाई के दौरान आई अशुद्धियाँ तथा रेशे अलग हो जाते हैं। इसे फिर धूप में सुखा लिया जाता है जिसके कठोर हो जाने पर इसे पीस कर आटे के रूप में प्रयोग करते हैं।

इसी प्रविधि का एक व्यवसायिक तरीका बड़े पैमाने पर भी उपयोग किया जाता है। इसमें प्रकंदों को मोटे गूदे के रूप में तैयार कर लिया जाता है। इस पल्प या गूदे को बारीक कपड़े से छाना जाता है और साथ-साथ पानी मिला कर छानने से पूरा स्टार्च सही रूप में मिलता है। कपड़े से छानने से रेशे आदि पृथक हो जाते हैं। इस स्टार्च से पानी अलग करके इसे सुखा लिया जाता है जो पीस कर आटे का रूप ले लेता है। इसके आटे में नाशपाती के आकार के कण होते हैं तथा यह सुपाच्य होता है।

तीखुर की खेती की आर्थिकी

लागत	=	7500 रुपये प्रति हेक्टेयर
बाजार मूल्य	=	30-40/- रु. प्रति कि. ग्राम (आटा)
कन्दों की उपज प्रति हे.	=	35 से 40 टन
लाभ	=	96,500 रुपये प्रति हेक्टेयर
स्टार्च का प्रतिशत	=	12.5%
सूखा राइज़ोम	=	10-15/- प्रति किलो.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

57. शरपुंखा अथवा सरफोंका

शरपुंखा अथवा सरफोंका अनेकों नामों से जाना जाता है जिनमें प्रमुख हैं—सितपुंखा, शरविद्या, कँडापुंखा, ईशुपुंखा, शयाकपुंखा, नीलवृक्षाकृति, ल्पीहारी, ल्पीहशत्रु आदि। अन्य भाषाओं में यह निम्नलिखित नामों से जाना जाता है—

राजस्थानी	—	वीपनी
हिन्दी	—	शरपुंखा, सरफौंका, सरपोंखा
बंगाली	—	बननील-गच
मराठी	—	शीरपंखा, उटाटी, उन्हाली
गुजराती	—	शरपंखो, जिहिला, गोडकन
पंजाबी	—	बंसा-बंसू, जोहदुहू
अग्रेजी	—	पर्पल टेफ्रोशिया
लेटिन	—	Tephrosia purpurea

कुल (Family)— शिम्बी कुल (Leguminoseae)

प्राप्ति स्थल

शरपुंखा हमारे देश में 6,000 फुट की ऊंचाई तक सभी स्थानों पर प्राकृतिक रूप से पाया जाता है। इसके अतिरिक्त भारत के सभी मैदानी इलाकों में भी यह पाया जाता है। यद्यपि यह सभी प्रकार की मिट्टियों जैसे—दुमट, बलुई, चट्टानी आदि मिट्टी में सरलता से उगता है लेकिन इसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त बलुई मिट्टी होती है। यह पौधा सर्वत्र सुलभ होता है अतः इससे बनाई जाने वाली ताजी औषधी का संग्रह सरलतापूर्वक किया जाता है। दक्षिण भारत में नारियल व केले के साथ इसकी कृषि की जाती है जबकि अन्य देशों में रबर व तम्बाकू के साथ इसकी सफलतापूर्वक कृषि की जा रही है।

ऐतिहासिक तथ्य

आयुर्वेद में शरपुंखा का पर्याप्त विवरण मिलता है। हालांकि चरक द्वारा इसका वर्णन कहीं नहीं किया गया लेकिन सुश्रुत द्वारा इसका प्रयोग रेबीज़ रोग को दूर करने हेतु बताया गया है। रेबीज़ के लिए शरपुंखा, चावल व धतूरा जड़ को मिलाकर एक संयुक्त दवा तैयार की गई है जिसे एक लोक औषधी के रूप में प्रयोग में लाया जाता है।

शरपुंखा का सामान्य परिचय

स्वभाव—शरपुंखा 1 से 3 फुट ऊंचा, सीधा व बहुवर्षीय पौधा होता है। यह अत्यधिक शाखित होता है।

तना—शरपुंखा का तना हरा, अत्यधिक शाखित, बेलनाकार तथा चिकना होता है। कभी-कभी इसमें मृदु रोम भी हो सकते हैं। अक्ष पर यह कोणीय भी हो सकता है। इसमें नोड (nodes) व इन्टरनोड (internodes) स्पष्ट होते हैं। यह दिखने में नील के समान लगता है अतः इसे नीलवृक्षाकृति भी कहते हैं।

जड़—इसमें सरल मूसला जड़ पाई जाती है।

पत्ती—शरपुंखा की पत्तियां सपत्रक होती हैं तथा इनमें 5-9 पत्रक होते हैं। प्रत्येक पत्रक आयताकार-प्रतिभालाकार (oblong-oblanceolate) तथा रोमशाग्र (bristle tipped) होता है। पर्णवृन्त छोटा होता है तथा अनुपर्ण उपस्थित होते हैं। प्रत्येक पत्रक 2.5 से.मी. लम्बा व 1.5 से.मी. चौड़ा होता है। पत्रक की ऊपरी सतह चिकनी होती है जबकि निचली सतह हल्की रोमिल होती है। सूखने पर पत्रक थोड़ा कुण्डलित हो जाते हैं। इसके पत्रक तोड़ने पर बाण के अग्र भाग के समान टूटते हैं अतः इसे शरपुंखा कहा जाता है। यहां यह नील से भिन्न होता है क्योंकि नील के पत्रक इस प्रकार नहीं टूटते।

पुष्प— शरपुंखा के पुष्प लाल या बैंगनी रंग के तथा पत्ती के विपरीत रेसीम क्रम (अभिमुख स्थित मज्जरियों) में विकसित होते हैं। पुष्प 6.25 एम.एम. से 8 एम.एम. तक लम्बा होता है तथा पुष्पवृत अत्यंत छोटा होता है।

फली— शरपुंखा की फली 3.5 से 5 से.मी. लम्बी तथा 4.0 एम.एम. चौड़ी होती है। यह चिकनी या हल्की रोमिल होती है। यह फली सीधी तथा चपटी होती है तथा इसका अग्र भाग कुण्ठित (blunt) होता है। इसमें एक छोटी चोंच के समान नोक उपस्थित होती है। सूखने पर इसकी फली हल्की मुड़ जाती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बीज— शरपुंखा की प्रत्येक फली में 4 से 10 तक छोटे-छोटे वृक्काकार बीज लगते हैं। बीज के आवरण के बाहर की तरफ एक वैक्सीय त्वचा पाई जाती है जिसके कारण बीज सरलता से नहीं उगता। यही कारण है कि इसे उगाने के लिए पहले इसे गर्म पानी में भिगोया जाता है। इसका बीज चिकना व हरे-स्लेटी (चितकबरा) रंग का होता है।

शरपुंखा के औषधीय उपयोग

शरपुंखा का सम्पूर्ण पादप (पंचांग) अर्थात् जड़, तना, पत्ती, फली तथा बीज का औषधीय महत्व होता है। इसके प्रमुख भागों के उपयोग निम्नानुसार हैं—

जड़— इसकी जड़ को कीटनाशक तथा पिस्सीसाइडल के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है लेकिन यह तथ्य अभी विवादास्पद है। इसकी जड़ में मुख्यतः Tephrosin, Deguelin, Quercetin, Isotephrosin तथा Rotenone आदि तत्व पाए जाते हैं। इसकी जड़ में 2.5% रयूटिन (Rutin) पाया जाता है।

शरपुंखा की जड़ बदहजमी, अतिसार (Diarrhoea), गठिया, अस्थमा, तथा पेशाब से सम्बन्धित लगभग सभी औषधियों में मुख्य भूमिका निभाती है। इसके मुख्य योग निम्नानुसार हैं—

- जड़ के पाउडर को पीने (Smoking) से अस्थमा व कफ में राहत मिलती है।
- इसकी जड़ को काली मिर्च के साथ देने पर हठी पेट दर्द ठीक हो जाता है।
- इसकी जड़ ,को कूटकर दूध में उबालने के पश्चात् ठंडा करके कुष्ठ रोग के घावों पर लगाने से आराम पहुंचता है।
- जड़ का रस फोड़े-फुंसी पर लगाया जाता है।
- इसकी जड़ का लेप फीलपांव रोग (elephantiasis) में लाभकारी होता है।

पत्ती— शरपुंखा की पत्ती में नाईट्रोजन व पोटेशियम अत्यधिक मात्रा में पाए जाते हैं। इसके प्रमुख रासायनिक घटक निम्नानुसार हैं—

Ash	=	9.96%
Calcium	=	2.0%
Magnesium	=	1.0%
Potassium	=	3.38%
Phosphorous	=	0.49%
Sodium	=	0.87%
Nitrogen	=	7.25%
Silica	=	2.19%
Crude Protein	=	24.43%
Ether extr.	=	2.5%
Crude Fibre	=	27.97%
N-Free extr.	=	37.41
Minerals	=	7.73%

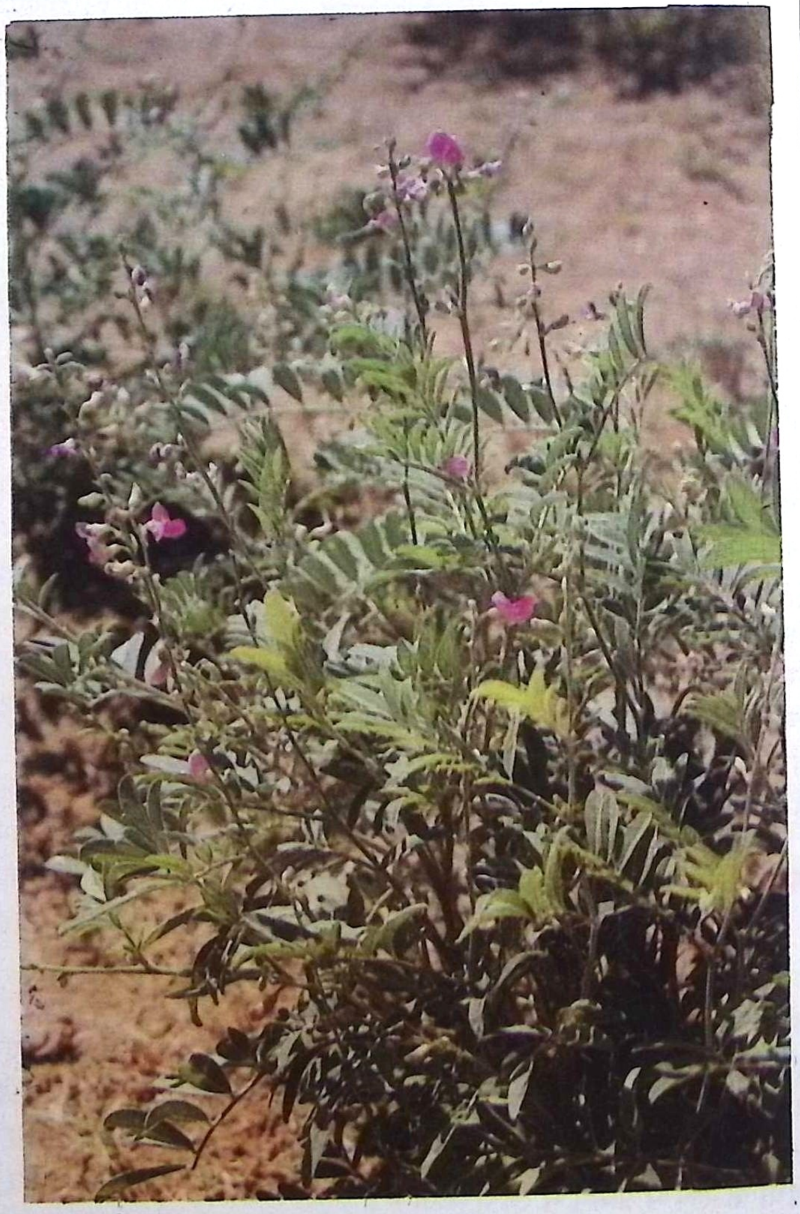

शरपुंखा का फूल युक्त पौधा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इसकी पत्तियों में ट्यूटिन (Tutin) व रोटेनोएड्स (Rotenoids) भी पाए जाते हैं। ये पत्तियां आंत संबंधी रोगों में, भूख बढ़ाने में, फेफड़े तथा छाती से संबंधी रोगों में, बवासीर में तथा पीलिया में अत्यंत उपयोगी होती हैं।

सम्पूर्ण पादप

शरपुंखा के सम्पूर्ण पादप का उपयोग निम्नलिखित व्याधियों को दूर करने हेतु किया जाता है—

- पेट साफ करने में।
- डाईयूरेट के रूप में।
- श्वासनली की सूजन दूर करने में।
- पित्त संबंधी रोगों में।
- बवासीर में।
- मुहांसे तथा अन्य फोड़े-फुंसी को दूर करने में।
- कफ संबंधी बीमारियों में यह अत्यंत लाभकारी है।
- किडनी संबंधी सभी बीमारियों को दूर करने में भी इसका प्रयोग होता है।
- सम्पूर्ण शाक का सत्व लीवर संबंधी व्याधियों को दूर करता है। यह लीवर की कार्यक्षमता भी बढ़ाता है।
- यह प्लीहा, हृदय तथा रक्त संबँधी व्याधियों को दूर करता है।
- अल्सर, कुष्ठ रोग व अस्थमा में इसका सत्व प्रयुक्त होता है।

फली तथा बीज

- शरपुंखा की फली का रस जलन व दर्द में राहत पहुंचाता है।
- उल्टी को रोकने के लिए इसका सत उपयोग में लाया जाता है।
- शरपुंखा बीज से प्राप्त तेल खुजली, एग्ज़ीमा तथा अन्य त्वचीय व्याधियों में उपयोग में लाया जाता है।

शरपुंखा का कृषिकरण

शरपुंखा पूरे भारत के लिए एक सर्वविदित औषधीय पादप है। इसका उपयोग आयुर्वेदिक, ऐलोपैथिक, यूनानी एवं होम्योपैथिक चिकित्सा में प्रचुर मात्रा में होता है।

आधुनिक युग में लीवर व किडनी क्षतिग्रस्त होने की बीमारी अत्यधिक सामान्य है। लीवर की बीमारियों को दूर करने में शरपुंखा का उपयोग विभिन्न औषधियों में प्रचुर मात्रा में होने लगा है। वैसे यद्यपि लीवर के लिए कालमेघ, भृंगराज, कुटकी आदि प्रमुख औषधियां प्रयोग में ली जाती हैं किन्तु आधुनिक चिकित्सा पद्धति में हुए अनुसंधान से शरपुंखा के पंचाग से बनी औषधियां लीवर के लिए अमृत तुल्य पाई गई हैं।

विभिन्न कम्पनियों की बढ़ती मांग के कारण शरपुंखा का कृषिकरण अत्यन्त आवश्यक हो गया है।

शरपुंखा की खेती करने के लिए अच्छी गुणवत्ता वाले पौधों से अक्टूबर-नवम्बर माह में बीज इकट्ठे किए जाने चाहिएं। जून-जुलाई माह में खेत की गहरी जुताई करके इसके बीजों की बुआई हलों द्वारा की जाती है। प्रति हेक्टेयर 10 कि.ग्रा. बीज पर्याप्त होता है। इस फसल को अतिरिक्त सिंचाई की कोई आवश्यकता नहीं होती। यदि फसल में अनावश्यक खरपतवार हो तो निराई कर देनी चाहिए। शरपुंखा की जड़ों में नोडल्स होते हैं जो वातावरण की नाइट्रोजन का यौगिकीकरण करते हैं। इस प्रकार नाइट्रोजन की कमी वाली भूमि में इसकी खेती करके उसे उपजाऊ बनाया जा सकता है जिससे रासायनिक नाइट्रोजन डालने से बचा जा सकता है तथा यूरिया की बचत की जा सकती है।

यह फसल 120 दिनों में फूलों से लद जाती है अर्थात् जुलाई में बोई गई फसल अक्टूबर में पूर्णतः पुष्पित होकर नवम्बर तक फलित हो जाती है। इस फसल को जड़ समेत उखाड़ लेना चाहिए और छाया में सुखाना चाहिए। सूखने पर इसकी जड़ों को अलग कर दें तथा ऊपर का पौधा अलग कर दें। ऊपरी पौधे का पंचांग कुट्टी करके बोरों में भरकर बेचा जाता है। प्रति हेक्टेयर 20 क्विंटल पंचाग व 8-10 क्विंटल जड़ प्राप्त हो जाती है। वर्तमान समय में यद्यपि शरपुंखा पंचांग का भाव 10-15/- रुपये प्रति किलो है लेकिन लीवर की दवा बनाने वाली कम्पनियां गुणवत्ता के आधार पर अधिक कीमत भी दे सकती हैं। शरपुंखा जड़ का वर्तमान बाजार भाव 30-40/- रु. प्रति कि.ग्रा. है।

ज्ञातव्य हो कि इसके पौधों को साधारणतया कोई जानवर न तो खाता है और न ही क्षति पहुंचाता है। अतिरिक्त सिंचाई की आवश्यकता नहीं होने पर इसकी खेती ऊंची, नीची, पथरीली तथा किसी भी प्रकार की भूमि में की जा सकती है। ऐसी भूमि जहां कृषि कार्य करना दुश्कर हो वहां शरपुंखा जैसे महत्वपूर्ण औषधीय पौधों की खेती करकेभूमि की उर्वरा शक्ति तो बढ़ाई जा ही सकती है, साथ ही आर्थिक लाभ भी प्राप्त किया जा सकता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

58. खुरासानी अजवाइन की खेती

खुरासानी अजवाइन सोलेनेसी (Solanaceae) कुल के अन्तर्गत आने वाले जीनस हायोसायमस का पौधा है। इसकी दो प्रमुख प्रजातियां हैं—काली खुरासानी अजवाइन (ब्लेक हेनबेन) तथा इजिप्शियन खुरासानी अजवाइन (इजिप्शियन हेनबेन)। काली खुरासानी अजवाइन यूरोप, मध्य एशिया, भारत, इंडोनेशिया, दक्षिण इंगलैण्ड, उत्तरी अफ्रीका की मूल निवासी है। भारत में यह उत्तरी-पश्चिमी हिमालय के क्षेत्रों में 2450 मीटर की ऊंचाई तक कश्मीर से लेकर गढ़वाल तक में पायी जाती है। इजिप्शियन हेनबेन अथवा खुरासानी अजवाइन मौलिक रूप से इजिप्ट, सूडान, सीरिया, बिलोचिस्तान, एशियामाइनर और अफगानिस्तान में पैदा होती है। अब भारत और केलीफोर्निया में भी सीमित क्षेत्रों इसे पैदा किया जाने लगा है। यह मूलत: खुरासान से भारत में आई थी तथा यहां पर भारतीय चिकित्सकों ने इसे अजवाइन के समान समझकर इसका नाम ''खुरासानी'' या ''पारसीकयमावी'' रख दिया। परन्तु इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि गुण-कर्म एवं वानस्पतिक दृष्टि से दोनों ही औषधियां सर्वदा भिन्न हैं। खुरासानी अजवाइन को अजवाइन का भेद नहीं समझना चाहिए। खुरासानी अजवाइन एक विषैली औषधी है। औषधीय उपयोग में इसके बीज प्रयुक्त होते हैं।

भारत में श्रीनगर और उत्तरप्रदेश की निचली घाटियों में खुरासानी अजवाइन लम्बे समय से उगाई जा रही है। मध्यप्रदेश के मालवा के क्षेत्र में इन्दौर से लगे क्षेत्रों में इसे प्रसारित करने के सतत प्रयास जारी हैं जबकि मन्दसौर एवं नीमच क्षेत्रों में इसकी खेती प्रारंभ हो चुकी है।

उपयोग

खुरासानी अजवाइन की पत्तियों और फूल युक्त डालियों में एल्कोलाइड्स होते हैं, जिन्हें विभिन्न बीमारियों के उपचार हेतु उपयोग में लाया जाता है।

मिश्र के लोगों द्वारा खुरासानी अजवाइन को 4000 वर्ष पूर्व से दवाइयों में उपयोग में लाया जाता रहा है। आधुनिक दवाओं में यह सीडेटिव एवं नॉरकोटिक के रूप में उन्माद, अनिद्रा और तंत्रिका तंत्र की उदासीनता में प्रयुक्त हो रहा है। यह लम्बे समय से खांसी, ब्रोन्काइटिस एवं अस्थमा की प्रारम्भिक अवस्था में भी प्रयुक्त हो रहा है। इसके अतिरिक्त यह दस्तावर एवं कार्मिनेटिव के रूप में भी प्रयुक्त होता है। वाह्य दवा के रूप में यह न्यूरेलिया, रयूमेटिज्म,ग्रंथियों के बढ़ने एवं अल्सर में प्रयोग किया जाता है। इसकी बीजों का उपयोग दांत के दर्द में भी होता है। काली खुरासानी अजवाइन में एल्कोलाइड्स की मात्रा 0.05 से 0.20 प्रतिशत एवं एजिप्शियन खुरासानी अजवाइन में 0.05 से 0.80 प्रतिशत तक होती है। खुरासानी अजवाइन में मुख्य एल्कोलाइड ''हायोसायमीन'' होता है जोकि कुल एल्कोलाइड का 90 प्रतिशत होंता है।

किस्में

अजवाइन की मुख्य किस्में निम्नानुसार हैं—

काली खुरासानी अजवाइन	=आई.सी.-66
इजिप्शियन खुरासानी अजवाइन	= एच.एम.आई.-1
	एच.एम.आई.-2
	एच.एम.आई.-3

भूमि एवं जलवायु

खुरासानी अजवाइन हल्की दुमट से लेकर सिल्ट दुमट एवं उत्तम जल निकास वालीभूमि में बहुत अच्छी तरह से पैदा होती है। इसके अलावा यह औसत उपज वाली क्ले दुमट भूमि जिसका पी.एच. मान 8 तक हो, में भी पैदा हो जाती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वैसे तो यह एक टेम्परेट पौधा है परन्तु यह उप-अनयनवृत्त क्षेत्रों में भी हो जाता है। टेम्परेट एवं पहाड़ी क्षेत्रों में यह गर्मी में उगाया जाता है और उपअनयनवृत्त क्षेत्रों में यह ठण्ड की फसल के रूप में उगाया जाता है। अधिक तापमान एवं अधिक आर्द्रता इस फसल की पैदावार को कम कर देती है। मध्यभारत में होने वाले तापमान के अचानक उतार-चढ़ाव भी इसे प्रभावित कर सकते हैं।

खुरासानी अजवाइन की कृषि तकनीक

इस फसल को सीधे बीज से उगाया जाता है। इसकी खेती से संबंधित अन्य जानकारियां निम्नानुसार हैं—

खेत की तैयारी

फसल को बोने से पूर्व खेत को अच्छी तरह से जोतकर बखर चला दिया जाता है ताकि इसकी मिट्टी भुरभुरी एवं बारीक हो जाए। यदि खेत की मिट्टी कड़ी हो गई हो तो इसे पानी देने के बाद बखरना चाहिए जिससे मिट्टी अच्छी बारीक हो सके। बखरे हुए खेत में पाटा चलाकर उसे समतल कर देना चाहिए।

खाद एवं उर्वरक

खेत की तैयारी के समय 15-20 क्विंटल प्रति हे. की दर से अच्छा पका हुआ गोबर का खाद एक सा भुरक देना चाहिए ताकि यह खेत में अच्छी तरह मिल सके। उर्वरक के रूप में 40 किलो नत्रजन एवं 40 किलो स्फुर प्रति हे. की दर से कतारों में डालना चाहिए। इसके अतिरिक्त 40 किलो नत्रजन 40-50 दिन की फसल हो जाने पर छिड़ककर देना चाहिए एवं इसके बाद सिंचाई कर देनी चाहिए। जीवाणु खाद का उपयोग भी इस फसल की उपज में लाभदायक सिद्ध हुआ है एवं इसके उपयोग से उर्वरकों पर होने वाले खर्च को भी कम किया जा सकता है। जीवाणु खाद (एजोटोवेक्टर क्रोकोकम) एवं 40 किलो नत्रजन प्रति हे., उपयोग करके 22 प्रतिशत तक उपज बढ़ाई जा सकती है।

बिजाई का समय

इस फसल को बोने का उपयुक्त समय नवम्बर माह है। मध्यप्रदेश के इन्दौर क्षेत्र में नवम्बर के द्वितीय पखवाड़े में इसकी बोनी करने से अच्छी फसल प्राप्त हुई है।

बीज दर

खुरासानी अजवाइन की खेती के लिए 2-3 किलो प्रति हेक्टेयर बीज की आवश्यकता होती है।

फसल की बिजाई

यह सिंचित फसल है अतः तैयार खेत में क्यारियां बनाकर इस फसल को 25-30 से.मी. की दूरी पर कतारें बनाकर बोया जाता है। इसका बीज बहुत छोटा होता है अतः यह ध्यान रखना चाहिए कि बीज जमीन में 1-15 से.मी.से ज्यादा गहरा न जाये। कतारों को ढंकने के लिए बारीक गोबर की खाद का प्रयोग किया जाता है। बुवाई के तुरन्त बाद खेत में पानी दिया जाना चाहिए। बीजों का अंकुरण 6-10 दिन बाद शुरु हो जाता है। यदि अंकुरण न हो और खेत में नमी न हो तो एक पानी और दिया जाना चाहिए।

सिंचाई एवं निंदाई-गुड़ाई

यह एक सिंचित फसल है अतः इसमें 5-7 पानी देने पड़ते हैं। पहला पानी बोनी होने के तुरन्त बाद एवं दूसरा पानी 8-10 दिन बाद दिया जाता है। इसके बाद प्रत्येक 15-20 दिनों के बाद फसल के पकने तक पानी दिए जाने चाहिएं। अंकुरण के 15 दिन बाद एक निंदाई व गुड़ाई की जानी चाहिए। अच्छे उत्पाद के लिए 2-3 बार निंदाई-गुड़ाई करना उपयोगी होता है।

पौध विरलन

इस फसल में पौध विरलन अतिआवश्यक होता है। 30-40 दिन की फसल हो जाने पर पौध विरलन किया जाता है। पौध विरलन में 10-15 से.मी. की दूरी पर 1-2 अच्छे पौधे छोड़कर शेष पौधों को निकाल दिया जाता है।

कटाई

काली खुरसानी अजवाइन 100-110 दिन की फसल है। जब यह फसल 90-100 दिन की हो जाती है तथा इसमें 50 प्रतिशत फूल आ जाते हैं तब पहले इसकी निचली पत्तियां तोड़ ली जाती हैं। तदुपरान्त ऊपर की पत्तियां एवं कोमल

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

फूलयुक्त डालियां तोड़ ली जाती हैं। इजिप्शियन खुरासानी अजवाइन 140–150 दिन की फसल है एवं जब यह फसल 125–130 दिन की हो जाती है तब उसके पौधों को जमीन से कुछ ऊपर से काट लिया जाता है। इस तरह प्राप्त उत्पाद में 80% से 90 प्रतिशत तक नमी होती है अतः इसे पतला-पतला फैलाकर सुखाया जाता है। जब उत्पाद अच्छी तरह से सूख जाये तब उसे पौलीथीन के थैलों में भर कर भंडारित किया जाता है। एक हैक्टेयर की खेती से लगभग 18–25 क्विंटल तक उपज प्राप्त होती है।

बीमारियां एवं कीड़े

इस फसल में बीमारियों एवं कीड़ों से कोई ज्यादा नुकसान नहीं होता। इस फसल में लगने वाली कुछ प्रमुख बीमारियां हैं–लीफ स्पाट, सीडलिंग ब्लाईट एवं विल्ट। इन बीमारियों को 2 ग्रा.प्रति किलो बीज की दर से केप्टान या बावस्टीन या बेनलेट में बीजोपचार करके रोका जा सकता है। बीमारी आने पर आरियोफजिन 15 ग्रा. प्रति. हे. का 2–3 बार छिड़काव करें। मालवा क्षेत्र में इस फसल पर एफिड का ज्यादा प्रकोप देखा गया है। इसकी रोकथाम के लिए एन्डोसल्फान (थायोडान 35 ई.सी.) का 1 से 1.5 लीटर प्रति हे. या मेथिल पेराथियान 50 ई.सी. का 500 मिली. ली. प्रति हे. की दर से 2–3 बार 10–15 दिन के अन्तराल पर छिड़काव करना चाहिए।

आय-व्यय

खुरासानी अजवाइन की फसल पर प्रति हैक्टेयर होने वाले आय-व्यय को निम्नानुसार देखा जा सकता है—

व्यय

	विवरण	खर्च रुपयों में)
1.	खेत की तैयारी	1000
2.	बीज एवं खाद	1000
3.	बोनी, निंदाई-गुड़ाई	2000
4.	सिंचाई	1200
5.	कटाई	1000
		कुल = 6200

आय

	विवरण	आय (रुपयों में)
1.	उपज (20 क्विंटल प्रति हे. उपज, 1500 रुपया प्रति क्विं.)	30,000

शुद्ध लाभ

= 23800

इस तरह खुरासानी अजवाइन की खेती से 23800 रुपये का शुद्ध लाभ प्रति हे. कमाया जा सकता है।

खुरासानी अजवाइन के बीजों का प्राप्ति स्थल

खुरासानी अजवाइन के बीज **औषधीय एवं सुगंधीय परियोजना, कृषि महाविद्यालय, इन्दौर (म.प्र.)** से प्राप्त किए जा सकते हैं।

शांति हर्बल एग्रो फॉर्म
206, सिल्वर आर्केड, छप्पन दुकान के पास, पलासिया, इन्दौर-452 001 (म.प्र.)
अश्वगंधा, सफेद मुसली, कलिहारी, मस्कदाना, चंद्रशूर,
बच आदि औषधीय पौधों के प्लांटिंग मटेरियल विक्रेता
सम्पर्कः प्रवीण जैन, 206, सिल्वर आर्केड, छप्पन दुकान के पास, इन्दौर
फोन: (0731) (ऑ.) 544157 मोबाईल: 98260-44157 (नि.) 493902
फार्म : शांतिलाल जैन, चारुवा
जिला-हरदा (म.प्र.) फोन: (07571) 53122

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

59. गिलोय—औषधीय उपयोग तथा कृषि प्रक्रियाएं

गिलोय का उल्लेख, चरक संहिता में व्य:स्थापन, दाहप्रशमन, तृष्णानिग्रहण आदि महाकाषायों के अन्तर्गत तथा सुश्रुतसंहिता में गुडुच्यादिगण, पटोलदिगण, बल्लीपंचमूलगण आदि के अन्तर्गत मिलता है। गिलोय कई नामों जैसे अमृता, छिन्ना, गुडुची, छिन्नोद्रवा, छिन्नकहा तथा चक्रांगी आदि नामों से भी जानी जाती है।

विभिन्न भाषाओं में इसके नाम निम्नानुसार हैं—

हिन्दी	—	गिलोय, गुडिच, गुर्च, गुलबेल
अंग्रेजी	—	गेलो (Galo)
राजस्थानी	—	गिलोय, गिलव
गुजराती	—	गलो
बंगला	—	गुलञ्च, गुलच
मराठी	—	गुलबेल
तमिल	—	शिण्डिलकोडि
तेलगू	—	टिप्पारिगो
लेटिन	—	Tinospora Cordifolia

वानस्पतिक कुल —गुडुची कुल (Menispermaceae)

गिलोय सम्पूर्ण भारतवर्ष में समुद्र तल से 900 मीटर की ऊंचाई तक प्राप्त होती है। यह सामान्य रूप से पर्णपाती तथा शुष्क वनों में पाई जाती है।

परिचय

स्वभाव—गिलोय एक बहुवर्षीय, मांसल, चिकनी अर्थात् रोम रहित, तथा झाड़ लता (Climbing shrub) है। पतझड़ में इसके पत्ते झड़ जाते हैं और वर्षा ऋतु में इस पर पुन: नवीन पत्ते आ जाते हैं।

जड़—इसकी जड़ सफेद रंग की होती है। यह मुलायम व रसयुक्त होती है तथा इसमें तीव्र एरोमैटिक गंध होती है। इसके नोड्स पर मृदु वायवीय जड़ें भी उपस्थित हो सकती हैं।

तना—गिलोय का तना हरा, मांसल तथा इसका भीतरी भाग चक्राकार होता है। इसके तने पर भूरे या भस्म वर्ण की

पत्तियों से लदी गिलोय की लता

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पतली छाल होती है। तने के पुराने हो जाने पर यह फटती जाती है। नवीन तना हरा व कोमल होता है जबकि तने के पुराने हो जाने पर यह भूरा तथा श्वेत धब्बों युक्त हो जाता है।

पत्तियां (Leaf)— गिलोय की पत्तियां एकांतरित क्रम में विकसित होती हैं तथा ये हृदयाकार होती हैं। पत्ती की ऊपरी सतह गहरे हरे रंग की होती है जबकि निचली सतह हल्के हरे रंग की होती है। पानी की अधिकता में पत्तियों का आकार बड़ा होता है। विकसित पर्ण की लम्बाई 3-5 इंच तथा चौड़ाई लगभग 3-4 इंच की होती है। पत्तियां लम्बे पर्णवृन्तों द्वारा मुख्य तने से जुड़ी होती हैं। पत्ती की मुख्य शिरा स्पष्ट व मोटी होती है तथा पार्श्व शिराएं पतली होती हैं। पतझड़ में इसकी पत्तियां झड़ जाती हैं।

पुष्प— गिलोय के पुष्प पेनिकल रेसीम अर्थात् मंजरी में लगे रहते हैं। जब पौधा पत्ती रहित होता है तभी इसमें पुष्प लगते हैं। पुष्प पत्ती के अक्ष से निकलते हैं तथा पुष्प का रंग पीला या हरा-पीला होता है। स्त्री पुष्प प्रायः एकल तथा मंजरी में मध्य में लगे होते हैं जबकि नर पुष्प गुच्छों में लगे रहते हैं।

फल— इसके फल मटर के समान गोल या अण्डाकार होते हैं। इसका कच्चा फल हरा होता जबकि पकने पर यह लाल रंग लिए होता है। रसयुक्त मृदु फल में एक ही बीज होता है जोकि घुमावदार होता है।

गिलोय के औषधीय उपयोग

गिलोय की जड़, फल तथा पत्ती का उपयोग औषधीय रूप में किया जाता है लेकिन इसका तना सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण होता है। इसके विभिन्न भागों के औषधीय उपयोग निम्नानुसार हैं—

जड़— इसकी जड़ वमनकारी होती है। इसकी जड़ को जल के साथ पीसकर लगाने से कुष्ट रोग में लाभ होता है। गिलोय जड़ का क्वाथ सर्पविष को भी दूर करता है।

फल— गिलोय के सूखे फल का पाउडर, घी या शहद के साथ मिलाकर लेने से यह एक अच्छे टॉनिक का कार्य करता है। इसका फल पीलिया व गठिया में भी लाभकारी होता है।

पत्ती— गिलोय की पत्ती में सबसे ज्यादा मात्रा प्रोटीन की होती है। साथ ही इसमें कैल्शियम व फास्फोरस की भी अच्छी मात्रा पाई जाती है। इसके प्रमुख रासायनिक घटक निम्नानुसार हैं—

Either extract	=	2.5%
N-Free	=	61.0%
Crude Fibre	=	17.5%
Calcium	=	1.06%
Phosphorus	=	0.57%

इसकी पत्ती के मुख्य उपयोग निम्नानुसार हैं —

- पत्ती का रस गठिया रोग में लाभदायक होता है।
- पत्ती के रस का तक्र के साथ सेवन पीलिया में लाभकारी होती है।
- पत्ती का दूध के साथ लेप चेचक में हितकारी होता है।

तना— गिलोय के तने में विभिन्न ग्लूकोसाइड्स तथा एल्कालोइड्स उपस्थित होते हैं। गिलोय के तने को वर्षाऋतु से पहले काट कर सुखा लिया जाता है। यही काटे गए भाग गुडुची के नाम से बाजार में मिलते हैं।

- गीली गुडुची के टुकड़ों की माला पहनना पीलिया में लाभकारी होता है।
- गुडुची को सोंठ तथा पिपरामूल के साथ मिलाकर पीने से वातज्वर दूर होता हैं।
- गिलोय क्वाथ में पिप्पली चूर्ण मिलाकर लेने से कफज्वर समाप्त हो जाता है।
- गिलोय, कटेरी तथा सोंठ के क्वाथ में पिप्पली चूर्ण मिलाकर लेने से वातपित्त ज्वर ठीक हो जाता है।
- गिलोय, नीम की छाल, धनियां, चंदन, कुटकी क्वाथ पित्त कफ ज्वर में लाभकारी है।
- गिलोय, सोंठ तथा वृहत्तपंचमूल क्वाथ प्रसूति ज्वर में लाभदायक है।
- गिलोय रस तथा कूष्माण्ड रस मिश्री के साथ लेने से अम्लपित्त दूर होता है।
- गिलोय सत्व, इलायची तथा बंशलोचन को शहद के साथ लेने से क्षय रोग में लाभ होता है।
- गिलोय तथा सतावरी का क्वाथ पीने से श्वेतप्रदर में लाभ होता है।
- गिलोय तथा ब्राम्ही का सेवन करने से दिल की धड़कन नियंत्रित रहती है।
- गिलोय, ब्राम्ही तथा शंखपुष्पी चूर्ण को आँवले के साथ लेने से रक्त चाप नियंत्रित रहता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

- गिलोय क्वाथ से मरिचचूर्ण तथा शहद मिलाकर पीने से सिर दर्द में लाभ होता है।
- गिलोय तथा सारिवा का क्वाथ रक्तविकार को दूर करता है।
- गिलोय तथा अश्वगंधा को दूध में पकाकर लेने से बन्ध्यत्व दूर होता है।
- गिलोय सत्व को आंवले के रस के साथ लेने से नेत्र रोग में लाभ होता है।

गिलोय का कृषिकरण

गिलोय को अमृता कहा गया है। शरीर की जीवनी शक्तियों तथा इनके स्रोतों की विकृति को दूर करने के लिए आयुर्वेद में चार जड़ी-बूटियों का विशेष महत्व है—आँवला, गिलोय, अर्जुन तथा जीवंती। अत: गिलोय की खेती करना अत्यंत लाभदायक है। वैसे तो इसकी जड़, तना, पत्ती, पुष्प और फल सब में औषधीय गुण विद्यमान हैं लेकिन बाजार में इसका तना या तने से निकाला गया सत्व ही ज्यादा बिकता है। गिलोय की बहुवर्षीय लता दक्षिणावर्ती कुण्डल द्वारा पेड़ पर चढ़ती है। नीम के पेड़ पर चढ़ी लता को नीम गिलोय कहते हैं जिसका आयुर्वेद में विशेष महत्व है। इसकी लता को चढ़ाने के लिए नीम का पेड़ सर्वोत्तम माना गया है। खेतों की बाड़ (बागड़) पर भी इसे चढ़ाया जाता है। बड़े पैमाने पर व्यावसायिक खेती करने हेतु इसके लिए तीव्र गति से बढ़ने वाले पेड़ों को सहारा पेड़ों के रूप में काम में लिया जाता है। सहारा पेड़ों के लिए मुख्यतया तीन पौधे उपयुक्त पाए गए हैं—1. अगस्ती, 2. जेट्रोफा तथा 3. सहजन (Moringa Oleigera).

प्रथम वर्ष इन पेड़ों (जिन पर गिलोय की बेलें चढ़ाना हों) की नर्सरी तैयार करके या इन्हें सीधे खेत में बीज द्वारा भी विकसित किया जा सकता है। जब ये पौधे एक वर्ष के हो जाएं तब प्रत्येक पौधे के पास गिलोय की कलम लगाई जाती है। कलम की मोटाई, तर्जनी अंगुली से मोटी व हाथ के अंगूठे से पतली व 9 इंच लम्बी होनी चाहिए। जून-जुलाई में इसकी कलम लगाई जाती है। हर 15 दिन में इसकी हल्की सिंचाई की जाती है। गिलोय की लता बहुत तेज गति से बढ़ती है तथा वर्ष पर्यन्त हरी-भरी रहती है। पतझड़ काल में जब इसकी पत्तियां झड़ना शुरु हो जाती हैं तब जमीन से एक फुट ऊपर हंसिए से काट कर पूरी लता को इकट्ठा कर लिया जाता है। गिलोय के तने की मोटाई 3-4 इंच व्यास वाली होती है। इसका मोटा काण्ड (Stem) भूरा हरापन लिए हुए होता है जिसे छोटे-छोटे टुकड़ों में काट कर छाया में सुखा लिया जाता है। इसका तना ही गुड़ुची/गिलोय के रूप में बाजार में बिकता है। एक बार काट लेने के बाद यह पुन: वर्षा ऋतु में प्रस्फुटित हो जाती है। यदि खेत में कुछ पौधे प्रस्फुटित न हों तो उनकी जगह नए पौधे लगाए जा सकते हैं।

उत्पादन

गिलोय के तने को काट कर 3-4 इंच बड़े टुकड़े करके बेचा जाता है। प्रति हेक्टेयर इसके तने का उत्पादन लगभग 8-10 क्विंटल होता है। इस समय इसका बाजार मूल्य लगभग 15-20/- रुपये प्रति किलो है।

गिलोय सत्व

गिलोय के तने का ऊपरी छिलका उतार कर 1-2 इंच बड़े टुकड़े कर लें। इन टुकड़ों को पत्थर से या डंडे से कूट कर 10 गुने जल में भिगो दें। भिगोने के लिए मिट्टी का पात्र सर्वोत्तम है। इन टुकड़ों को 12 घंटे तक भीगने दिया जाए जिससे यह फूल कर मुलायम हो जाएं। 12 घंटे के बाद हाथ से मसल कर इन टुकड़ों को पानी से बाहर निकाल कर फेंक दें जिससे गिलोय के तने का स्टार्च पानी में घुल जाएगा। शेष बचे पानी को मोटे कपड़े से छानकर 3-4 घंटे पड़ा रहने दें। बर्तन के पेंदे में गिलोय स्टार्च जम जाएगा। इसके ऊपर का पानी निथार कर फेंक दें। जल निथारने के बाद पात्र के पेंदे में श्वेत वर्ण का सत्व जमा हो जाएगा जिसे निकाल कर धूप में सुखा लेवें। यह सत्व सूखने पर चिकना अरारोट के समान हो जाता है। यदि सत्व में मटमैलापन हो तो दो-तीन बार चौगुने पानी से इसे धो लेना चाहिए। गिलोय को कभी भी सत्व निकालने के लिए न भिगोऐं। इसके सत्व को भी बाजार में अच्छी कीमत पर बेचा जा सकता है। 100 किलोग्राम गिलोय के काण्ड (stem) से एक से दो किलोग्राम तक सत्व निकाला जा सकता है। इसके सत्व में ग्लुकोसाइन गिलोइन (Glucosine giloin) मुख्य तत्व होता है।

गिलोय की खेती करने पर गिलोय से तो आर्थिक लाभ होता ही है साथ ही जो सहारा पौधे लगाए गए हों, उनसे भी आमदनी होती है। गिलोय की छाँव में छायापसंद औषधीय पौधों की खेती भी की जा सकती है। इस प्रकार मिश्रित खेती करके किसान प्रति हेक्टेयर 1 से 2 लाख रुपए तक प्रति वर्ष आमदनी प्राप्त कर सकता है। गिलोय की कटिंग जंगलों में आसानी से मिल जाती है जहां से लेकर इन्हें विधिवत खेती हेतु खेत में लगाया जा सकता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

60. बहुपयोगी एवं बहुलाभकारी औषधीय फसल

लहसुन

भारतीय परिपेक्ष्य में एक मसाले के रूप में, एक भोज्य पदार्थ के रूप में तथा एक औषधि के रूप में लहसुन की कितनी उपयोगिता है, इसकी व्याख्या शब्दों में कर पाना संभव नहीं होगा। शायद ही कोई ऐसा भारतीय घर होगा जहां किसी न किसी रुप में लहसुन का उपयोग न किया जाता होगा। भोजन को सुस्वादु बनाने हेतु मसाले के रुप में प्रयुक्त करने के साथ- साथ लहसुन का उपयोग अचार के रूप में, चटनी के रुप में, सॉस तथा कैचप के रूप में तथा ऐसे ही कई अन्य रूपों में इसका उपयोग किया जाता है।

लिलियासी समूह से संबंध रखने वाला तथा एल्यूम सेटिवम (Allium Sativam) के वानस्पतिक नाम से जाने जाने वाले लहसुन की औषधीय उपयोगिता भी अनन्त है। एक औषधि के रूप में इसका उपयोग सदियों से किया जाता रहा है। मिश्र के निवासियों द्वारा तैयार की गई पुस्तक "पपायरस" में लगभग 1500 ई.पूर्व इसके 22 औषधीय गुणों का उल्लेख मिलता है। अमेरिका के मूल निवासी इसका उपयोग सांप के काटे के इलाज से लेकर आंतों के कीड़ों को दूर करने तक हेतु किया करते थे। इग्लैंड में इसका उपयोग चेचक के रोगियों के इलाज हेतु किया जाता रहा है। एक एन्टीबॉयोटिक औषधि के रुप में लहसुन का उपयोग तो जग जाहिर है ही। सर्दी, खांसी तथा खराब गलों के उपचार हेतु आज भी लहसुन एक लोकप्रिय औषधि है तथा यह एक प्रभावशाली कफ नि:सारक भी है। इसे मूत्रवर्धक के रूप में तथा गठिया/ आमवात की स्थिति में लेने की सलाह भी दी जाती है। यह पेट की ऐंठने दूर करने में भी काम आता है तथा 'हाईपरटेन्शन' दूर करने में भी सहायक पाया गया है।

लहसुन के औषधीय उपयोगों पर विश्व भर में निरंतर शोध कार्य जारी हैं। इसे एक उत्कृष्ट ऐन्टीसेप्टिक माना जा रहा है। यह पेट को भी ठीक करता है, गाल ब्लैडर में होने वाले सीक्रीशन्स को उत्तेजित करता है तथा आंतों में उत्पन्न होने वाले कीड़ों को खत्म कर देता है। हाल के शोध कार्यों से इसे कैन्सर की भी अचूक औषधि माना गया है तथा ऐसा कहा जा रहा है कि यदि कोई व्यक्ति प्रतिदिन लहसुन की 5 फांकें खा ले तो उसे कुछ विशेष प्रकार के कैंसर होने की संभावना कम हो जाती है। यह पेट में

लहसुन की तैयार फसल

मलाशय, ग्रास नली तथा चमड़ी में होने वाले फोड़ों (ट्यूमर्स) को बढ़ने से भी रोकता है। खून में कोलेस्ट्रोल का स्तर कम करने में भी लहसुन काफी उपयोगी माना गया है तथा ऐसा माना जाता है कि इसके निरंतर उपयोग से कोलेस्ट्रोल के स्तर में 9 प्रतिशत तक की कमी आ जाती है जिससे हृदय रोग में लाभ पहुंचता है।

उपरोक्तानुसार देखा जा सकता है कि लहसुन एक बहुपयोगी कृषि उत्पाद है जो न केवल एक मसाले के रुप में बल्कि एक औषधि के रूप में भी बहुपयोगी है। इस उत्पाद के साथ एक अन्य सुविधा यह भी है कि यह शुद्ध अवस्था में प्रयुक्त होने के साथ-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

साथ पावडर, केप्सूल, पर्ल तथा कई अन्य रुपों में भी रखा एवं प्रयुक्त किया जा सकता है जिससे इसके शीघ्र खराब होने का खतरा नहीं रहता।

आजकल विदेशी मुद्रा उपार्जन की दृष्टि से भी कृषि उत्पादों में लहसुन का महत्वपूर्ण स्थान है। भारत में लहसुन चीन के बाद सबसे अधिक क्षेत्रफल में लगाया जाता है। उत्पादन की दृष्टि से भारत का विश्व में तीसरा स्थान है। यदि प्रति हैक्टयर उत्पादकता देखी जाए तो भारत इसका बहुत कम (3.89 टन/हैक्टेयर) उत्पादन करता है जबकि अमरीका में इसका 17.15 टन/हैक्टयर तथा कोरिया गणराज्य में इसका 9.82 टन/हैक्टयर उत्पादन होता है।

हमारे देश में मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, उड़ीसा तथा महाराष्ट्र, लहसुन के प्रमुख उत्पादक राज्य हैं। इनमें से कुल क्षेत्रफल एवं उत्पादन की दृष्टि से मध्यप्रदेश प्रथम स्थान पर है। यहां पर कुल राष्ट्रीय उत्पादन का 30 प्रतिशत लहसुन उत्पादित होता है। उत्पादकता की दृष्टि से पंजाब में प्रति हैक्टयर 12 टन, हरयाणा में 11 टन, महाराष्ट्र में 6.84 टन, मध्यप्रदेश में 3.8 टन, एवं राजस्थान में 3.35 टन प्रति हैक्टेयर लहसुन उत्पादित होता है। हमारे देश में लहसुन की प्रति हेक्टयर उपज अपेक्षाकृत कम होने का मुख्य कारण है -इसकी परम्परागत विधि से खेती करना। इसलिए आवश्यक हो गया है कि इसकी नई तकनीक से खेती की जाए एवं अधिकाधिक उपज प्राप्त की जाए।

लहसुन की कृषि तकनीक

जलवायु : लहसुन के उत्पादन में प्रकाश की अवधि का बहुत अधिक महत्व होता है। वृद्धिकाल में इसकी वृद्धि के लिए ठंडी एवं आर्द्र जलवायु की आवश्यकता होती है। संपूर्ण कंद के निर्माण के लिए छोटे दिन (कम प्रकाश अवधि) एवं कम तापमान की आवश्यकता होती है तथा कलिका निर्माण में लंबे दिन (अधिक प्रकाश अवधि) एवं अधिक तापमान की आवश्यकता होती है। लहसुन की सफल खेती के लिए 29 डिग्री सेंटीग्रेड से 34 डिग्री सेंटीग्रेड तापमान, 10 घण्टे प्रकाश अवधि और 70 प्रतिशत आर्द्रता उपयुक्त रहती है। समुद्र तल से 1000-1400 मीटर तक की ऊंचाई पर इसकी खेती सफलतापूर्वक की जा सकती है।

मृदा : इसकी खेती के लिए उपजाऊ, जीवाश्म युक्त, उत्तम जल निकास वाली ऐसी भुरभुरी मिट्टी उपयुक्त रहती है, जिसका पी.एच.मान 6-7 तक हो। जिस मिट्टी में पिछले वर्ष लहसुन लगाया गया हो वहां 1-2 वर्षों तक पुन: लहसुन नहीं लगाया जाना चाहिए।

लहसुन की प्रमुख किस्में : लहसुन उत्पादन में कृषकों को उन्नत किस्में उपलब्ध न हो पाना एक बड़ी समस्या है। अधिक उत्पादन के लिए आवश्यक है कि सही किस्म का चयन किया जावे। लहसुन की प्रमुख उन्नत किस्में निम्नानुसार हैं -

1. **एग्रोफाउंड व्हाइट (जी-41)** : यह बिल्कुल सफेद ठोस गांठ (3.5-4.5 सेंटीमीटर व्यास) वाली किस्म है। यह किस्म 160 से 165 दिन में तैयार हो जाती है तथा इसकी उत्पादन क्षमता 50 से 56 क्विंटल प्रति एकड़ है। यह किस्म पश्चिम, दक्षिण तथा मध्य भारत के लिए काफी उपयुक्त है।

2. **यमुना सफेद (जी-1)**: एग्रोफाउंड व्हाइट के समान दिखने वाली यह किस्म 150-160 दिनों में तैयार होकर 60 से 70 क्विंटल तक प्रति एकड़ उपज देती है। इसकी गांठ का व्यास 3.5 से 4 सेंटीमीटर होता है तथा एक गांठ में 28-30 हँसियानुना मुड़ी हुई कलियाँ होती हैं। अच्छी संग्रहण क्षमता एवं कीट व्याधि के प्रति सहनशील यह किस्म संपूर्ण भारत में उगाई जा सकती है।

3. **यमुना सफेद -2 (जी-50)**: यह किस्म 160-165 दिनों की अवधि वाली होती है। इसकी उत्पादकता प्रति एकड़ 60 से 80 क्विंटल है। इसकी गांठ सफेद, ठोस (व्यास 3.5 से 4) से.मी. तथा यह 20-30 कलियों वाली होती है। यह उत्तरी तथा पश्चिमी क्षेत्रों के लिए उपयुक्त है।

4. **जी- 282** : निर्यात के लिये यह किस्म सबसे उपयुक्त है। इसकी गांठ बड़ी, ठोस एवं सफेद होती है। इसकी कलियां सफेद एवं मोटी होती हैं। यह किस्म 150 से 165 दिनों में तैयार हो जाती हैं। इसकी उत्पादकता काफी अधिक (70-100 क्विंटल/एकड़) होने के कारण यह बहुत लोकप्रिय हो रही है। उत्तरी एवं मध्य भारत के लिए यह एक उपयुक्त किस्म है।

5 .**एग्रीफाउण्ड पार्वती (जी- 313)** : यह किस्म पहाड़ी क्षेत्रों में उगाने के लिए उपयुक्त होती है तथा 250 से 270 दिनों में तैयार हो पाती है। इसकी गांठ का व्यास 5-6 सेंटी मीटर होता है तथा यह किस्म प्रति एकड़ 70 से 80 क्विंटल तक उपज देती है।

लहसुन की खेती के लिए खेत की तैयारी:-लहसुन की खेती के लिए मिट्टी को भुरभुरी कर उसे समतल बना लें तथा पूरे खेत को ढाल के अनुसार छोटी छोटी क्यारियों में बांट दें। तदुपरांत सिंचाई के लिए इन्हें नालियों से जोड़ दें। ध्यान रखें कि क्यारियों के किसी कोने या किनारे पर पानी जमा न हो।

बीज एवं बुवाई : लहसुन के बीज स्वरुप इसकी कलियां लगाई जाती हैं। इसके लिए प्रति एकड़ लगभग 2 से 2.5 क्विंटल मोटी एवं स्वस्थ कलियों की आवश्यकता होती है। बुआई से पूर्व कलियों को डायथेन एम -45 अथवा बावस्टीन 0.2 प्रतिशत अथवा किसी कवक घोल से उपचारित करना उपयुक्त रहता है। बुआई के लिए किसी ऐसी कली का उपयोग नहीं करना चाहिए जिसका छिलका उतरा हुआ हो।

बिजाई का समय

मैदानी इलाकों में लहसुन की बुआई का सबसे उपयुक्त समय 15 अक्तूबर से 10 नवम्बर तक का होता है। जल्दी बुआई करने से अधिक सिंचाई करनी पड़ती है, उत्पादन भी कम होता है एवं फसल की गुणवत्ता भी अपेक्षाकृत कम रहती है। हां, इसमें शीघ्र विपणन का

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लाभ जरुर मिलता है। बुआई के लिये 15X10 सेंटीमीटर का अंतर सर्वोत्तम माना गया है। प्राय: हमारे देश में लहसुन की बुआई हाथों से ही की जाती है, हालांकि कुछ निर्माताओं ने ट्रेक्टर चलित यंत्रों का विकास भी लहसुन की बुआई के लिए किया है। निश्चित ही इन यंत्रों के प्रयोग से लहसुन की बुआई उपयुक्त दूरी पर होगी, समय भी कम लगेगा, लागत में भी कमी आएगी एवं कंद भी लगभग समान आकार के प्राप्त होंगे। विदेशों में इसकी बुआई के लिये 'कीठनी बीन प्लांटर' का उपयोग किया जाता है। वैसे हाथ से बुआई करना भी ज्यादा मंहगा नहीं पड़ता।

सिंचाई : बुआई के तुरंत बाद एक सिंचाई करना आवश्यक होता है। दूसरी सिंचाई एक सप्ताह के अंदर कर देनी चाहिए। इसके बाद की सिंचाईयां भूमि की आवश्यकता अनुसार करें। अधिक सिंचाई से स्प्राउटिंग की समस्या हो सकती है जबकि कम पानी देने से गांठें छोटी बनती हैं। अत: सिंचाई आवश्यकतानुसार ही की जानी चाहिए। गांठ के परिपक्व हो जाने पर खुदाई के 20-25 दिन पहले सिंचाई बंद कर दी जानी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक

लहसुन की अधिक उपज लेने के लिए आवश्यक है कि संतुलित मात्रा में खाद एवं उर्वरक का उपयोग किया जावे। इसके लिए खेत तैयार करते समय अंतिम जुताई से पूर्व 8-10 टन अच्छी पकी हुई गोबर की खाद तथा प्रति एकड़ 20-20-20 किलोग्राम प्रति एकड़ नत्रजन, स्फुर एवं पोटाश मिट्टी में मिला दे। नत्रजन की 10-12 किलोग्राम प्रति एकड़ मात्रा बुआई के 30 दिनों बाद तथा शेष मात्रा 45-50 दिनों के बाद देवें। बोरेक्स की 4 किलो ग्राम मात्रा प्रति एकड़ प्रयुक्त करने से कंदों के आकार एवं उत्पादन में वृद्धि होती है। ध्यान रखें कि संतुलित मात्रा से अधिक मात्रा में नत्रजन देना फुटाव(स्प्राउटिंग) की समस्या उत्पन्न कर सकता है।

निराई-गुड़ाई : लहसुन उथली जड़ तथा प्रकंद वाली फसल होने के कारण यह आवश्यक है कि इसकी मिट्टी नरम बनी रहे। इसके लिए इसकी समय-समय पर निराई-गुड़ाई तथा सिंचाई की जाना वांछित होगा।

निंदा (खरपतवार) के नियंत्रण हेतु 0.6 लीटर पेंडीमेथालीन (पेंडीगोल्ड, स्टाम्प) प्रति एकड़ बुआई के तीन दिनों के अंदर मिट्टी नम रहते समय (अंकुरण पूर्व) एवं 40-45 दिनों के बाद हाथ से निराई करने पर सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त होते हैं।

लहसुन में लगने वाले प्रमुख कीट एवं रोग तथा उनकी नियंत्रण व्यवस्था

थ्रिप्स : यह लहसुन का सबसे खतरनाक कीट है। यह पत्तियों की निचली सतह पर पाया जाता है। यह पत्तियों का रस चूसता है जिससे पत्तियां मुड़ जाती हैं और उन पर सफेद चमकदार धब्बे पड़ जाते हैं। इस कीट के नियंत्रण के लिए मैलाधियान (0.1 प्रतिशत) या मैटासिस्टोक्स (0.075 प्रतिशत) मोनोक्रोटोफास (0.05 प्रतिशत) का छिड़काव किया जाना लाभकारी रहता है।

पर्पल ब्लाइट एवं स्टेयफिलीयम : यह भी लहसुन का प्रमुख रोग है जिसके नियंत्रण के लिए बाविस्टिन (0.1 प्रतिशत) या रीडोमिल (0.2 प्रतिशत) का छिड़काव करना चाहिए। ध्यान रखें कि छिड़काव करते समय ट्रीटोन या सेडोवेट का प्रयोग करें जिससे दवाई अच्छी तरह चिपकी रहती है।

फसल की परिवक्ता तथा खुदाई

बिजाई के 160-180 दिनों में लहसुन खुदाई योग्य हो जाता है। इस अवस्था में पौधा सूखकर झुकने लगता है। खुदाई की अवस्था का निर्धारण ध्यानपूर्वक किया जाना चाहिए अन्यथा जल्दी खुदाई करने से फसल ही संग्रहण क्षमता में कमी आती है तथा देरी से खुदाई करने में कलियां खुल अथवा बिखर सकती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ किस्मों में पुन: अंकुरण भी हो सकता है जिससे फसल तथा उत्पादन की हानि ही सकती है।

यदि खुदाई के तीन सप्ताह पूर्व 3000 पी.पी.एम. मैलिक हाईड्रेजाइड का फसल पर छिड़काव किया जावे तो कंदों की भण्डारण क्षमता में वृद्धि होती है।

कुल उपज तथा प्राप्तियां

लहसुन की खेती वैज्ञानिक विधि से करने, अच्छी वैरायटी का बीज प्रयुक्त करने तथा फसल सुरक्षा से संबंधित समस्त व्यवस्थायें उचित तरीके से करने पर इस छ: माह की फसल से प्रति एकड़ लगभग 50 से 80 क्विंटल लहसुन का उत्पादन होता है जिसकी वर्तमान दर यदि 2000 रुपये प्रति क्विंटल मानी जाए तो इससे औसतन एक लाख रुपये प्रति एकड़ की प्राप्तियां होंगी।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि लहसुन न केवल उपयोग की दृष्टि से, बल्कि लार्भाजन की दृष्टि से भी एक महत्वपूर्ण औषधीय एवं मसाला फसल है जो किसानों के लिए समृद्धता के द्वार खोल सकती है।

बीजों का प्राप्ति स्थल

लहसुन की अच्छी वैरायटी के बीज किसी भी खाद- बीज भण्डार से प्राप्त किए जा सकते हैं। बीजों की प्राप्ति हेतु निम्नलिखित पते पर भी संपर्क किया जा सकता है -

- **संजय कुशवाहा,**
  ए-46, शैलेष होम्स, सर्वधर्म कॉलोनी, भोपाल. फोन
  (0755)794181/760573 अथवा
  श्री संजय कुशवाहा, ग्राम खिड़कीवाला, पोस्ट:ऊंडा,
  जिला-हरदा (म.प्र.) फोन : (07577)72626.

- **प्रभारी, नेशनल रिसर्च सेण्टर फॉर ओनियन एंड गार्लिक,**
  एम.एफ.-37, सुन्दर वन कॉलोनी, लेखा नगर के पास,
  नासिक (महाराष्ट्र) - 422009.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

61. हल्दी की खेती तथा इससे लाभ

हल्दी, जिसका वैज्ञानिक नाम कुरकुमा लोंगा एल. (Curcuma Longa L.) है, जिंजिबरेसी पौध कुल का एक कंदीय पौधा है। हल्दी को संस्कृत में हरिद्रा कहते हैं तथा अंग्रेजी में यह टर्मरिक के नाम से जानी जाती है। हल्दी सभी की चहेती मसाला फसल है, जिसे मनुष्य के जीवन में जन्म से मरण तक अनेकों अवसरों पर प्रयुक्त किया जाता है। हल्दी के प्रमुख उपयोगों को निम्नानुसार देखा जा सकता है

अ. भोजन में हल्दी की उपयोगिता

प्राचीन समय से ही भारतवासी हल्दी का इस्तेमाल दाल, सब्जी, चटनी, अचार तथा अन्य भोज्य सामग्रियों को लुभावना तथा सुनहरा रंग प्रदान करने के साथ ही साथ इनमें एक विशेष प्रकार की सुगंध भरने के लिए करते रहे हैं। भारतीय पकवान या तो बिना हल्दी के बन ही नहीं सकते तथा यदि बन भी जाते हैं तो बिना हल्दी के उनका रंग भी फीका दिखता है तथा स्वाद भी फीका लगता है। राष्ट्रीय आहार संस्थान, हैदराबाद के वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि हल्दी में कैंसररोधी गुण विद्यमान होते हैं। अत: ऐसे मनुष्य जिनके भोजन में प्रतिदिन हल्दी की प्रचुर मात्रा होती है, उन्हें कैंसर होने की संभावना कम हो जाती है। शायद हल्दी के इन्हीं गुणों के कारण भारतीय आदिकाल से हल्दी का इस्तेमाल भोजन में करते आ रहे हैं।

ब. सौन्दर्य वर्धन में हल्दी की उपयोगिता

प्राचीन काल से ही हल्दी प्राकृतिक सौन्दर्य प्रसाधन की वस्तु रही है। भारत में, चाहे वह उत्तर भारत की महिला हो या दक्षिण भारत की, राजस्थानी हो या मणिपुरी- सभी के द्वारा हल्दी का इस्तेमाल प्राकृतिक सौन्दर्य प्रसाधन के रूप में अपने शरीर को आकर्षक तथा सुन्दर बनाने के लिए किया जाता है। हल्दी में प्रबल कीटाणुनाशक क्षमता होने के कारण यह शरीर

हल्दी का फूलयुक्त पौधा

के कीटाणुओं को नष्ट कर देती है तथा शरीर को चर्म रोग रहित बना देती है। हल्दी का पाउडर, दूध की मलाई में मिश्रित करके लगाने से चेहरे की झाईयां समाप्त हो जाती हैं और मुख मंडल

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तेज हो जाता है। उत्तर भारत में शादी विवाह के अवसर पर हल्दी के चूर्ण को पीले सरसों के तेल तथा बेसन में मिलाकर पूरे शरीर पर इसलिए लगाया जाता है ताकि यदि शरीर पर कोई चर्मरोग हो तो वह ठीक हो जाये तथा साथ ही साथ रूप-रंग भी चकमने लगे। हल्दी के सौन्दर्य प्रसाधनीय गुणों के आधार पर आज सुप्रसिद्ध "विको टरमेरिक फेस क्रीम" तथा प्रसाधन की वस्तुयें अनेक अन्य बनाई जा रही हैं।

स. शुभ तथा मांगलिक अवसरों पर हल्दी की प्रधानता

शुभ तथा मांगलिक अवसरों पर हल्दी का इस्तेमाल प्रधानता के साथ भारत में किया जाता है। शादी-विवाह के अवसरों पर इसके उपयोग से वर-वधु का शरीर कोमल तथा सुन्दर और कीटाणुरहित हो जाता है। अभी भी गांवों में शादी-विवाह के अवसरों पर वर-वधु को हल्दी में रंगे वस्त्र ही पहनाये जाते हैं। उत्तर पूर्वी प्रदेशों में हल्दी प्रत्येक पुनीत अवसर पर पूजा-अर्चना आदि में प्रयुक्त की जाती है। उत्तर भारत में शादी के कार्ड आदि के किनारे पर हल्दी का घोल लगाकर ही बांटा जाता है, जो शुभ का द्योतक माना जाता है। इन परम्पराओं की उपयोगिता जो भी हो, हमारे पूर्वजों ने हल्दी को शुभ तथा मंगलदायक वस्तु ही माना है।

द घरेलू चिकित्सा पद्धति में हल्दी का उपयोग

घरेलू चिकित्सा पद्धति में हल्दी हजारों मर्ज़ों की एक अचूक औषधि मानी गई है। आज भी असंख्य लोग हल्दी का इस्तेमाल दवा के रूप में विभिन्न रोगों को दूर करने के लिए करते हैं। भोजन में दाल, सब्जी, कढ़ी, पुलाव, मछली, मांस आदि में हल्दी डालने की प्रथा हमारे पूर्वजों ने शायद इसलिए बनाई होगी क्योंकि हल्दी के उपयोग से कैंसर रोग नहीं होता है। हल्दी में रक्त शोधक गुण होने के कारण इसका इस्तेमाल रक्त को साफ करता है। कच्ची हल्दी की एक दो बूंद रस आंख आने पर आंखों में डालने पर तुरंत आराम पहुंचता है। हल्दी के लेप से चर्मरोग समाप्त हो जाता है। हल्दी पेट दर्द को दूर करती है तथा पाचक का कार्य करती है। हल्दी के सेवन से औरतों के मासिक धर्म की गड़बड़ी ठीक हो जाती है। कच्ची हल्दी का रस त्वचा पर लगे परजीवियों को नष्ट कर देता है।

चेचक की बीमारी में हल्दी को नीम की पत्ती के साथ मिलाकर लगाने से काफी आराम पहुंचता है। हल्दी को जलाकर उसकी राख का दंत मंजन बनाकर प्रयोग करने से दांत चमकीले एवं मजबूत होते हैं तथा दातों का पायरिया रोग तथा दर्द समाप्त हो जाता है। कच्ची हल्दी का चूर्ण गर्म दूध में डालकर पीने से खांसी तथा जुकाम भाग जाते हैं। कच्ची हल्दी बर्थ कंट्रोल में भी मदद करती है। इसके लिए तीन माशा कच्ची हल्दी पीस कर माहवारी के पांचवें, छठे तथा सातवें दिन सुबह-सुबह ठण्डे पानी के साथ प्रतिमाह पिलाने से गर्भ नहीं रुकता। नासूर पर लौंग तथा हल्दी बराबर मात्रा में पीसकर लगाने से नासूर एक सप्ताह में ठीक हो जाता है। घाव पर पिसी हल्दी में पीली सरसों का तेल या गाय का घी मिलाकर लगाने से घाव शीघ्र भर जाता है। चोट लगने पर हल्दी तथा पीली सरसों का तेल मिलाकर लगाने से खून नहीं जमता तथा दर्द भी कम हो जाता है। इसके साथ ही दूध में हल्दी डालकर पिला देने से दर्द तथा सूजन समाप्त हो जाते हैं।

हल्दी की गांठें पीसकर आंवले तथा शहद में मिलाकर चाटने से प्रमेह रोग दूर होता है। शुद्ध घी में थोड़ी सी हल्दी मिलाकर स्नान करने से एक घंटा पहले लगाने से चेहरे पर निखार आ जाता है। बिच्छू के डंक मारने के स्थान पर हल्दी का गाढ़ा लेप लगाने से दर्द दूर हो जाता है। जोंक के काटने पर हल्दी का चूर्ण छिड़कते ही रक्त स्त्राव थम जाता है। आयुर्वेद व. यूनानी मतानुसार यह रक्त शुद्धि, चर्म रोग, नेत्र रोग, कफ विकार, प्रमेह, कामला, यकृत विकार, विषम ज्वर, अतिसार,

हल्दी अथवा हरिद्रा

धनवन्तरी निघन्टु के अनुसार

"हरिद्रा स्वरसे तिक्ता रूक्षोष्ण विषकुष्ठनुत्
मेहकण्डूवृणान् हन्ति देहवर्णवियायिनी
विशोधिनी कृमिहरा पीनसारू चिनाशिनी"

Turmeric is bitter, rough, hot and useful in Kapha pitta predominant conditions of poisonous affictions, skin diseases, diabetes, worms sinusitis, itching, tastelessness and it promotes body texture.

Medicinal Properties of Turmeric

1. ***For healing wounds and preventing infections :*** 3-5 grams of rhizomes, dried and powdered for external applications with ghee and honey *(Source : Chikitsa manjari).*

2. *For skin eruptions or body Itching :* Rhizomes powder (100 gms.) mixed with neem leaves paste (5 grms.) and applied 2-3 times daily *(Source : Local Health Traditions).*

3. *For Skin Diseases :* A decoction of 15 gms. of rhizomes and 5 gms. of dried ginger to be had twice a day on empty stomach *(Source : Vaidya Manorma).*

4. *To improve skin complexion :* Apply paste of rhizome on body *(Source : Dhanwantari Nighantu).*

5. *For diabetes :* Rhizomes of turmeric are made into a powder (10 gms.) and mixed with gooseberry powder (10 gms) can be had on an empty stomach twice daily. *(Source : Charak Samhita).*

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

खांसी, चोट, मोच, ऐंठन, कुचले हुए घावों, जोड़ों के दर्द इत्यादि के लिए बहुउपयोगी होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हल्दी का इस्तेमाल अनेक रोगों को दूर करने के लिए दवा के रूप में किया जाता है। वर्तमान में इससे अनेकों औषधीय तेल, मलहम तथा अनेक होम्योपैथिक एवं आयुर्वेदिक दवायें बनाई जा रही हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हल्दी केवल एक मसाला मात्र ही नहीं है बल्कि यह एक बहुमूल्य जड़ी बूटी है, जो हमें स्वस्थ शरीर, खूबसूरती तथा लंबी उम्र प्रदान करती है।

हल्दी का पौधा (क्षुप) 2 से 3 फुट ऊंचा होता है। इसके पत्ते केले के नए पत्ते के समान 1 से 1.5 फुट लम्बे तथा 6 से 7 इंच चौड़े तथा इतने ही लंबे, पत्रवृत से युक्त आयताकार भालाकार, आगे की तरफ कुछ नोंकदार एवं आम के पत्तों की तरह गंधवाले होते हैं। इसके फूल अवृत काण्ड पर लगे हुए, पीले रंग के थोड़ी संख्या में तथा 1.5 इंच तक लंबे होते हैं। पुष्पदंड 6 से 8 इंच लंबे पत्रनाल द्वारा आवृत्त तथा पुष्पदंड की पत्तियां हरे रंग की होती हैं। इसकी मूल जड़ में अदरक के समान कंद बैठते हैं जिन्हें हल्दी कहते हैं। इन कंदों के अंदर का भाग पीले या नारंगी पीले रंग का होता है। रंगने के कार्य हेतु बिना उबाली हल्दी को प्रयुक्त किया जाता है जबकि खाने के काम में उबालकर सुखाई हुई हल्दी ही ली जाती है।

भारत की विभिन्न मसाला फसलों में हल्दी को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। भारतवर्ष में लगभग 1045 हजार हैक्टेयर क्षेत्र में इसकी खेती को सफलतापूर्वक किया जाता है एवं प्रतिवर्ष 323.8 हजार टन उत्पादन करने वाला भारत विश्व में हल्दी का सर्वाधिक उत्पादनकर्ता देश है। प्रतिवर्ष लगभग 1.5 लाख टन संरक्षित (Processed) हल्दी इस देश के विभिन्न राज्यों- आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु, आसाम, महाराष्ट्र, कर्नाटक, बिहार, पश्चिम बंगाल, केरल, उड़ीसा, राजस्थान, उत्तरप्रदेश एवं मध्यप्रदेश के कुछ भागों में पैदा की जाती है जिसमें से 92 प्रतिशत हल्दी की देश में ही खपत हो जाती है और 8 प्रतिशत विदेशों को निर्यात की जाती है जिससे प्रतिवर्ष लगभग 10 से 11 करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है।

वर्ष 1994-95 के दौरान भारतवर्ष में कुल 659400 टन हल्दी का उत्पादन हुआ जो कि लगभग 147000 हेक्टेयर क्षेत्रफल में बोई गई थी। भारतीय हल्दी के मुख्य खरीददारों में श्रीलंका, दक्षिण अफ्रीका, ईरान, संयुक्त राज्य अमरीका एवं ग्रेट ब्रिटेन आदि देश हैं।

रासायनिक संगठन

हल्दी में करक्यूमिन नामक एक पीला तथा रवेदार रंजक पदार्थ होता है जो अल्कोहल में पूर्ण रूप से घुलकर पीले रंग का घोल बनाता है। इसमें चूना आदि अन्य क्षारीय पदार्थ मिलाने पर यह रक्ताभ-बादामी रंग का हो जाता है। इसके अतिरिक्त इसमें कपूर के समान गंधवाला 5 प्रतिशत से 6 प्रतिशत उड़नशील तेल होता है जो कोलेस्ट्राल को घुलाता है। इसमें स्टार्च 20 प्रतिशत तथा अल्ब्युमिनाएडस 30 प्रतिशत होता है।

हल्दी की कृषि तकनीक

हल्दी की अच्छी फसल के लिए इसकी उत्तम वेरायटी का चुनाव, इसकी बिजाई का समय, बोने का तरीका, बीज की मात्रा, बीजोपचार की विधि, लगाने का अंतर, उर्वरक देने की विधि, समय एवं मात्रा के साथ-साथ फसल की देखरेख एवं सुरक्षा करने हेतु मुख्य बिन्दुओं की जानकारी उत्पादकों को होना अत्यंत आवश्यक है, जो कि निम्नानुसार है -

हल्दी की संरचना निम्नानुसार होती है	
• पानी	= 13.1 प्रतिशत
• प्रोटीन	= 6.3 प्रतिशत
• वसा	= 5.1 प्रतिशत
• कार्बोहाईड्रेट	= 69.4 प्रतिशत
• राख	= 3.5 प्रतिशत
• रेशा	= 2.6 प्रतिशत

जलवायु एवं भूमि : हल्दी मुख्यतया ऊष्ण कटिबंधीय देशों में उगाई जाती है। इसकी खेती के लिए गर्म तथा आर्द्रता वाला मौसम ज्यादा उपयुक्त रहता है। इसकी खेती भारत से लेकर हिन्द चीन तक और पूर्वी द्वीप समूह और चीन के कुछ भागों में की जाती है।

हल्दी को भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमियों में उगाया जाता है। इसकी खेती के लिए सबसे अधिक उपयुक्त मिट्टी रेतीली अथवा बालुई दोमट और मटियार दोमट रहती है जो काफी उपजाऊ हो और जिसमें पानी का निकास भी अच्छी तरह से हो जाए। भूमि का पी.एच. 5.5 से 6.5 तक होना चाहिए तथा भूमि की सतह कड़ी होनी चाहिए। खेत की तैयारी के समय एक बार मिट्टी पलटने वाले हल से और 3-4 बार देशी हल से या हैरो से जुताई करें। यदि ढेले दिखाई दें तो 2-3 बार पाटा चलाकर खेत की तैयारी के समय 30-35 टन क्विंटल गोबर की सड़ी हुई खाद एक एकड़ के हिसाब से मिला दें।

खाद एवं उर्वरक : हल्दी को अन्य फसलों की अपेक्षा पोषक तत्वों की अधिक आवश्यकता होती है जोकि सामान्य मिट्टी से पूरी नहीं हो पाती। साथ ही अधिक उपज पाने के लिए उर्वरक समुचित

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मात्रा में डालना चाहिए। उर्वरक सदा ही मिट्टी के परीक्षण के अनुसार डालें। यदि मिट्टी की जांच न हो सके तो 40 किलो नत्रजन 20 किलो फास्फोरस एवं 20 किलो पोटाश का प्रति एकड़ के हिसाब से उपयोग करें। नत्रजन की एक तिहाई मात्रा एवं फास्फोरस तथा पोटाश की पूरी मात्रा खेत की आखिरी जुताई के समय भूमि में मिला दें। शेष नत्रजन की आधी मात्रा बुआई के 50 दिन बाद और बाकी बची हुई मात्रा बुआई के 75 दिन बाद खड़ी फसल में दें। यदि पूर्णतया जैविक पद्धति का अनुसरण करना हो तो खेत में 10-15 टन अच्छी प्रकार सड़ी हुई गोबर की खाद या कम्पोस्ट खाद का उपयोग प्रति एकड़ करें। गोबर की खुली छोड़ी गई खाद का उपयोग न करें क्योंकि इससे "कटवर्मों" का फसल पर ज्यादा प्रकोप होता है तथा कन्दों पर धब्बे से पड़ जाते हैं जिससे फसल की गुणवत्ता प्रभावित होती है तथा उसका मूल्य कम मिलता है। गोबर खाद के अतिरिक्त निम्निलखित कार्बनिक खादों का उपयोग भी किया जा सकता है-

ओसमोकोट	= 200 किलोग्राम
बायोस्टार	= 200 किलोग्राम
इकोसोल	= 100 किलोग्राम
जिकोडाइन	= 100 किलोग्राम
माइक्रोसोल	= 100 किलोग्राम
स्वायलस्टार	= 100 किलोग्राम

बीज दर एवं बीजोपचार - हल्दी की बिजाई हेतु मातृकंद (मुंडी) या बाजुकंद (उंगलियां) - दोनों प्रकार के कंदों (गांठों) का उपयोग होता है। ज.ने.कृषि वि.वि. फल अनुसंधान केन्द्र, ईंटखेड़ी, भोपाल में हुए परीक्षणों में मातृकंद लगाना अधिक लाभप्रद पाया गया है। बीज हेतु 25-30 ग्राम वजन के मातृकंद या 15-20 ग्राम वजन के बाजूबंद चुनें और यह ध्यान रखें कि उन पर कम से कम दो आंखें अवश्य हों। एक एकड़ क्षेत्र में हल्दी लगाने के लिए 6-8 क्विंटल बीज (गांठों) की आवश्यकता होती है।

खेत में लगाने से पहले गांठों को डाईथेन एम-45 के 0.25 प्रतिशत घोल में 30 मिनट डुबाकर उपचारित करें। बीजोपचार हेतु 10 लीटर पानी में 25 ग्राम डाईथेन एम-45 एवं 10 मिलीलीटर मैलाथियान मिलाकर घोल बना लें। यह घोल किसी प्लास्टिक के फैले हुए पात्र में बना लें एवं उसमें हल्दी की गांठ 30 मिनट के लिए डुबा दें। एक बार पात्र में बना घोल तीन बार कंद डुबाने के उपयोग में लें। इसके बाद फिर नया घोल बना लें।

बिजाई का समय एवं बिजाई की विधि : हल्दी की फसल को मध्य अप्रैल से जुलाई के प्रथम सप्ताह तक बोना चाहिए। सिंचाई की अच्छी सुविधा होने पर अप्रैल-मई में लगाना अधिक अच्छा होता है।

हल्दी को लगाने के लिए तीन प्रकार की विधियां मुख्यत: अपनाई जाती हैं - 1. समतल भूमि में लगाना 2. मेड़ों पर लगाना तथा 3. ऊंची उठी हुई क्यारियों में लगाना।

अच्छे जल निकास वाली उपजाऊ बलुई दोमट भूमि होने पर हल्दी को समतल भूमि पर लगा सकते हैं। समतल भूमि में लगाने के लिए 4 से 8 मीटर लंबी एवं 2 से 4 मीटर चौड़ी क्यारियां बनाना चाहिएं। इस विधि में पंक्ति से पंक्ति की दूरी 45X60 सेंटीमीटर एवं कंद से कंद की दूरी 25 सेंटीमीटर रखनी चाहिए। मेड़ विधि में भूमि के प्रकार को ध्यान में रखते हुए 45X60 सेंटीमीटर दूरी रखते हुए कम से कम 25 से 30 सेंटीमीटर ऊँची मेड़ बनाएं। इस विधि में भी पंक्ति से पंक्ति की दूरी 45 से 60 सेंटीमीटर एवं पौधे से पौधे की दूरी 25 सेंटीमीटर रखना चाहिए। मध्यम एवं थोड़ी भारी भूमि हो तो मेड़ों पर या ऊंची उठी हुई क्यारियों में हल्दी लगाना ज्यादा उपयुक्त होता है। ऊंची उठी हुई मेड़ें 3 से 5 मीटर लम्बी एवं सवा या डेढ़ मीटर (120 से 150 सेंटीमीटर) चौड़ी अधिक सुविधाजनक होती है। दो क्यारियों के बीच 40 सेंटीमीटर की जगह छोड़नी चाहिए। ऊँची उठी हुई क्यारियों में 30 सेंटीमीटर के अंतराल पर बनाई गई पंक्तियों में हल्दी की गांठें 15 सेंटीमीटर पर लगानी चाहिए।

हल्दी की गांठें लगाते समय मुख्य रुप से ध्यान रखने की बात यह है कि गांठ आड़ी रखी जावे एवं उसकी आंख ऊपर की तरफ मुंह किए हुए हो। साथ ही हर कंद 4-5 सेंटीमीटर की गहराई पर लगाया जाना चाहिए तथा यह मिट्टी से ढंका हुआ होना चाहिए।

सिंचाई की व्यवस्था : हल्दी की फसल लंबे अंतराल (लगभग 9-10 माह) में पककर तैयार होने वाली फसल है। अत: इसे सम-यानुसार समुचित सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है। हल्दी की अगली फसल लगाने हेतु बोआई से पहले खेत की सिंचाई कर बतर आते ही बोबाई करना उचित होगा। क्योंकि हल्दी की बिजाई मई-जून माह में प्रारंभ कर दी जाती है अत: फसल में वर्षा के पूर्व आवश्यकतानुसार 6-7 दिनों के अंतराल से सिंचाई करें। वर्षा न हो तो फसल की स्थिति देख कर सिंचाई करनी चाहिए। शीत ऋत्तु में सिंचाई 10-12 दिन के अंतराल पर करें। हल्दी के खेत में 50-75 प्रतिशत नमी मिट्टी में होने पर सिंचाई करना उपयुक्त होता है।

वर्षा ऋत्तु की समाप्ति के बाद 15-20 दिन के अंतर से फसल की सिंचाई करना चाहिए। खरपतवारों को नष्ट करने के लिए कम से कम दो-तीन बार निंदाई कर दें। विशेष रुप से ध्यान रखें कि बिजाई के तुरंत बाद पलास के हरे पत्ते या घास के पैरा का उपयोग कर मल्चिंग कर दें। मल्चिग हेतु 2-3 टन प्रति एकड़, हरे पत्ते/धान के पैरा की आवश्यकता होती है ताकि भूमि पर 5 से 8 सेंटीमीटर मोटी पत्तियों की तह बिछ जाए। यदि संभव हो तो बिजाई के 50 दिन बाद एवं 100 दिन बाद पुन: 3 टन पत्ते प्रति एकड़ की दर से दो बार मल्चिग करें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हल्दी के साथ ली जा सकने वाली अन्य फसलें तथा अंतर्वर्तीय फसलें -

हल्दी की मिश्रित कृषि मक्का तथा बाजरा के साथ की जा सकती है। इसी प्रकार आम, अमरुद, केले, संतरे आदि के बगीचों में भी इसकी सफलतापूर्वक कृषि की जा सकती है। अरहर, चना, सोयाबीन आदि के साथ हल्दी की कृषि करना भी काफी लाभकारी पाया गया है।

हल्दी की उपज को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक

हल्दी की उपज को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक तथा उनके कारण से उपज में होने वाली वृद्धि को निम्नानुसार देखा जा सकता है -

क्र.	कारक	हल्दी की उपज में वृद्धि
1.	ज्यादा उपज देने वाली वैरायटी का उपयोग	50 से 60 प्रतिशत
2.	समय पर बिजाई करना	15 से 20 प्रतिशत
3.	बीज का सही साइज	20 प्रतिशत
4.	समय पर तथा उपयुक्त मात्रा में खाद का उपयोग	24.6 प्रतिशत
5.	गोबर / कम्पोस्ट खाद का उपयोग (10 टन प्रति एकड़)	25 प्रतिशत
6.	मल्चिंग करना तथा मल्चिंग मेटेरियल का उपयोग करना	40 प्रतिशत
7.	रेज़्ड बैड बनाना तथा मल्चिंग करना	95 प्रतिशत
8.	फसल सुरक्षा संबंधी सही कदम उठाना	4.4 प्रतिशत

पौध सुरक्षा कीट एवं बीमारियां : हल्दी की फसल में सामान्यत: कीड़े एवं रोगों का प्रकोप नहीं होता। फिर भी कभी-कभी हल्दी की पत्ती की बुदंकी बरसात के मौसम में दिखाई देती है। पत्ती के दोनों ओर हरी-पीली आपस में मिली हुई बुंदकी प्रकट होती है और तीव्र दशा में हर एक पत्ती पर 9.2 मिमी व्यास की सैकड़ों बुंदकी साफ दिखाई देती है। इसकी रोकथाम के लिए सिफारिश है कि फसल पर 9 प्रतिशत बोर्डो मिक्चर या 0.2 प्रतिशत ब्लाइटोक्स-50 फाइटोलान या डाइथेन जेड-78 की फुहार का छिड़काव किया जावे।

यदि जल निकास की उचित सुविधा न हो तो कहीं-कहीं कंद गलन का प्रकोप होता है। इससे फसल को बचाने हेतु 0.25 प्रतिशत डायथेन एम-45 का 15-20 दिन के अंतर पर छिड़काव करें। फसल में मकड़ी का प्रकोप अगर दिखे तो 3 ग्राम घुलनशील गंधक प्रति लीटर पानी में मिलाकर 90 दिन के अंतर से छिड़काव करें। टिजिड बड़ा एवं तना छेदक से फसल को बचाने हेतु 0.25 प्रतिशत मोनोक्रोटोफास का 90 दिन के अंतराल से छिड़काव करें।

हल्दी की फसल पर कंद की मक्खी का प्रकोप अक्तूबर से लेकर फसल खुदाई तक होता है। इसकी रोकथाम के लिए 20 किलो फ्यूराडान या थीमेट-10 जी या फोरेट-10 जी दानेदार दवा को प्रति एकड़ की दर से पौधे से पौधा 10-15 सेंटीमीटर की दूरी पर 5 से 7.5 सेंटीमीटर गहराई पर भूमि में डालकर मिट्टी से ढंक दें।

खुदाई एवं उपज : हल्दी की अगेती, मध्यम तथा पिछेती जातियां बुवाई से क्रमश: 7-8, 8-9 तथा 9-10 माह में तैयार हो जाती हैं। औसतन 210 से 270 दिन में फसल खुदाई के लिए तैयार हो जाती है तथा फरवरी से अप्रैल तक खुदाई करके निकाली जाती है। कंदों को एकत्रित करके तथा साफ करके इनका ढेर लगाकर रखा जाता है। अच्छी फसल होने पर प्रति एकड़ 80 से 160 क्विंटल ताजी हल्दी प्राप्त होती है जो कि प्रोसैस करने के उपरान्त लगभग 25 क्विंटल रह जाती है।

हल्दी की उन्नतशील किस्में

हल्दी की जिन प्रमुख किस्मों की खेती होती है, उनमें कोई स्पष्ट मेल नजर नहीं आता। आमतौर पर गांठों के रंग और आकार के अनुसार हल्दी की कई किस्में पाई जाती हैं। मलाबार की हल्दी औषधीय महत्व की होती है तथा यह जुकाम और कफ के उपचार के लिए उपयुक्त है। पूना एवं बैंगलौर की हल्दी रंग के लिए अच्छी है। पटना किस्म गहरे रंग के लिए, लोखंडी नामक हल्दी की गांठें चमकीले रंग की बड़ी होती हैं जिनसे रंग निकाला जाता है। जंगली हल्दी अपनी सुगंधित गांठों के कारण भिन्न है तथा इसे "करक्यूमा ऐरोमेटिका" (सुगंधित हल्दी) कहते हैं। पूर्वी तट के अनेक भागों में "आम्बा हल्दी" नामक हल्दी की एक अन्य किस्म उगाई जाती है जिसका स्वाद और सुगंध कच्चे आम से मिलती है जिसके फलस्वरूप इसे यह नाम दिया गया है। इसकी गांठें बहुत पतली एवं पीले रंग की होती हैं।

हल्दी की इन किस्मों के अलावा उन्नतशील किस्मों के अंतर्गत सुवर्णा, रोमा, रेशमी, सोनाली, सीओ 01 भवानी सागर, कृष्ण गणदेवी, रजतरेखा, नूरी, प्रभा प्रतिभा, सुगंधम, पीसीटी-8, शिलांग आदि किस्में प्रस्तुत की गई हैं। हल्दी की कुछ उत्कृष्ट किस्मों का विवरण निम्नानुसार है -

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

व्यवसायिक खेती के लिए उपयुक्त हल्दी की प्रमुख किस्में

कोयम्बटूर - यह प्रजाति बारानी क्षेत्रों के लिए विकसित की गई है। इसे लवणीय मृदाओं में भी उगाया जा सकता है। इसके कंद बड़े, चमकीले एवं नारंगी रंग के होते हैं तथा यह 285 दिन में तैयार हो जाती है। इस किस्म की प्रति एकड़ उपज 2.35 टन है।

कृष्णा - यह लंबे प्रकंदों तथा अधिक उपज देने वाली किस्म है। यह प्रकंद विगलन के प्रति रोगरोधी है तथा 255 दिन में पककर तैयार हो जाती है।

बीएसआर : जलमग्न क्षेत्रों या पानी वाली जगहों के लिए अधिक उपज देने वाली जगहों पर यह उपयुक्त किस्म है। इसके कंद लंबे तथा चमकीले पीले रंग के होते हैं। 285 दिनों में तैयार होने वाली इस किस्म की प्रति एकड़ उपज 2.4 टन है।

सुगंधा - विशेष गंध वाली, गहरे नारंगी रंग की, मध्यम आकार के कंदों वाली यह अधिक उपज देने वाली किस्म है। इसकी प्रति एकड़ उपज 1.84 टन है।

सुवर्णा - यह अधिक उपज देने वाली, गहरे नारंगी रंग के मध्यम आकार के प्रकंदों वाली, प्रकंद विगलन के प्रति रोगरोधी किस्म है। इसके प्रकंद 210 दिन में तैयार हो जाते हैं तथा इससे प्रति एकड़ 3.04 टन उपज प्राप्त होती है।

रोमा - यह मध्यम आकार के गहरे नारंगी रंग कंदयुक्त अधिक उपज देने वाली किस्म है। यह किस्म 253 दिन में तैयार हो जाती है तथा इसकी प्रति एकड़ उपज 2.57 टन है।

सुगना - छोटे कंदयुक्त 190 दिनों में तैयार होने वाली यह किस्म प्रकंद विगलन के प्रति रोगरोधी है। इसकी प्रति एकड़ उपज 2.88 टन तक प्राप्त होती है।

हल्दी के क्षेत्र में हुए अनुसंधान तथा हल्दी की उन्नत किस्में

हल्दी की खेती को प्रोत्साहित करने की दिशा में अधिक उत्पादनकारी तथा रोगमुक्त वेरायटी के बीजों तथा इसकी कृषि से संबंधित उपयुक्त पद्धतियों के विकास हेतु भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद द्वारा एक **अखिल भारतीय शोध परियोजना, हाई एल्टीट्यूड रिसर्च स्टेशन, पोटांगी, कोरापुर (उड़ीसा)** में वर्ष 1975 में प्रारंभ की गई थी। इस परियोजना के अंतर्गत हल्दी की कृषि के क्षेत्र में काफी उत्कृष्ट शोध कार्य किए गए हैं तथा यहां से अभी तक व्यवसायिक स्तर की चार वैरायटियां रिलीज़ की गई हैं। ये हैं - रोमा, सुरमा, रंगा तथा रश्मी। इन वैरायटियों की प्रमुख विशेषताएं निम्नानुसार हैं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Specifications	Roma	Surama	Ranga	Rashmi
Mother Rhizome	Ovoid Plumpy	Round Plumpy	Spindle Shaped	Round
Finger	Curved blunt	Straight slender	Wing Shaped	Plumpy long medal Shape
Colour of Rhizome	Orange Yellow	Orange Yellow	Orange Yellow	Orange Yellow
Duration	250 days	253 days	250 days	240 days
Annual Yield (Tonnes/hectare)	20.68	20.00	29.00	31.30
Potent Yield (Tonnes/ hectare)	40.00	44.90	37.10	37.50
Dry Recoverey (%)	31.10	26.00	24.80	23.00
Oleoresin (%)	13.20	13.20	13.50	13.40
Curcumin	8.1 to 9.3 %	6.10%	6.30%	6.40%
Essential oil	4.40%	4.40%	4.40%	4.40%
Ecological Adaptability	- Early and late Sowing Irrigated, rainfed and Hilly Areas.	- Late Sowing - Low lying areas	- Late Sowing	Early and late sowing

आगामी वर्षों हेतु हल्दी के बीजों का संग्रहण (Storing of Seed material) : खुदाई कर लेने के उपरांत फसल का कुछ भाग तो बिक्री के लिए भेजा जा सकता है तथा कुछ भाग (आवश्यकतानुसार) अगले वर्ष में बिजाई करने के लिए बीज के रूप में संग्रहित करना आवश्यक होता है। यह बीज एक गहरे गड्ढे में रखा जाता है। संग्रहित करने से पूर्व इन बीजों (कंदों) को 0.25 प्रतिशत इन्डोफिल, एम-15, 0.15 प्रतिशत बावस्टीन तथा 0.05 प्रतिशत मेलाथियान से 30 मिनट तक उपचारित किया जाता है। उपचारित करने के उपरांत इन कंदों को शेड में सुखाया जाता है। ये गड्ढे यथासंभव ऐसी जगह पर तैयार किए जाने चाहिएं जो सूर्य की सीधी रोशनी से दूर हो। ये गड्ढे प्राय: 1 मीटर चौड़े, 2 मीटर लंबे तथा 30 सेंटीमीटर गहरे होने चाहिएं तथा ये समलंब आकार (trapezium shape) के होने चाहिएं। इस गड्ढे में सर्वप्रथम नीचे 5 सेंटीमीटर मोटाई तक की धान की भूसी (पैडी स्ट्रॉ) बिछा देनी चाहिए तथा इसके ऊपर हल्दी के बीज वाले कंद रख दिए जाने चाहिएं। इन कंदों के ऊपर पुन: धान की भूसी बिछा दी जानी चाहिए तथा तदुपरांत इसे मिट्टी से ढक दिया जाना चाहिए। अंतत: इस गड्ढे को मिट्टी तथा गोबर से लीप दिया जाना चाहिए। इस प्रकार संग्रहित किए गए कंद चार माह तक सुरक्षित रहते हैं।

हल्दी का प्रक्रियाकरण (Processing of Turmeric)

हल्दी के प्रक्रियाकरण में मुख्यतया चार चरण होते हैं - उबालना, सुखाना, पॉलिश करना तथा इन पर रंग चढ़ाना। ये चरण निम्नानुसार देखे जा सकते हैं -

क. हल्दी को उबालना अथवा पकाना (Cooking or Boiling)

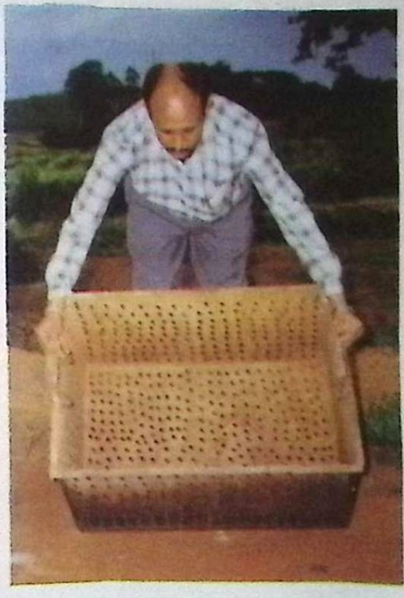
हल्दी उबालने के लिये बनाई गई छिद्रयुक्त कढ़ाही

हल्दी के कंदों को अच्छी तरह धोने के उपरांत उन्हें उबाला जाता है। उबालते समय चूने के पानी अथवा सोडियम बाई कार्बोनेट का उपयोग किया जाता है। उबालने का कार्य गेल्वे-नाइज़्ड लोहे के पात्रों/कड़ाहियों में भी किया जा सकता है तथा मिट्टी अथवा तांबे के पात्रों में भी। उबालने की क्रिया लगभग 45-60 मिनट तक की जाती है (जब तक झाग आना अथवा एक विशेष प्रकार की गंध आना प्रारंभ न हो जाए) यह ध्यान रखना चाहिए कि हल्दी की गांठें पूर्णतया उबल जाएं (ऐसा उबली हुई गांठों को उंगली अथवा लकड़ी से दबा कर देखा जा सकता है तथा यदि उबली हुई गांठ पूर्णतया दब जाए तो इसका अर्थ है कि उबलने की प्रक्रिया पूर्ण हो चुकी है)। हल्दी उबालने के लिए एक विशेष प्रकार की छिद्रयुक्त कड़ाही भी बनाई जा सकती है जिसमें हल्दी डालकर इसे एक बड़े पात्र (जिसमें पानी उबल रहा हो) में रख दिया जाता है। उबल जाने की प्रक्रिया पूरी हो जाने पर इस कड़ाही को (हल्दी समेत) ऊपर उठा लिया जाता है तथा कड़ाई में से हल्दी निकाल लेने के उपरान्त कड़ाही में हल्दी डालकर दूसरे बैच हेतु इसे पुन: बड़े पात्र में डाल दिया जाता है। उबालने का कार्य फसल की खुदाई के 2-3 दिन के अंदर सम्पूर्ण कर लिया जाना चाहिए। मूल कंद (मदर राइजोम) तथा साथी कंदों (फिंगर्स) को अलग-अलग उबालना भी उपयुक्त होता है। अच्छी प्रकार उबाल लेने से हल्दी के सूखने की प्रक्रिया 10-15 दिन में ही सम्पूर्ण हो जाती है जबकि अन्यथा इसमें

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

30-35 दिन का समय लगता। इससे कंदों के अंदर के रंग में भी एकरूपता आ जाती है।

ख. सुखाना (Drying)

उबाले हुए कंदों को धूप में सुखाया जाता है। इन्हें बांस की चटाई अथवा दरी आदि पर 5-7 सेंटीमीटर मोटाई की परत बनाकर सुखाया जाता है। रात्रि के समय यह मेटेरियल इकट्ठा कर लेना चाहिए अथवा किसी तिरपाल आदि से ढंक दिया जाना चाहिए। धूप की स्थिति तथा गहनता के अनुसार ये कंद 10 से 15 दिनों में पूर्णतया (6 प्रतिशत तक नमी) सूख जाते हैं। कंदों को सुखाने के लिए 60 अंश सेंटीग्रेड तापक्रम की गर्म वायु का क्रॉस फ्लो भी लाभकारी पाया गया है। हल्दी की लगाई गई वेरायटी तथा अन्य परिस्थितियों के अनुसार सूखने के उपरांत हल्दी गीली हल्दी की तुलना में प्राय: 15 से 30 प्रतिशत तक रह जाती है।

ग. हल्दी की पॉलिशिंग (Polishing)

सुखाने के उपरांत प्राप्त हुई हल्दी देखने में ज्यादा लुभावनी नहीं लगती अत: इसके बाहरी आवरण को पॉलिश किया जाना आवश्यक होता है ताकि इसमें चमक आ जाए। इसके लिए सूखी हुई गांठों को आपस में रगड़ कर इनकी पॉलिशिंग की जाती है। इसके लिए हस्तचलित/मशीनों से चलाए जाने वाले ड्रूम/पॉलिशर भी प्रचलन में हैं। इन ड्रूमों को घुमाने से हल्दी की गांठें आपस में घर्षण करती हैं जिससे पॉलिश की प्रक्रिया सम्पूर्ण होती है।

हल्दी की पॉलिशिंग हेतु प्रयुक्त किया जाने वाला घुमावदार ड्रूम

घ. हल्दी की रंगाई (Colouring of Turmeric)

हल्दी का अच्छा रंग ग्राहकों को आकर्षित करता है अत: हल्दी की रंगाई की जाना आवश्यक होता है। इसके लिए हल्दी की सूखी गांठों में 2 किलोग्राम प्रति क्विंटल की दर से हल्दी का पावडर मिलाया जाता है। इससे हल्दी की रंगाई हो जाती है।

हल्दी की खेती के लिए बीजों (कंदों) के प्राप्ति स्थल

हल्दी की विभिन्न उन्नत किस्मों के बीज तथा इसकी खेती से संबंधित मार्गदर्शन प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति निम्नलिखित पते पर संपर्क कर सकते हैं :-

- **संचालक,**
  हाई एल्टीट्यूड रिसर्च स्टेशन,
  भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद,
  पोटांगी,
  कोरापुर (उड़ीसा)

नोट : क्योंकि अधिकांशत: हल्दी प्रक्रियाकृत होने के बाद ही बेची जा सकती है अत: खेती के उपरान्त इसकी प्रोसेसिंग के लिये जो प्लांट लगता है वह या तो किसान द्वारा स्वयं डाला जाना चाहिये अथवा उसके आसपास में इस प्रकार का प्लांट स्थापित होना चाहिये। अन्यथा ज्यादा मात्रा में कच्चे रूप में हल्दी को बेचा जाना संभव नहीं होगा।

औषधीय/सुगंधीय पौधों/जड़ी बूटियों तथा इनके प्लांटिंग मेटेरियल/बीजों के क्रय-विक्रय प्रदाय में संलग्न राजधानी का विश्वसनीय अग्रणी संस्थान

भिलवारे हर्बल एक्सट्रेक्ट कम्पनी

संस्थान द्वारा प्रदाय किये जाने वाले उच्च कोटि के उन्नत तकनीक से उत्पादित प्लांटिंग मेटेरियल/बीज : कलिहारी, मूसली, कौंच, सर्पगंधा, अश्वगंधा, सोनामुखी (सनाय), चन्द्रशूर, कालमेघ, जाफरा (सिन्दूरी) इसबगोल, तुलसी, बच, हल्दी, अदरक, अरबी, कलमी आंवला, गुड़मार, रजनीगंधा, गुलाब, ग्लेडूलस, मेंथा (जापानी पोदीना), पामारोजा, सिट्रोनेला, लेमनग्रास तथा दौ से अधिक अन्य जड़ी-बूटियों की खेती हेतु लगने वाले प्लांटिंग मेटेरियल बीजों के प्रदायकर्ता।

संस्थान द्वारा प्रदाय की जाने वाली जड़ी-बूटियों एवं इनके पाउडर्स : आंवला, बहेड़ा, कौंच, मूसली, रीठा, कालमेघ, चिरायता, नागरमोथा, बायवंडग, सतावर, शंख पुष्पी, भृंगराज, गिलोय, चन्द्रशूर, शिकाकाई, अश्वगंधा, सनायपत्ती, गुड़मार पत्ती, कपूर, कचरी, नीम निमोली, बेलगूदा, इमली, केथागूदा, गुलाब पत्ती पावडर तथा अनेक अन्य जड़ी बूटियों के प्रदायकर्ता एवं क्रेता-विक्रेता।

विशेष : पपीता, कौंच, सर्पगंधा, अश्वगंधा, सनाय, बीजों के प्रमुख प्रदायकर्ता एवं एसेन्शियल, एरोमेटिक्स ऑयल के विक्रय में सहयोगी तथा मार्गदर्शक।

200 से अधिक जड़ी-बूटियों व इनके बीजों/प्लांटिंग मटेरियल के डीलर्स एवं इनकी खेती से संबंधित जानकारी एवं मार्गदर्शन भी उपलब्ध है।

सम्पर्क करें : **राजेश खत्री** (संचालक), फोन : (0755) 745942
मोबाइल : 9827094336 ई-मेल khatri@worldherb.zzn.com

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

62. अदरक की खेती

अदरक एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मसाला फसल है। अदरक का उपयोग विभिन्न रूपों में किया जाता है। इसको मुख्यतः तीन तरह से उपयोग में लाया जाता है :-

1. मसालों में
2. औषधियों में
3. सौन्दर्य सामग्री में

क. मसालों में

मसालों में अदरक का उपयोग विभिन्न रूपों में होता है - जैसे - विभिन्न सब्जियों के मसालों में, चटनी में, अचार आदि बनाने में, आदि।

अदरक को सुखा कर सोंठ बनाते हैं जिसका उपयोग भी मसालों में तथा चाट आदि के निर्माण में होता है।

अदरक से ओलियोरेज़िन प्राप्त किया जाता है, जिसका उपयोग भी विभिन्न प्रकार के व्यंजनों में किया जाता है।

ख. औषधियों में

अदरक का उपयोग विभिन्न औषधियों के निर्माण में भी व्यापक रूप से होता है। अदरक से विभिन्न प्रकार की पाचक दवायें बनती हैं। श्वास तथा गले की कई दवाओं में भी अदरक का उपयोग किया जाता है।

ग. सौन्दर्य सामग्री में

अदरक-पेस्ट, अदरक-पावडर तथा अदरक के तेल का उपयोग विभिन्न सौन्दर्य सामग्रियों के निर्माण में किया जाता है।

अदरक की कृषि तकनीक

अदरक की खेती सम्पूर्ण भारत वर्ष में छोटे या बड़े पैमाने पर की जाती है। मुख्यतः इसकी खेती असम तथा पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, कर्नाटक के पश्चिमी भागों, केरल, मध्यप्रदेश व उत्तरप्रदेश के बुन्देलखण्ड के झांसी क्षेत्र के आसपास के क्षेत्रों में होती है।

बिजाई : अदरक की बिजाई बरसात के मौसम में की जाती है। यूं तो इसकी बुवाई का उपयुक्त समय मई के अंतिम सप्ताह से जुलाई अंत तक होता है लेकिन प्रायः इसकी बुवाई वर्षा होने के बाद ही की जाती है।

अदरक की खेती के लिए उपयुक्त भूमि : अदरक की खेती के लिए ऐसी भूमि का चयन किया जाना चाहिए जिसमें जरा भी पानी न रूकता हो, क्योंकि पानी की अधिकता के कारण अदरक के सड़ने का खतरा उत्पन्न हो जाता है। वैसे इसकी खेती के लिए बलुई-दुमट मिट्टी सर्वोत्तम होती है।

भूमि की तैयारी : अदरक की अच्छी फसल के लिए गोबर की सड़ी हुई खाद कम्पोस्ट खाद काफी उपयुक्त होती है। बुवाई के पहले प्रति एकड़ 30-40 टन कम्पोस्ट खाद खेत में अच्छी तरह से मिला ली जाती है। इसके बाद 2-3 बार जुताई करके खेत को खरपतवार से मुक्त कर लें। इससे खेत की मिट्टी भी अधिक भुरभुरी हो जायेगी। इसके साथ-साथ खेत में लगभग 1 क्विंटल नीम की खली भी अच्छी तरह से मिला दें।

रासायनिक खाद : बुवाई के पहले प्रति एकड़ लगभग 50 किलोग्राम यूरिया 100 किलोग्राम सुपर फास्फेट तथा 50 किलोग्राम म्यूरेट ऑफ पोटाश खेत की जमीन में मिला दें। इसके बाद जब फसल लगभग 2 महीने की हो जाए तब 50 किलो यूरिया तथा जब लगभग साढ़े तीन महीने की हो तब पुनः लगभग 50 किलो यूरिया प्रति एकड़ के हिसाब से खेत में छिड़कें।

अदरक की प्रमुख किस्में : अदरक की प्रमुख प्रचलित किस्में तथा इनकी विशेषतायें निम्नानुसार हैं :-

1. देशी : यह आजकल बहुत कम उगाई जाती है क्योंकि इसका उत्पादन बहुत कम मिलता है।

2. सिलीगुड़ी : यह असम-बंगाल वाले इलाकों की पहाड़ियों में उगाया जाता है। इसका उत्पादन 70-80 क्विंटल प्रति एकड़ तक होता है। परन्तु इसका बाजार भाव अन्य किस्मों की तुलना में कम मिलता है।

3. रियो डि जेनेरो : यह ब्राजील का (या विदेशी) अदरक कहलाता है। इसका उत्पादन 100 क्विंटल प्रति एकड़ तक देखा गया है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

4. बरूवासागर : अदरक की इस वेरायटी का उत्पादन लगभग 80-90 क्विंटल प्रति तक होता है तथा इसका बाजार भाव भी बहुत अच्छा मिलता है।

अदरक की खेती के लिए प्रति एकड़ लगभग 7-8 क्विंटल अदरक के कंदों की आवश्यकता होती है। इसके लिए अदरक के स्वस्थ एवं रोग-रहित कंदों का चुनाव किया जाना लाभकारी रहता है।

बिजाई का तरीका : जब खेत अदरक की बुवाई के लिए तैयार हो जाये तो सर्वप्रथम अदरक की गांठों को 0.5 प्रतिशत एम-45 नामक फंगीसाइड में लगभग आधे घंटे के लिए डुबा कर उपचारित कर लेते हैं। इसके बाद गांठों को 7-8 इंच की दूरी रखते हुए लगभग 3-4 इंच की गहराई पर बो देते हैं। अच्छा हो कि बुवाई के पहले सुविधानुसार क्यारियाँ बना ली जायें, जिससे सिंचाई तथा अन्य कृषि क्रियाऐं करने में आसानी होती है।

बिजाई के बाद खेत को सूखे पत्तों से (मल्चिंग करने के उद्देश्य से) ढंक दिया जाता है। इस काम के लिए प्रायः पलाश या ढाँक के पत्तों का उपयोग किया जाता है। पत्तों से खेत को ढ़ंकने के कई फायदे हैं, जैसे -

1. इससे खेत में खरपतवार बहुत कम होता है। प्रायः खेत में खरपतवार लगभग 2 महीने बाद होता है तथा यदि मल्चिंग की गई हो तो तब तक अदरक लगभग 5-6 इंच का हो जाता है जिससे निंदाई-गुड़ाई करने में अधिक परेशानी नहीं होती है।
2. पत्तों के कारण जमीन में पर्याप्त नमी बनी रहती है।
3. वर्षा ऋतु में लगभग अगस्त माह तक पत्ते सड़ जाते हैं जिससे इन पत्तों की बहुत अच्छी खाद बन जाती है जिससे भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ती है।

सिंचाई : अदरक की फसल का अधिकांश समय वर्षा ऋतु का होने के कारण इसके लिए बहुत ज्यादा सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती। फिर भी वर्षा न होने की दशा में बिजाई के बाद 7-8 दिन के भीतर पानी दे देना चाहिए। इसके अलावा अगर 11-12 दिन तक पानी न बरसे तो सिंचाई की आवश्यकता होती है।

निंदाई : प्रारम्भ में तो निंदाई की आवश्यकता नहीं होती परन्तु जब फसल दो से ढ़ाई महीने की हो जाती है तो निंदाई-गुड़ाई करनी पड़ती है। इसके उपरान्त लगभग साढ़े तीने महीने की फसल हो जाने पर एक बार पुनः निंदाई करनी चाहिए।

अदरक की खुदाई एवं उत्पादन : जब फसल 5 महीने की हो जाये तो अदरक के पत्ते सूख जाते हैं तथा इस अवस्था में भी कंदों की खुदाई की जा सकती है। लेकिन इस अवस्था में अदरक अच्छी तरह से पका हुआ नहीं होता है तथा यह 8-9 महीने बाद ही अच्छी तरह से पकता है। अच्छी प्रकार पका हुआ अदरक लम्बे समय तक रखा जा सकता है।

अदरक का उत्पादन उसे निकाले जाने के समय, मिट्टी, खाद एवं मौसम के आधार पर घटता-बढ़ता रहता है। फिर भी एक मोटे औसत के अनुसार प्रति एकड़ 50-60 क्विंटल अदरक एक सामान्य फसल में उत्पादित हो जाता है।

अदरक की बिजाई हेतु प्लांटिंग मेटेरियल की प्राप्ति : अदरक की बिजाई के लिए अच्छी गुणवत्ता का प्लांटिंग मेटेरियल झांसी तथा बरूआसागर की मंडियों तथा किसानों से प्राप्त किया जा सकता है।

बच, अश्वगंधा, ईसबगोल, मश्कदाना एवं
चंद्रसूर की व्यवसायिक खेती हेतु संपर्क करें

नितिन अग्रवाल

1491, नेपियर टाऊन, होमसाइन्स कालेज रोड,
जबलपुर(म.प्र.) फोन : (0761)21770/83410.

।। उपरोक्त औषधीय पौधों एवं अन्य समस्त औषधीय
एवं सुगंधीय पौधों के प्लांटिंग मेटेरियल एवं
बीज उचित रेट पर उपलब्ध हैं ।।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

63. बायबिडंग (Embelia Ribes Burm) का कृषिकरण

बायबिडंग अथवा विडंग भारतवर्ष में जंगलों में प्राकृतिक रुप से उगने वाला झाड़ीनुमा पौधा है। यह संस्कृत में बिडंग, विलंग, कृमिध्न अथवा चित्रतंदुल; पंजाबी में बाबडींग तथा अंग्रेजी में इम्बेलिया के नाम से जाना जाता है। बायबिडंग के पौधे आरोही स्वभाव के बड़े गुल्म (Large Scandent shrub) अथवा लम्बी झूलती हुई झाड़ी जैसे होते हैं जिनमें दराती व भाले के आकार के अर्धचन्दानाकार गिल्टीयुक्त पत्ते पाए जाते हैं। इसके फूल अत्यंत छोटे तथा कत्थई रंग के होते हैं। ब्रायबिडंग पर छोटे-छोटे बेर के आकार के 3-4 मिली मीटर व्यास के लाल रंग के गुच्छाबद्ध फल लगते हैं। यूं तो औषधीय उपयोग में मुख्यतया इसके फल प्रयुक्त किए जाते हैं। परन्तु इसकी जड़ों की भी काफी अधिक औषधीय उपयोगिता है। इसके फलों के पकने का समय नवम्बर से जनवरी माह तक होता है।

बायबिडंग के पौधे समस्त भारतवर्ष में जंगली प्रदेशों में 5000 फीट तक की ऊंचाई में पाए जाते हैं। मध्यप्रदेश में ये मुख्यतया होशंगाबाद, खण्डवा, टीकमगढ़, पन्ना, दुर्ग, बिलासपुर, रायपुर, सिवनी, छिंदवाड़ा, बालाघाट, मण्डला, रायगढ़ तथा बस्तर के जंगलों में बहुतायत में पाए जाते हैं।

रासायनिक संगठन : बायबिडंग में 2.5 प्रतिशत से 3.1 प्रतिशत तक बिडंगामल अथवा एम्बेलिक एसिड (Embelic Acid) या एम्बेलिन (Embelin) सी 18, एच 28 तथा 0 4 पाया जाता है जो सुनहरे पीले रंग के क्रिस्टल्स (Crystals) के रुप में मिलता है। ये क्रिस्टल जल में अविलय होते हैं किन्तु एल्कोहल, ईथर, क्लोरोफार्म तथा बेन्जीन में घुलनशील होते हैं। एम्बेलिक एसिड के अतिरिक्त इसमें अल्पमात्रा में एक उत्पत तेल, रालदार पदार्थ, रंजक द्रव्य तथा क्रिस्टेम्बीन (Christembine) नामक एल्केलाइड य़ा क्षारोदतत्व भी पाए जाते हैं। वर्तमान में इसके जो प्रमुख योग बाजार में प्रचलित हैं, वे हैं- विडंगारिष्ट, विडंगादिचूर्ण, विडंगलौह, विडंग तेल आदि।

बायबिडंग की शुद्धता की परीक्षा : बायबिडंग की शुद्धता की परीक्षा करने के लिए एक परखनली में 5 मिली लीटर ईथर लें। इस ईथर में 0.2 ग्राम बायबिडंग का चूर्ण डालकर इसे खूब हिलायें

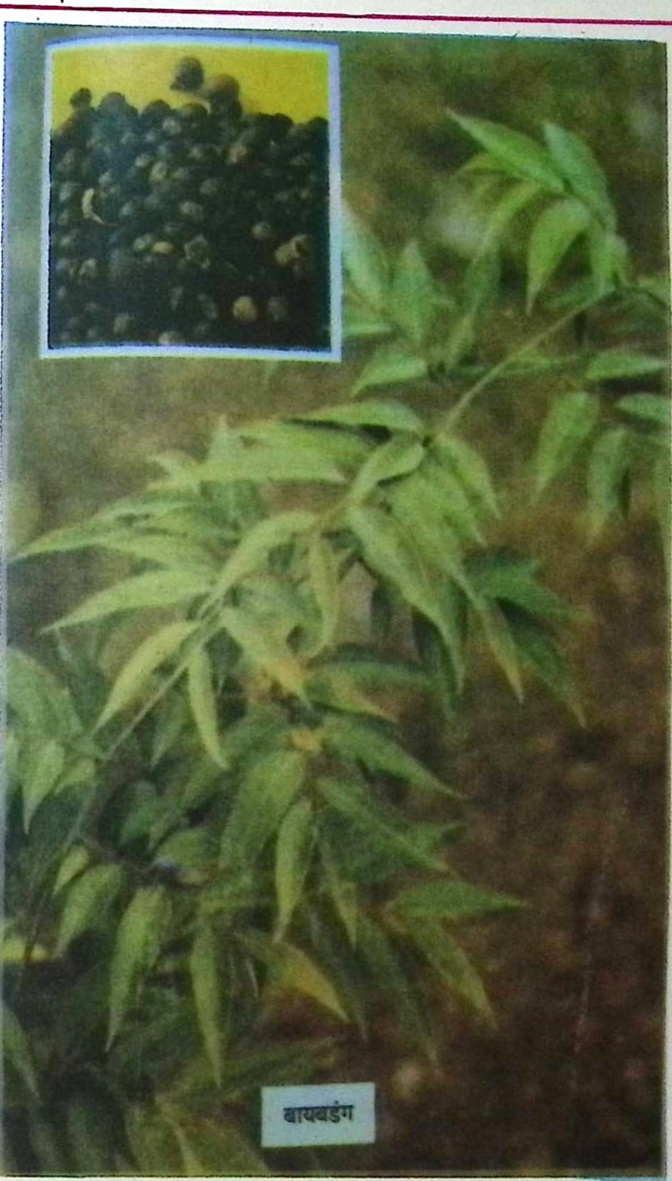

बायबिडंग का पौधा तथा फल

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तथा इसे छान लें। तदुपरांत इसमें 1-2 बूंदें अमोनिया के डायल्यूटेड सोल्यूशन की डालें। इस पर यदि यह बैगनी रंग का अध:क्षेप (Bluish - violet precipitate) हो जाए तो इसका अर्थ है कि प्रयुक्त की गई बायबिडंग असली है।

बायबिडंग की औषधीय उपयोगिता

बायबिडंग के फल, बीज, पत्ते तथा जड़ें मुख्यतया औषधीय उपयोग में लाए जाते हैं । इसके सूखे हुए फलों का उपयोग अजीर्ण, मंदाग्नि, ज्वर, त्वचा के रोगों, छाती के रोगों, पेट को साफ करने तथा पेट के कीड़ों से निजात पाने हेतु किया जाता है। इसके बीज के तेल से निकाले गए एम्बलीन नाम एल्केलाइड का उपयोग रेशम रंगाई व ऊन रंगने के लिए किया जाता है। इसकी जड़ का उपयोग पेचिश व खांसी के उपचार हेतु किया जाता है। विदेशों में इसका उपयोग पेट के राउन्डवर्म, टेपवर्म आदि के उपचार के लिए किया जाता है। इस पौधे के नरम पत्ते तथा फल भी खाने के काम आते हैं। वर्तमान में इसका उपयोग फसलों के लिए जैविक पद्धति से बनाए जाने वाले टॉनिकों के निर्माण हेतु भी किया जा रहा है जो कि काफी सफल रहे हैं। इस प्रकार बायबिडंग एक अत्यधिक मूल्यवान औषधीय पौधा है जिसका बाजार निरंतर बढ़ते जाना है। इसकी विविध उपयोगिताओं को देखते हुए इसका कृषिकरण काफी लाभकारी हो सकता है।

बायबिडंग की कृषि तकनीक

भूमि की आवश्यकता : बायबिडंग की खेती सभी प्रकार की मृदाओं में की जा सकती है। विशेष रूप से अच्छी जल विकास वाली हल्की कपासिया मिट्टी, रेतीली दोमट मिट्टी तथा रेतीली मिट्टी इसके लिए ज्यादा उपयुक्त होती हैं।

1. **बिजाई की विधि :** बायविडंग का पौधा प्राय: दूसरे वर्ष से फल देना प्रारंभ कर देता है। यदि इसकी जड़ों का भी उपयोग करना हो तो दूसरे वर्ष फल देने के उपरांत पौधे को जड़ समेत खोद लिया जाता है अन्यथा वह आगे चलता रहता है तथा प्रतिवर्ष फल देता रहता है।

बायबिडंग की बिजाई इसके बीजों से की जाती है जिसके लिए सर्वप्रथम इसकी नर्सरी तैयार की जाती है। नर्सरी प्राय: मई-जून माह में तैयार कर ली जाती है। एक एकड़ में लगाने के लिए लगभग 10000 पौधों की आवश्यकता होती है जिसके लिए लगभग 5 किलोग्राम बीज लगेगा। नर्सरी में जब पौधे लगभग छ: माह के हो जाएं तो उन्हें खेत में लगा दिया जाता है। खेत में लगाने से पूर्व खेत को अच्छी प्रकार तैयार करके उसमें 2 X2 फीट की दूरी पर 1X1X1 फीट के गड्ढे खोद लिए जाते हैं तथा उनमें ये छ: माह की आयु वाले पौधे रोपित कर दिए जाते हैं। गड्ढों को तैयार करते समय यदि इनमें एक-एक किलो प्रति गड्ढे की दर से गोबर की खाद अथवा कम्पोस्ट खाद डाली जा सके तो यह काफी उपयोगी रहेगा।

2. **पौध संरक्षण :** समय-समय पर खेत से खरपतवार निकालना आवश्यक होता है। बायबिडंग पर किसी कीट अथवा बीमारी का प्रकोप होते अभी तक देखा नहीं गया है अत: नियमित रुप से निराई-गुड़ाई करना तथा नियमित रुप से 15-15 दिन के अंतराल से पानी देना ही फसल की अच्छी बढ़त के लिए पर्याप्त होगा।

साधारणतया यह पौधा लगाने के 2 वर्ष के उपरांत फल देना शुरु कर देता है। फल प्राय: अगस्त- सितम्बर माह से आने प्रारंभ होते हैं तथा ये नवम्बर से जनवरी माह तक पक जाते हैं। तदनुसार पके हुए फलों को हाथ से चुन लिया जाता है तथा धूप में अच्छी तरह सुखा लिया जाता है। इन सूखे हुए फलों को जूट के छिद्रयुक्त बोरों में संग्रहित करके बिक्री हेतु भेज दिया जाता है।

यदि इसकी जड़ का उपयोग भी करना हो तो दूसरे वर्ष इसका पूरा पौधा जड़ सहित खोद लिया जाता है तथा जड़ों को पौधे से अलग करके, साफ करके तथा सुखा करके बिक्री हेतु प्रस्तुत कर दिया जाता है।

3. **उपज प्रति एकड़ तथा वार्षिक प्राप्तियां :** बायबिडंग की खेती से दूसरे वर्ष से प्रति एकड़ लगभग 10 क्विंटल सूखे फल प्रतिवर्ष प्राप्त होते हैं जिसकी औसतन बिक्री दर यदि 100 रुपये प्रति किलोग्राम ली जाए तो इस फसल से प्रतिवर्ष (प्रथम वर्ष को छोड़कर) एक लाख रुपये की प्राप्तियां होंगी। जड़ों को खोदकर भी यदि बिक्रित किया जाए तो इस फसल से होने वाली प्राप्तियां और बढ़ जाएंगी।

उपरोक्तानुसार देखा जा सकता है कि बायबिडंग एक काफी अधिक मांग वाली औषधीय फसल है जिसके विविध उपयोगों तथा इससे होने वाली आय को देखते हुए कहा जा सकता है इसकी खेती किसानों के लिए काफी उपयोगी तथा आर्थिक रुप से काफी लाभकारी हो सकती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

64. ब्राम्ही (Centella Asiatica or Bacopa Monieri Pennell) की कृषि तकनीक

औषधीय जगत में एक जड़ी-बूटी के रूप में ब्राम्ही को अत्यधिक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है तथा शायद ही कोई व्यक्ति हो जो इसके नाम तथा कुछेक औषधीय उपयोगों से परिचित न हो। यद्यपि ज्यादातर इसे एक स्मृतिवर्धक जड़ी-बूटी के रूप में जाना जाता है परन्तु स्मरण शक्ति बढ़ाने के साथ-साथ इसके अन्य भी कई औषधीय उपयोग हैं। एक उत्तम बलदायक जड़ी-बूटी के रूप में भी इसने अपनी विशेष पहचान बनाई है तथा स्वर को उत्तम करने में भी यह काफी उपयोगी पाई गई है। बलवर्धक होने के साथ-साथ यह वीर्य विकारों को भी दूर करती है तथा आयुवृद्धि करने की शक्ति भी रखती है। इस प्रकार इसमें आयुवर्धक, बुद्धि परिष्कारक तथा स्वर माधुर्यकारक - तीन विशेष गुण होते हैं। आधुनिक चिकित्सा खोजों में इसे वातिक निर्बलता (Nervousness) को दूर करने में भी सक्षम पाया गया है तथा हृदय की दुर्बलता को दूर करने में भी इसे उपयोगी माना गया है। ब्राम्हीपाक, ब्राम्हीपानक, ब्राम्हीतैल, सारस्वतारिष्ट, सारस्वतकृत एवं ब्राम्ही गुटिका आदि इसके प्रमुख योग हैं। यूनानी चिकित्सक इसका माजून भी बनाते हैं। विभिन्न आयुर्वेदिक तथा यूनानी दवाइयों के निर्माण हेतु प्रयुक्त होने के साथ-साथ सौंदर्य प्रसाधनों (उदाहरणार्थ ब्राम्ही तेल आदि) के निर्माण में भी इसका काफी प्रयोग होता है जिसके कारण इसकी उपयोगिता काफी बढ़ गयी है तथा इसके कृषिकरण की आवश्यकता महसूस हुई है।

ब्राम्ही जिसे अंग्रेजी में इंडियन पेनीवर्ट (Indian Penny wort) के नाम से जाना जाता है, मुख्यतया दो रुपों में मिलती है- मण्डूकपर्णी जिसे लेटिन में सेन्टेल्ला एशियाटिका (Centella Asiatica Linn) कहते हैं तथा बंगीय ब्राम्ही अथवा जलनीम जिसका लेटिन नाम बाकोपा मोन्निएरी (Bacopa Monnieri Pennell) है। इनमें मण्डूकपर्णी उम्बेल्लीफेरी (Umbelliferae) वानस्पतिक कुल की है जबकि बंगीय ब्राम्ही अथवा जलनीम स्क्रोफुलारियासे (Scrophulariaceae) वानस्पतिक कुल से संबंध रखती है। यद्यपि इन दोनों में से सही ब्राम्ही कौन सी है इसमें मतभेद हो सकते हैं, परन्तु दवा निर्माताओं द्वारा इन दोनों को ही मान्य किया जा रहा है। ब्राम्ही की दोनों प्रजातियों में से मण्डूकपर्णी मुख्यतया भारतवर्ष के शीतप्रधान एवं आर्द्र प्रदेशों-हिमालय की तराई एवं बिहार आदि क्षेत्रों में नमीदार स्थानों तथा नदी-नालों एवं नहरों के किनारों पर अधिक देखी जाती है। इसी प्रकार बंगीय ब्राम्ही भी समस्त भारतवर्ष में पंजाब से लेकर बंगाल तथा तमिलनाडु तक में पाई जाती है। यूं तो इसका जीवनकाल 6 माह का है परन्तु पर्याप्त जल तथा अनुकूल वातावरण मिलने पर यह वर्ष भर हरी भरी रहती है। हमारे देश के बाजारों में इसकी आवक मुख्यतया हरिद्वार तथा आसपास के क्षेत्रों से होती है। मध्यप्रदेश में यह मुख्यतया अमरकंटक क्षेत्र में प्राकृतिक रुप से पाई जाती है।

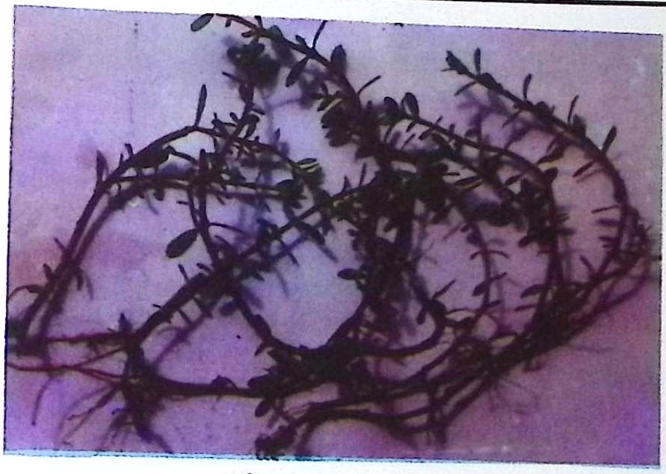

ब्राम्ही (Bacopa Monieri)

ब्राम्ही का रासायनिक संगठन (Chemical Composition)

ब्राम्ही के पत्तों का रासायनिक विश्लेषण करने पर इसमें विभिन्न तत्व निम्नानुसार पाए गए हैं -

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

- नमी (Moisture) = 88.4
- प्रोटीन (Protein) = 2.1
- वसा (Fats) = 0.6
- कार्बोहाईड्रेट (Carbrohydrates) = 5.9
- रेशेदार पदार्थ (Crude fiber) = 1.05
- राख (Ash) = 1.9/100 ग्राम
- कैल्शियम (Calcium) = 202
- फासफोरस (Phosphorous) = 16
- लोहा (Iron) = 7.8
- एस्कार्बिक एसिड (Ascorbic Acid) = 63
- निकोटिनिक एसिड (Nicotinic Acid) = 0.3 मि.ग्रा/ 100 ग्राम
- ऊर्जा (Energy) = 38 कैलोरी/ 100 ग्राम

ब्राम्ही का पौधा छोटा तथा छत्तेदार विसर्पी (trailing) होता है। इसका तना दूर-दूर तक जमीन पर फैलता है जिसकी प्रत्येक ग्रन्थी पर अनक मूल तथा फूल-फल लगते हैं। इसकी शाखाएं एवं पत्ते मुलायम तथा गूदेदार होते हैं। इसकी पत्तियां अठन्नी के समान गोलाकार- बृक्काकार (orbicular-reniform) होती हैं जोकि व्यास में लगभग 1.25 सेंटीमीटर से 6.25 सेंटीमीटर तक होती हैं। इसकी पत्तियां चिकनी होती हैं तथा इनके किनारे सरल तथा किन्हीं किन्हीं संदर्भों में गोल दंतुर (Crenate) या कभी-कभी विच्छिन्न (lobulate) होते हैं। इसके पुष्प वृन्तरहित (Sessile) तथा लाल रंग के होते हैं तथा 3-6 के गुच्छों में लगते हैं। इसके फल लगभग 1/3 इंच तक बड़े होते हैं जिन पर 7-9 उन्नत धारियां होती हैं। इन फलों पर चपटे बीज लगते हैं।

विभिन्न औषधियों के निर्माण में ब्राम्ही का पंचांग ही प्रयुक्त किया जाता है। यथासंभव इसका उपयोग ताजी अवस्था में ही किया जाना चाहिए तथा यदि पंचांग का संग्रह करना हो तो उसे छाया में ही सुखाना चाहिए धूप में नहीं, क्योंकि धूप में सुखाने से इसका उड़नशील तेल उड़ जाता है तथा इसकी शक्ति (Potency) कम हो जाती है। इसी कारण इसका क्वाथ अथवा फान्ट भी नहीं बनाना चाहिए। सूखी ब्राम्ही अथवा ब्राम्हीचूर्ण को मुखबंद शीशियों में रखना चाहिए तथा इसे नमी एवं आर्द्रता से बचा कर रखना चाहिए। शुद्ध ब्राम्ही की पहचान यह है कि इसके ताजे पत्तों को मसलने या चबाने से उसमें से एक विशेष प्रकार की गाजरवत गंध आती है। इसका स्वाद उत्क्लेशकारकतिक्त तथा किंचित कसाय रहता है परन्तु सूख जाने पर इसके ये गुण बहुत कुछ जाते रहते हैं। जहां तक ब्राम्ही के रसायनिक संगठन का प्रश्न है तो इसमें हाईड्रोकाटिलिन (Hydrocotylin) नाम एल्केलाइड, एशियाटिकोसाइड नामक ग्लाईकोसाइड, वेल्लेरीन (vellarine) नामक सफेद क्रिस्टलीय स्वाद में तिक्त गुणोत्पादक वीर्य, अल्प मात्रा में एक उड़नशील तेल, स्थिर तेल तथा रालीय सत्व, पेक्टिक एसिड तथा एस्कोरबिक एसिड आदि तत्व पाए जाते हैं। सूखे पौधों में सेन्टोइक एसिड (Centoic acid) तथा सेन्टेलिक एसिड (Centellic acid) भी पाया जाता है। जलनीम अथवा बंगीय ब्राम्ही में ब्राम्हीन (Brahmine) नामक एल्केलाइड, तीन भास्मिक सत्व बी 1 आक्सलेट, बी 2 आक्सलेट तथा बी 3 क्लोरोप्लेटिनेट तथा एक स्टेरोल पाया जाता है।

ब्राम्ही की कृषि तकनीक

ब्राम्ही की ''बाकोपा मोन्निएरी'' प्रजाति उपजाने की कृषि तकनीक निम्नानुसार है :-

भूमि की आवश्यकता : ब्राम्ही की खेती के लिए ऐसी जमीन उपयुक्त रहती है जहां पर्याप्त पानी अथवा सिंचाई की व्यवस्था हो। मुख्यतया यह रेतीली - दोमट, रेतीली, हल्की काली कपास्या मिट्टी में काफी सफलतापूर्वक लगाई जा सकती है। वैसे तो इसकी खेती के लिए शीत प्रधान एवं आर्द्र जलवायु वाले क्षेत्र ज्यादा उपयुक्त रहते हैं परन्तु मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार, उत्तरप्रदेश, गुजरात आदि राज्यों की जलवायु में भी यह सफलतापूर्वक उगाई जा रही है। मध्यप्रदेश के कई भागों में भी इसकी खेती सफलतापूर्वक की जा रही है। ऐसा पाया गया है कि सीलन वाली जमीन इसे ज्यादा भाती है तथा वहां पर इसका विकास अपेक्षाकृत तेजी से होता है।

खेत की तैयारी : ब्राम्ही की खेती करने के लिए खेत की कोई विशेष तैयारी नहीं की जाती। वर्षा ऋत्तु प्रारंभ होने से पूर्व गहरी जुताई करके तथा प्रति एकड़ 5 ट्राली गोबर खाद अथवा कम्पोस्ट खाद खेत में मिलाकर खेत में पाटा चला दिया जाता है।

बिजाई : मानसून प्रारंभ होते ही जून-जुलाई माह में ब्राम्ही की बिजाई कर दी जानी चाहिए। ब्राम्ही की बिजाई इसकी पूर्वतया विकसित शाखाओं द्वारा की जाती है जिन्हें 60-60 सेंटीमीटर की दूरी पर लगा दिया जाता है। लगाने के लिए प्रति एकड़ लगभग 200 किलोग्राम अथवा 12000 नग गीली शाखाओं की आवश्यकता पड़ती है।

पौध संरक्षण : क्योंकि ब्राम्ही वर्षात्रऋतु में लगाई जाती है अत: स्वाभाविक है कि खेत में खरपतवार आएगी ही। इस खरपतवार को हाथ से साफ किया जाना आवश्यक होगा। अत: फसल की दो बार (पहली बार लगाने के 15-20 दिन बाद तथा दूसरी बार लगभग 2 माह बाद) निराई-गुड़ाई की जाना वांछित होगा।

फसल का तैयार होना : लगाने के लगभग पांच से छ: माह के अंदर फसल तैयार हो जाती है। इस समय इसका संपूर्ण पौधा अगले वर्षों के लिए बीज हेतु पौधे छोड़कर उखाड़ लिया जाता है तथा उसे धोकर छाया वाली जगह में सुखा लिया जाता है। लगभग 8-10 दिन में इसके पौधे पूर्णतया सूख जाते हैं।

उपज : इस फसल से प्रति एकड़ लगभग 24 से 30 क्विंटल पंचांग तैयार होगा जिसका वर्तमान बाजार भाव लगभग 25 रुपये प्रति किलोग्राम है। इस प्रकार इस छ: माह की फसल से प्रति एकड़ लगभग 60-65000/- रुपये की प्राप्तियां होती हैं।

ब्राम्ही के बढ़ते जा रहे उपयोगों को देखते हुए इसके संभावित मार्केट का अंदाजा सहज ही लगाया जा सकता है। वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए इसका बाजार बढ़ते ही जाना है, अत: किसानों के लिए इसकी खेती काफी लाभकारी हो सकती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विभिन्न औषधीय / सुगंधीय पौधों की विजाई हेतु लगने वाले बीजों / प्लांटिंग मेटेरियल के प्रमुख प्रदायकर्ता

❑ **मेसर्स रवि एग्रोटेक एण्ड एसेन्शियल ऑयल्स डिस्टिलरीज**
ग्राम : खजूरी कलां, पोस्ट- पिपलानी,
बी.एच.ई.एल., भोपाल.
फोन (0755) 754150.
मोबाइल : 98260-11628
संपर्क सूत्र : श्री मिश्रीलाल राजपूत
(मेन्था, लेमनग्रास, जामारोजा, जावा सिट्रोनेला, बच, कलिहारी, लेंडी पीपल, सफेद मूसली आदि की खेती हेतु लगने वाले बीजों / प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता)

❑ **मां दन्तेश्वरी हर्बल प्रोडक्ट (प्रा.) लि.**
मुकाम पोस्ट : कोंडागांव, जिला : बस्तर (म.प्र.)
फोन : (07786) 42920/42506/42980
(सम्पर्क सूत्र : **श्री अनुराग त्रिपाठी**)
(सफेद मूसली, कौंच, अश्वगंधा, कालमेघ के उत्पादक तथा इनके प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता)

❑ **राजस्थान एग्रो फारेस्ट्री कार्पोरेशन**
सोनामुखी नगर, सांगरिया फांटा,
सालावास रोड, जोधपुर (राजस्थान)
फोन : (0291) 748488.
संपर्क सूत्र : श्री नारायणदास प्रजापति
(सनाय, सोनामुखी, गुग्गुल, जेट्रोफा, शरपुंखा, कौंच, गिलोय, जोजोबा आदि जैसे विभिन्न औषधीय पौधों के बीजों/प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता)

❑ **मेसर्स राज एण्ड कंपनी,**
दशहरा मैदान, नीमच
फोन : (07423) 21600/ 25341.
(अश्वगंधा, सर्पगंधा, ईसबगोल, जाफरा, मुलेठी, कौंच आदि के बीजों/प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता)
संपर्क सूत्र : श्री विजय कुमार

❑ **सुरस एवं सुगंध विकास संस्थान (पी.पी.डी.सी.)**
औद्योगिक क्षेत्र, मकरन्द नगर,
कन्नौज (उ.प्र.)
फोन (05694) 34791 / 34465.
(लैमनग्रास, जावा सिट्रोनेला, जामारोजा, जर्मन चमेली, तुलसी, मेन्था, गुलाब, बेला, जिरेनियम आदि जैसे सुगंधीय पौधों के बीजों / प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता)

❑ **भीलवारे हर्बल एक्सट्रैक्ट कम्पनी**
एच क्र. 3, लेन क्र. 6,
इब्राहीमगंज,
भोपाल
फोन : (0755) 745942
(कालमेघ, सफेद मूसली, सर्पगंधा, चन्द्रसूर, अश्वगंधा, बच के प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता)

❑ **मे. आराध्य मार्केटिंग**
राइट टाउन,
जबलपुर (म.प्र.)
फोन (0761) 404770/317779/411952
मोबाइल फोन 98270-66876
सम्पर्क सूत्र : श्री श्याम सोहाने/श्री ब्रजेश सोहाने
(अश्वगंधा, सनाय तथा अनेकों अन्य जड़ी-बूटियों की खेती हेतु लगने वाले बीजों/प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता)

❑ **प्रगतिशील आंवला अनुसंधान एवं विकास समिति**
आंवला नगर, गोंडें,
प्रतापगढ़ (उ.प्र.) 230143.
फोन (05342) 21592/ 20118
संपर्क सूत्र : श्री धर्मेन्द्र सिंह
(उत्कृष्ट गुणवत्ता के आंवले की कलमों/प्लांटिंग मेटेरियल तथा अन्य जड़ी-बूटियों के बीजों के प्रदायकर्ता)

❑ **रायल हर्बल्स**
शासकीय हास्पिटल के पास,
ऊषा कालोनी, डबरा,
जिला : ग्वालियर (म.प्र.)
फोन : (07524) 22783
संपर्क सूत्र : श्री अशोक गुप्ता
(सफेद मूसली तथा लेमनग्रास के प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता)

❑ **राज्य वन अनुसंधान संस्थान**
पोलीपाथर,
जबलपुर (म.प्र.)
फोन : (0761) 25540 / 26529.
(विभिन्न जड़ी-बूटियों के बीजों / प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

- **वैदिक हर्बस**
  105-सी, इन्द्रपुरी, रायसेन रोड,
  भोपाल (म.प्र.)
  फोन (0755) 754708.
  मोबाइल 98270-15016

(सफेद मूसली तथा लेमनग्रास के प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता)

- **औषध एवं सगंध प्रभाग**
  पौध प्रजनन विभाग,
  चौधरी चरण सिंह कृषि विश्वविद्यालय,
  हिसार (हरयाणा)
  फोन : (01662) 31171 से 73.

(मुलेठी के प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता)

- **औषधीय एवं सुगंधीय पौध विकास परियोजना** कृषि महाविद्यालय,
  इंदौर (म.प्र.)

(मुलेठी तथा पामारोजा आदि जैसे विभिन्न औषधीय/सुगंधीय पौधों के बीजों/प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता)

- **औषधीय एवं सुगंधीय पौध परियोजना**
  वनस्पति शास्त्र विभाग
  महात्मा फूले कृषि विद्यापीठ, राहुरी,
  जिला : अहमदनगर (महाराष्ट्र)

(जावा सिट्रोनेला, दवाणा, खस, गुग्गुल, रीठा, बहेड़ा, लेंडीपीपर, कडु चिरायता, खुरासानी आजवाइन, अकरकरहा आदि जैसे औषधीय/सुगंधीय पौधों के बीजों/प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता)

- **श्री अखिल माहेश्वरी,**
  चन्द्रशेखर आजाद रोड़, जौरा,
  जिला मुरैना म.प्र.

(मेन्था सकर्स एवं लेमनग्रास तथा जामारोज़ा की स्लिप्स के प्रदायकर्ता)

- **श्री मुकेश चौरसिया**
  नीलकण्ठ लॉज,
  कोठी, बैतूल (म.प्र.)
  फोन : (07141) 30572.

(मेन्था तथा लेमनग्रास के बीजों/प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता.)

- **श्री शरीफ खान**
  ग्राम : खजूरीकलां,
  पिपलानी,
  भोपाल (म.प्र.).

(रजनीगंधा के प्लांटिंग मेटेरियल (ट्यूबर्स) के प्रदायकर्ता)

- **श्री संजय कुशवाहा**
  ए-46, शैलेष होम्स, सर्वधर्म कालोनी,
  कोलार रोड, भोपाल (म.प्र.)
  फोन : (0755) 794181/760573

(मेन्था, लेमनग्रास तथा जामारोज़ा के बीजों/प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता)

- **पाटीदार एग्रोटेक**
  कृषि उपज मण्डी कार्यालय के पास,
  धामनोद, जिला धार (म.प्र.)
  फोन : (07291) 33694

(मेन्था, लेमनग्रास, जामारोजा, तुलसी आदि के बीजों/प्लांटिंग मेटेरिय्ल के प्रदायकर्ता)

- **मुकेश सीड्स**
  ओल्ड सेफिया कालेज के सामने,
  भोपाल (म.प्र.) फोन : (0755) 749559.

(अश्वगंधा, अरण्डी, मुश्कदाना आदि के बीजों तथा नीमखली/नीमखाद एवं अन्य बायोफर्टीलाइजर्स/बायोपेस्टीसाइड्ज के प्रदायकर्ता)

- **मे. एस.वी. हैल्दी हर्बस इंडिया**
  29, संविद नगर,
  कनाड़िया रोड, इन्दौर
  फोन : (0731) 490709 मोबा. : 98270-33709
  (सम्पर्क सूत्र : **श्री राजीव सोढ़ी**)

(पामारोज़ा, सफेद मूसली, कलिहारी, कालमेघ, गुड़मार तथा अन्य जड़ी-बूटियों के बीजों/प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता)

- **सेन्टर फॉर हार्टीकल्चर एंड एग्रो फारेस्ट्री सर्विस एंड प्रोमोशन्स**
  जी-1, सिविल लाइन्स कालोनी
  टीकमगढ़ (म.प्र.) फोन : (07683) 33059.
  (सम्पर्क सूत्र : **श्री सुनील सोनी**)

(विभिन्न जड़ी-बूटियों की खेती हेतु मार्गदर्शक एवं प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता)

- **वेंकटेश्वरा प्रोजेक्ट कन्सलटैंसी प्रा.लि.**
  131, बजाज नगर, नागपुर (महाराष्ट्र)
  फोन : (0717) 235910
  (सम्पर्क सूत्र : **श्री डी.जे. देशपाण्डे**)

(अश्वगंधा, सर्पगंधा, सोनामुखी, चन्द्रशूर, तुलसी, ईसबगोल, रोशाघास, कालमेघ, अकरकरहा, लेमनग्रास आदि के बीजों/प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता)

- **रक्षम हर्बल्स**
  492, नेहरू नगर, नन्दनवन रोड,
  नागपुर (महाराष्ट्र) फोन : (0712) 743348.
  (सम्पर्क सूत्र : **डॉ. प्रमोद रक्षमवार**)

(विभिन्न जड़ी-बूटियों के प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता तथा थोक खरीददार)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विभिन्न जड़ी-बूटियों तथा एसेन्शियल ऑयल्स के प्रमुख खरीददार/निर्यातक तथा विपणन में सहयोगी संस्थायें/प्रतिष्ठान

- **मेसर्स इंडियन हर्बल्स रिसर्च एण्ड सप्लाई कंपनी प्रा.लि.**
  पोस्ट बाक्स क्र.-5, शारदा नगर,
  सहारनपुर (उ.प्र.) 247 001.
  फोन: 725044 से 46 तक तथा 725459.
  फैक्स क्र.(0132) 726288.

  संपर्क सूत्र : डॉ. सुधाकर अग्रवाल, संचालक

खरीदी जाने वाली प्रमुख जड़ी-बूटियां : आवंला सूखा बिना गुठली के, अर्जुन छाल, अश्वगंधा जड़, बहेड़ा, बायबिडंग, बेलगिरी कटी, भृंगराज, भुई आंवला, बिदारी कन्द, बच, धायफूल, डिकामाली, दूधा बेल, गिलोय, हरड़, हडजोड़, इन्द्रायण फल, कालीजीरी, कालीदूधी, कालमेघ, हरा चिरायता, कुटज छाल, मकोय, नागर मोथा, पुर्ननवा, रोहेड़ा छाल, सतावर सफेद, तुलसी पत्ता, आकफूल, हिंगोट, करंज तेल, कटेली पंचांग, लोध छाल, पलास बीज, टेसू फूल, सेमल गोंद, पवाड़ बीज आदि.

- **मेसर्स हिलग्रीन कंपनी**
  क्रमांक 17, 13 वां क्रास,
  वसन्त नगर (पूर्व),
  बंगलौर- 560052.
  फोन (080) 2250717 / 2264313.
  फैक्स क्रमांक (080) 2251307.

  संपर्क सूत्र : श्री बी.सुब्रमण्यम

खरीदी जाने वाली प्रमुख जड़ी-बूटियां : बच की जड़ें (राइजोम), गुग्गुल, केयोकंद, कलिहारी के बीज, गुड़मार के पत्ते, सनाय पत्ते/ फलियां, अश्वगंधा, अडूसा के पत्ते, कालमेघ, सतावर, ग्वारपाठा, चिरोटा बीज, धतूरा के बीज, आंवला, ब्राम्ही, पलास, नागरमोथा, भृंगराज सफेद, बायबडिंग, अनन्तमूल, तगर, भुई आंवला, चित्रकमूल जंगली प्याज, हरड़, बावची, सदाबहार की जड़ें तथा पत्ते, सोम, कालादाना आदि।

- **मेसर्स पी.एस.एस. एक्सपोर्टस**
  52, पी.एस.एस. नादर स्ट्रीट,
  टूटी कोरण, तमिलनाडु- 628001.
  फोन (0461) 326810. फैक्स (0461) 326404.

  संपर्क सूत्र : श्री पी.एस.एस. रामचन्द्रन

खरीदी जाने वाली प्रमुख जड़ी बूटियां : सनाय के पत्ते तथा फलियां एवं पावडर, गुड़मार के पत्ते, नीम के पत्ते तथा निम्बौली, अश्वगंधा, आंवला, खस, शंखपुष्पी, लेमनग्रास, युकेलिप्टस, बड़ा गोखरू/ छोटा गोखरू, कलिहारी की जड़ें/ बीज, सदाबहार के पत्ते/ जड़ें, कालमेघ, तुलसी पत्ते / पावडर, धतूरा के बीज, पुर्ननवा, कपूर कचरी, काली मूसली, भृंगराज, बिदारीकंद, अडूसा के पत्ते, शतावर आदि।

- **मेसर्स जयराम दास खुशीराम**
  प्लाट क्र. 5, सेक्टर 19-सी,
  (पंजाब नेशनल बैंक के सामने), वाशी,
  नई मुम्बई -400703.
  फोन : (कार्या.) (022) 801232/7653178/7658111
  (निवास) (022) 7891651/7891741

(विभिन्न जड़ी-बूटियों के खरीददार)

- **मेसर्स डेक्कन फाइटोकैमीकल्स**
  309, काबरा काम्पलैक्स,
  61, एम.जी.रोड़, सिकन्दराबाद- 500003.
  फैक्स : (040) 771033.

  संपर्क सूत्र : श्री मनीष करनानी

खरीदी जाने वाली प्रमुख जड़ी-बूटियां : कलिहारी के बीज, आंवला के फल, अश्वगंधा की जड़ें, गोखरू के फल, सनाय पत्ती, बला के एरियल पार्टस.

- **मेसर्स आदिनाथ ट्रेडिंग कंपनी,**
  मण्डी प्रांगण, नीमच (म.प्र.)
  फोन : (07423) 22879/25961

  संपर्क सूत्र : श्री विनीत जैन

(अश्वगंधा, केवांच, बायविडंग, चन्द्रशूर के खरीददार)

- **मेसर्स राज एण्ड कंपनी**
  दशहरा मैदान, नीमच - 458 441.
  फोन /फैक्स (07423) 21600/25341.

  संपर्क सूत्र : श्री विजय कुमार

खरीदी जाने वाली प्रमुख जड़ी-बूटियां : अश्वगंधा की जड़ें, सफेद मूसली, हर्रा, शतावर, हीना पावडर, गुग्गुल, इसबगोल के बीज, धवाई फूल, बच, मुलेठी, सर्पगंधा, शंखपुष्पी, बेलगिरी आदि।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

- **मे. क्लासिक मेडी हर्बस**
  323, तीसरा मेन, जे.पी. नगर, तीसरा फेज़,
  बंगलौर - 560078. फोन (080) 645783/5721558.
  संपर्क सूत्र : श्री के.सुरेश

खरीदी जाने वाली प्रमुख जड़ी-बूटियां : अश्वगंधा जड़ें, अर्जुन छाल, आंवला, बायविडंग, कालमेघ, धवाई फूल, डाकपापड़ा बीज, डीकामाली, गिलोय, हर्रा, करंज, केसूफूल, लोधाछाल, मकोय, मरोड़फली, नागरमोथा, रोढाछाल, सतावर, कालीजीरी, मलकांगनी, छोटा गोखरू बीज आदि।

- **मे. विजय हर्बस एंड एसेन्शियल आयल्स**
  ए-46, शैलेष होम्स, सर्वधर्म कालोनी,
  कोलार रोड, भोपाल (म.प्र.)
  फोन : (0755) 794181/760573.
  फोन : (07573) 32326
  संपर्क सूत्र : श्री संजय कुशवाह

(मेन्था आयल, लेमनग्रास आयल, सिट्रोनेला आयल, तुलसी आयल, जामारोजा आयल के थोक खरीददार)

- **सिद्धायु आयुर्वेदिक रिसर्च फाउन्डेशन प्रा.लि.**
  वैद्यनाथ हाऊस, 20 ग्रेट नाग रोड,
  नागपुर - 460009. फोन : (0712) 743755, 748615.
  फैक्स 0712 748604

खरीदी जाने वाली प्रमुख जड़ी बूटियाँ : 1. अशोक छाल 2. अनंतमूल, 3. अडूसा पचांग, 4. अर्जुन छाल, 5. अर्पी पचांग, 6. आंवला कली, 7. कटेरी बड़ी, 8. कटेरी छोटी, 9. कालमेघ, 10. कूठमीठा, 11. कूड़ा छाल, 12. खौर, 13. खश, 14. गम्भारी छाल, 15. गुड़मार, 16. गोखरू पचांग, 17. गिलोय, 18. चन्दन सफेद, 19. चव्य, 20. चित्रक मूल, 21. तुम्बड़ बीज, 22. तुलसी, 23. तेजपत्ता, 24. दारूहल्दी, 25. देवदारु, 26. घायफूल, 27. नागरमोथा, 28. निशोध, 29. नीमपत्ती, 30. नीमछाल, 31. पाटला छाल, 32. प्रसारणी, 33. पृष्ठपर्णी, 34. पुनर्नवामूल, 35. बला, 36. बबूलछाल, 37. वच, 38. बहेड़ा, 39. बायविडंग, 40. ब्राम्ही, 41. विजयसार, 42. विदारीकंद, 43. विधारामूल, 44. बेलछाल, 45. बेलगिरी, 46. भृंगराज, 47. मंजीठ, 48. मूसली स्याह, 49. रास्ना जड़, 50. लोध्र छाल, 51. शतावरी, 52. शंखपुष्पी, 53. सनाय पत्ती, 54. शालपर्णि, 55. सेमलछाल, 56. सोनाछाल, 57. हरड़ छोटी, 58. हरड़ बड़ी, 59. अकरकरा, 60. असगंध, 61. अजवायन, 62. इलायची बड़ी, 63. इलायची छोटी, 64. वृद्धि, 65. काकोली, 66. कुटकी, 67. गुग्गुल, 68. चिरायता, 69. चोपचीनी, 70. जटामांसी, 71. जीरा स्याह, 72. जीरा सफेद, 73. दालचीनी, 74. धनिया, 75. नागकेशर, 76. पीपल बड़ी, 77. पीपल छोटी, 78. पीपला मूल, 79. बंशलोचन, 80. बबूल गोंद, 81. मिरच काली, 82. मूसली सफेद, 83. मुलेहटी, 84. लवंग, 85. शिलाजितपत्थर, 86. सर्पगन्धा, 87. सौंफ, 88. सोंठ, 89. हल्दी, 90. आमलासार गन्ध, 91. कुचला, 92. प्रवाल शाखा, 93. प्रवाल जड़, 94. शंखनामि 95. श्रृंगीमोहरविष.

- **आर्य वैद्यशाला**
  कोट्टाक्काल,
  जिला मल्लापुरम्, केरल - 676503.
  फोन : (0493) 742216 से
  19, 742561 से 64, 742571.
  फैक्स : (0493) 742210/742572.

सम्पर्क सूत्र : श्री के.वी. रामचन्द्रन, मेटेरियल्स मैनेजर

खरीदी जाने वाली प्रमुख जड़ी-बूटियां : बच के राइज़ोम, गुंजा सफेद, बीजरहित आंवला के फल, ज्योतिशमती के सूखे बीज, अनन्त मूल, कुटज, चिरायता का पंचांग, बायविडंग, नागरमोथा की जड़ें, बिलवा, गोखुर के फल, बहेड़ा, हर्रा, अर्जुन छाल, अश्वगंधा की सूखी जड़ें, धवाई फूल आदि.

- **ईस्ट एंड वेस्ट ट्रेडिंग कम्पनी**
  1/103, इन्दिरा विहार, पुराना जानीपुर,
  जम्मू - 180070
  फोन : 548222 फैक्स : 534692

(सफेद मूसली, अकरकरहा, कालमेघ, घी कुंआर आदि के थोक खरीददार)

- **नर्बदा हर्बल्स एंड मेडीसीनल प्लांटस**
  केराब्स बिल्डिंग, सिविल लाइन्स,
  रेल्वे स्टेशन के पास, जबलपुर (म.प्र.)
  फोन : (0761) 321708/24770
  सम्पर्क सूत्र : श्री श्याम सोहाने
  (अश्वगंधा, बच आदि के खरीददार)

- **मे. मूलचन्द फूलचन्द**
  जुमेराती, भोपाल (म.प्र.)
  (विभिन्न जड़ी-बूटियों के थोक खरीददार एवं विक्रेता)

- **राकेश प्रोक्टड्स,**
  7/177-ए, स्वरूप नगर,
  कानपुर - 208002 (उ.प्र.)
  फोन : 214071, 210236/
  294693/210290

(कालमेघ, बच, ग्वारपाठा, सफेदमूसली, अम्बाड़ी, अकरकरहा, आदि के खरीददार)

ई-मेल: rakeshin@lwl.vsnl.net.in
rakesh@Lwl.vsnl.net.in
वेबसाईट : http:://www.rakeshin.com.

- **पी.एम. मिन्ट प्रोडक्ट्स**
  306/ए, राजेन्द्र जैना टावर
  कामर्शियल काम्पलैक्स,
  पेट्रोल पम्प के पीछे
  वजीरपुर, दिल्ली - 52,
  फोन : (011) 741400/7434500 (कार्या.)
  749077 (निवास)
  ई-मेल: Mint-herbal@mantsaorline.com
  सम्पर्क सूत्र : श्री प्रहलाद कुमार रोहिरा/मोती सिंह रावत

मेन्था आयल, फ्लेक्स, क्रिस्टल आदि के खरीददार)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

निर्यात के लिये प्रतिबंधित औषधीय पौधे

पूर्व में हुए अंधाधुंध विदोहन के कारण वर्तमान में अनेकों औषधीय पौधे लुप्त होने की कगार पर हैं। परिणामतः महानिदेशक, विदेश व्यापार (Director General of Foreign Trade) द्वारा ऐसे 46 लुप्त प्रायः पौधों का निर्यात करने पर प्रतिबंध लगा दिया गया है। भविष्य में इन पौधों तथा इनके उत्पादों के निर्यात तथा व्यापार की अनुमति तभी दी जा सकेगी यदि इन्हें खेती करके प्राप्त किया जाये। इन प्रतिबंधित औषधीय पौधों की सूची निम्नानुसार है -

1. Aconitum spp. (अतीस, अतिविष आदि)
2. Attropa spp. (भारतीय एट्रोपा, बेलाडोना)
3. Aristoloshia spp. (कीड़ामार, ईशरीमूल)
4. Angiopteris spp.
5. Arundinaria Jaunsarensia
6. Balanophora spp.
7. Colchicum luteum (Hirantutya) (हिरनतूतीया)
8. Commiphora Whightii (गुग्गलु)
9. Coptis spp. (ममीरा)
10. Cyathea gigantea
11. Dioscorea deltoidea
12. Drosera spp. (मुखजली, चित्रा आदि)
13. Gentiana kurroo (Kuru, Kutki) (कर, कुटकी, नीलकण्ठ)
14. Gloriosa superba (कलिहारी)
15. Gnetum spp.
16. Iphignia indica (निरपनई, चन्द्रबोल)
17. Meconopsis betonicifolia
18. Nardostachys spp.(jatamansi) (जटामांसी)
19. Osmunda spp.
20. Rauwolfia spp. (Serpgandha) (सर्पगंधा)
21. Rhododendron spp. (निचनी, बुरांश, रतनकट, केमू)
22. Podophyllum hexandrum (पापरी, पापड़ा, बकरचिमका)
23. Physochlaina praealta (Bajarbang) (बजरबंग, शोलर)
24. Praltia serpumlia
25. Rheum emodi (Dolu) (डोलू)
26. Berberis aristata (Indian barberry; Rasvat) (रसावत, दारूहरिद्रा)
27. Acorus spp. (बच)
28. Artemisia spp.(विलायती अफसानी, कीरमाल, कीड़ामाल, दवाना, नागदोना)
29. Coscinium fenestratum (calumba wood)
30. Costus speciosus (Keu. Kust) (केवकंद, केमुका, केऊ, कस्ट)
31. Didymocarpus pedicellata (शिलापुष्प, पाथरफोड़ी)
32. Dolomiaea pedicellata
33. Ephedra spp. (आसमातिया, बड़ागुर, छेवा)
34. Gynocardia odorata (Chaulmogri) (चोलमोगरी, बोनशा)
35. Hydnocarpus spp. (दलमुगरी, गरूड़फल)
36. Hyoscyamus niger (Broseword) (खुरासानी अजवायन)
37. Strychnos potatorum (Nirmali) (निर्मली)
38. Swertia chirata (Charayatah) (चिरायता)
39. Taxus baccata (Yewu; Birm) (थुनेर, बर्मी)
40. Urginea spp. (जंगली प्याज)
41. Cycas beddomei (Beddomes cycas)
42. Vandaeoe rulea (Blue vanda)
43. Saussurea Jappa (Kuth)
44. Paphiopedilium spp. (Ladies Slipper orchid)
45. Nepenthes Ehastana (Pitcher plant) (घटपर्णी)
46. Renanthera imschotiana (Red vanda)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

औषधीय उपयोग के कुछ अन्य पौधे तथा जड़ी-बूटियाँ

क्र.	हिन्दी नाम (अंग्रेज़ी नाम)	लेटिन नाम (वानस्पतिक नाम)	परिचय	उपयोगी अंग	स्वभाव तथा औषधीय उपयोग
1.	अंकोल (ढेरा)	Alangium Salvifolium	10 से 20 फीट ऊँचे पौधे	जड़ की छाल, पत्ते, फल, बीज तथा बीजों से प्राप्त तेल	कफ वात शामक एवं पित्त संशोधक, वेदना स्थापक, शोथहर, विषघ्न, यकृदुत्तेजक, वामक, रेचक, मूत्रल, स्वेदजनक, ज्वरघ्न, त्वग्दोषहर.
2.	अंजवार (Alpine Knot-Weed)	Polygonum bistorta Linn	4 से 5 फुट ऊंची झाड़ी	मूल या जड़	अतिसार में उपयोगी, रक्तातिसार, रक्त प्रवाहिका, रक्तमूत्र तथा रक्त प्रदर में उपयोगी.
3.	अंजरूत/लाई अथवा लाही	Astragalus Sarcocola Dymock	कंटीला वृक्ष	गोंद (अंजरूत)	मुख्यतया यूनानी चिकित्सा पद्धति में प्रयुक्त, कफरेचक, पिच्छिल, श्वयथुविलयक तथा ब्रणलेखक.
4.	अंजीर (Fig)	Ficus Carica Linn	15 से 30 फीट ऊँचे वृक्ष	पके हुए फल	पुष्टिकर जीवनीय मेवा है, शरीर का परिवृहण करता है तथा रंग निखारता है पाचक तथा कब्ज़ निवारक है, कास एवं कफोत्सर्ग में उपयोगी है तथा अखरोट के साथ खाने से उत्तम बाजीकारक है.
5.	अकरकरहा (Pyrethrum Root)	Pyrethrum Radix (Anacyclus Pyrethrum C.D.)	कोमल शाकीय पौधे (एक से डेढ़ फीट तक के)	मूल तथा फूल	वातकफनाशक, कटु-पौष्टिक नाड़ीबल्य, वेदनास्थापक, कामोद्दीपक
6.	अगर (Aloe Wood or Eggle Wood)	Aquilaria Agallocha Roxb.	सदाबहार ऊँचे-ऊँचे वृक्ष (60 से 100 फुट तक ऊँचे)	लकड़ी (वुड) एवं लकड़ी का तेल	अगर की लकड़ी तथा तेल का उपयोग अगरबत्ती तथा धूपबत्ती बनाने में तथा इसका लेप शोथहर, वेदनास्थापक, नाड़ी संस्थान के लिए उत्तेजक, हृदयोत्तेजक, मूत्राशय शैथिल्य हर होता है तथा इसकी लकड़ी मुख दुर्गन्धनाशक होती है।

बच (AQUARUS CALAMUS)
के अनुभवी विशेषज्ञ, बड़े स्तर पर उत्पादनकर्ता तथा
उत्कृष्ट प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता
सुबह एग्रो प्रोडक्टस
सम्पर्क सूत्र : संजय धूपर 18/46, पेन्टी नाका, क्वीन्ज रोड, कैन्ट, जबलपुर- 482001 (0761) 324702

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

	(Aloe Wood or Eggle Wood)	Roxb.	वृक्ष (60 से 100 फुट तक ऊँचे)	एवं लकड़ी का तेल	उपयोग अगरबत्ती तथा धूपबत्ती बनाने में तथा इसका लेप शोथहर, वेदनास्थापक, नाड़ी संस्थान के लिए उत्तेजक, हृदयोत्तेजक, मूत्राशय शैथिल्य हर होता है तथा इसकी लकड़ी मुख दुर्गन्धिनाशक होती है।
7.	अग्निमन्थ/गिनेरी अथवा गनियारी	Premna Iatifolia Roxb.	झाड़ीदार छोटे वृक्ष	मूल एवं पत्ते	विभिन्न कम्पनियों द्वारा बनाये जाने वाले दशमूलों तथा पंचमूलों का यह एक महत्वपूर्ण उपादान है मुख्यतया यह कफवातशामक, वेदनास्थापक, शोथहर, पौष्टिक, अनुमोलक, कफघ्न, प्रमेहघ्न तथा शीतप्रशमक होता है।
8.	अजमोद अथवा अजमोदा	Trachy Spermum Roxburghianurn (D.C.) Sprague	एक से तीन फुट तक ऊँचे पौधे (देखने में अजवाइन के पौधों जैसे)	सुखाए हुए फल (बीज)	रेचक, दीपक, शूलप्रशमक, वातकफनाशक तथा हिचकी, आध्मान, कृमि, अरूचि एवं उदर रोगनाशक.
9.	अजवाइन (Kings Cumin)	Trachy Spermum Ammi	एक से चार फुट तक ऊँचा पौधा	बीज (फल) पत्ते, तेल तथा अर्क	यह दीपन पाचक, वातानुलोमक, शूलप्रशमक (पेट दर्द दूर करने वाला जीवाणुनाशक, गर्भाशया–

जड़ी-बूटियों तथा एसेन्शियल ऑयल्स के खरीददारों की जानकारी प्रदान करने वाली पुस्तक

लघु विपणन निर्देशिका (पांचवां संस्करण)

जड़ी-बूटियों की खेती अथवा कलेक्शन करने के इच्छुक व्यक्तियों को इनके विपणन से संबंधित जानकारी प्रदान करने के उद्देश्य से उद्यमिता विकास केन्द्र मध्यप्रदेश (सेडमैप) द्वारा ''**लघु विपणन निर्देशिका**'' नामक पुस्तक का प्रकाशन किया गया है, जिसमें संकलित किए गए प्रमुख विषय निम्नानुसार हैं - •औषधीय एवं सुगंधीय पौधों की खेती हेतु मार्गदर्शन प्रदान करने वाले व्यक्तियों/संस्थाओं के पते.•जड़ी-बूटियों की खेती हेतु लगने वाले बीजों/प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ताओं के पते.•जड़ी-बूटियों/एसेन्शियल ऑयल्स के प्रक्रियाकरण हेतु लगने वाले उपकरणों/आसवन संयंत्रों के प्रदायकर्ताओं के पते.•मेन्था ऑयल, मेन्था बोल्ड एण्ड क्रिस्टल्स तथा एसेन्शियल ऑयल्स के खरीददारों, डीलरों, उपयोगकर्ताओं, विक्रेताओं तथा ब्रोकर्स के पते.•मेन्था उत्पादों/मेन्था ऑयल/मेन्था बोल्ड क्रिस्टल्स के प्रमुख संभावित खरीददारों तथा उपयोगकर्ताओं के पते.•आयुर्वेदिक औषधियों का निर्माण कर रही प्रमुख इकाइयों/उद्यमियों तथा हर्बल जड़ी-बूटियों के प्रमुख खरीददारों के पते.•मेन्था उत्पादों, नेचुरल एसेन्शियल ऑयल्स तथा एरोमैटिक कैमीकल्स के प्रमुख निर्यातकों के पते.•जड़ी-बूटियों तथा हर्बल उत्पादों के निर्यात में संलग्न कुछ प्रमुख भारतीय कंपनियों के पते.

पुस्तक की कीमत - 150/

उपरोक्तानुसार शुल्क का भुगतान करके यह पुस्तक **उद्यमिता विकास केन्द्र मध्यप्रदेश(सेडमैप)** **60**, जेल रोड, जहांगीराबाद, भोपाल- **462 008** से प्राप्त की जा सकती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

11. अपराजिता	Clitoria Ternatea Linn.	बहुवर्षीय चक्रारोही लताएँ	जड़, बीज तथा पत्ते	स्मृति एवं बुद्धिवर्धक, कफवात नाशक, शोथ एवं बणवाचक, मूत्रजनक, श्वास-कासहर, मल-भेदक, वेदनास्थापक, शिरोविरेचक तथा रेचक
12. अफसंतीन अथवा विलायती अफसंतीन (Mug-Wort)	Artemisia Absinthium Linn.	उत्तरी अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका साईबेरिया, मंगोलिया, खुरासान तथा भारत में काश्मीर में पाया जाने वाला बहुवर्षीय पौधा	ताज़ा एवं शुष्क पंचांग	मस्तिष्क दौर्बल्य, मिरगी, शिरशूल कम्पवात, पक्षाघात, अँगघात, एवं अर्दित इत्यादि मस्तिष्क एवं वातरोगों में उपयोगी। यकृत प्लीहा एवं जीर्णज्वरों में भी उपयोगी।
13. अमरबेल अथवा अमरवल्ली (Dodder)	Cascuta Refflexa Roxb.	पराश्रयी लता सर्वत्र भारत में वृक्षों तथा झाड़ियों पर चढ़ी मिलती है।	सम्पूर्ण पंचांग (लता एवं बीज)	वेदना स्थापक, शोथहर, केश्य, ग्राही, यकृदुत्तेजक, रक्तशोधक, मूत्रल, स्वेदजनक, ज्वरघ्न तथा कटुपौष्टिक है।
14. अमलतास (Cassia Fruit)	Cassiae Fistula Linn.	मध्यमाकारी 6-10 मीटर ऊँचा पौधा	मूल, फल की गिरी, पत्ते तथा फूल	ताज़े फूल गुलकन्द बनाने हेतु प्रयुक्त, कुष्ठघ्न, मृदु रेचक, चरकोक्त, कण्डूघ्न तथा कृतमाल
15. अमलबेत	Garcinia Pedunculata Roxb.	50-60 फुट ऊँचे वृक्ष	फल	हृदयोत्तेजक, भेदक, अनुमोलक दीपन-पाचक, हिक्कानिग्रहक, कासश्वासहर, मूत्रल तथा पित्त-रक्तसंशमक। इसके रस के शर्बत से पित्त एवं रक्तगत उद्वेग का शमन होता है।
16. अयापान (Ayapana Tea)	Eupatorium Ayapana Vent.	मूलतः अमेरिका का पौधा। भारत में बगीचों में लगाया जाता है।	पंचांग (मुख्यतया पत्ते)	यह एक उत्तम रक्तभस्मक औषधि है। साधारण मात्रा में लेने पर हृदयोत्तेजक तथा बल्य प्रभावी तथा अधिक मात्रा में लेने पर सारक। पत्तियों का ऊष्णफाण्ट हृल्लासजनक, स्वेद-जनक तथा शीतप्रशमक।
17. अर्जुन	Terminalia Arjuna	60-70 फुट तक ऊँचे विशालकाय वृक्ष	तने की छाल	रक्तस्तम्भक, हृदय रोगों में उपयोगी, उच्च रक्तचाप को सामान्य बनाने में उपयोगी, रक्तपित्तशामक तथा प्रमेहनाशक।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

18.	अलसी (Linseed)	Linum Usitatissimum Linn.	जाड़े की फसल के रूप में सम्पूर्ण भारत में उत्पादित 2 से 4 फुट ऊँचे एक वर्षीय पौधे	बीज, बीजों से प्राप्त तेल तथा फूल	बाहरी रूप में लगाने से शोथ विलयक-फोड़े-फुन्सी को शीघ्रता से पकाता है। इसका लुआब कम-निस्सारक एवं कासहर है। बीज एवं तेल पौष्टिक, बाजीकर एवं गर्म तासीर है। जले हुए भाग पर इसका तेल चूने के पानी में मिला कर लगाने से तत्काल लाभ मिलता है।
19.	आंबाहल्दी (Mango Ginger)	Curcuma Aromatica Salisb	द्विवर्षीय कांडहीन हल्दी के समान एक से दो फुट उँचे विशिष्ट गंधयुक्त पौधे	कन्द	सुगंधीय उपयोगों, एन्टीसेप्टिक क्रीमों तथा सौन्दर्य प्रसाधनों के निर्माण हेतु प्रयुक्त
20.	आक (Madar or Giagantic Swallo-Wort.)	Calotropis Gigantea R.Br.	3 से 10 फीट तक ऊँचा पौधा	मूल, पत्ते, फूल, दूध (the milky Juice) एवं मन्दारशर्करा	वेदनास्थापक, शोथघ्न, कुष्ठघ्न, वमनोपग, दीपक-पाचक, वामक, कफनिःस्सारक तथा श्वासहर
21.	आमड़ा अथवा आम्रातक (Hog-Plum Tree)	Spondias Pinnata	बहुवर्षीय वृक्ष	फल तथा गोंद	पका हुआ फल वातपित्तशामक एवं कफवर्धक। रेचक, हृदय रक्त स्तम्भक, सारक तथा दाहप्रशमक
22.	हिंगोट अथवा इंगगुदी	Balanites Aegyptiaca Linn.	10 से 20 फुट ऊँचे कांटेदार वृक्ष	फल एवं तेल	इसका फल शिरौविरेचक, कफ निस्सारक, विषघ्न, रेचक तथा कृमिघ्न होता है। यह मूत्रल शुक्रघ्न तथा कुष्ठघ्न भी है। इसका तेल केश्य, ब्रणरोपक जन्तुघ्न तथा त्वचारोग नाशक होता है।

वैदिक हर्ब्स

(DEVOTED FOR HUMAN HEALTH BY NATURAL WAY)

औषधीय एवं सुगंधीय पौधों/प्लान्टिंग मेटेरियल के

प्रमुख उत्पादक एवं प्रदायकर्ता

हमारे फार्म पर मात्र जैविक खाद का उपयोग होता है।
तकनीकी जानकारी एवं कृषि पद्धति हेतु संपर्क कर सकते हैं।

105/सी, इन्द्रपुरी, रायसेन रोड, भोपाल
दूरभाष (0755) 754708, 261187, 98270-15016
फैक्स : 710870, E-mail : herbsvedic@hotmail.com

अशोक गुप्ता
ऊषा कॉलोनी, डबरा,
जिला ग्वालियर (म.प्र.)
दूरभाष : (07524) 22783

- सफेद मूसली
- लेमनग्रास
- मेन्था
- अरंडी
- हल्दी
- अश्वगंधा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

25.	ईशरमूल/ईश्वरमूल अथवा इसरौल (Indian Birth Wort)	Aristo Lochia Indica Linn.	काष्ठीय, बहु-वर्षीय प्रतानिनी लताऐं	जड़ एवं काण्ड	कफवातनाशक, शोथहर, वेदना स्थापक, विषघ्न, कम मात्रा में कटुपौष्टिक तथा अधिक मात्रा में ज्वरनाशक (विशेषतः विषमज्वर एवं सूतिकाज्वर नाशक) रक्त शोधक, मूत्रल, स्वेदजनक, कफ निस्सारक, ग्राही, गर्भाशयोत्तेजक
26.	उटंगन/उतंगन	Blepharis Edulis Pers.	कंटीली झाड़ियाँ (शरीर पर पौधा लगने से लाली, खुजली तथा जलन पैदा करता है।)	बीज	नपुंसकता, शीघ्रस्खलन, शुक्रतारल्य एवं शुक्रमेह आदि में प्रयुक्त होने वाले माजूनों एवं चूर्णों में प्रयुक्त।
27.	उन्नाव/तितमबेर अथवा कडियारी (Jujub)	Zizyphus Sativa Gaertn.	कांटेदार बड़ी झाड़ियाँ अथवा छोटे वृक्ष	सूखे फल, पत्ते, छाल एवं गोंद	कफनिःस्सारक एवं उरोमार्दवकर, रक्तविकारशामक, तृषाहर एवं इक्षुमेहनाशक। श्वासपथ के रोगों में प्रयुक्त होने वाले क्वाथों में भी सहायक औषधि के रूप में प्रयुक्त।
28.	उलटकम्बल (Devil's Cotton)	Abroma Augusta Linn.	रोमवृत शाखाओं से युक्त छोटे वृक्ष	ताज़ी या सुखाई हुई जड़ विशेषतः छाल-मूलत्वक	गर्भाशय संबंधी विकारों में ज्यादा उपयोगी। इससे आर्न्तव साफ आता है तथा नियमित हो जाता है। यह आर्तवपीड़ाशामक है तथा रजोरोध एवं कष्टार्त्तव संबंधी विकृत्तियों में प्रयुक्त होता है।
29.	कंजा अथवा करंजुवा अथवा सागरगोटा (Bonduc Nut)	Caesal Pinia Crista Linn.	विस्तृत एवं कंटीले झाड़. शाखाएँ लम्बी तथा आरोहणशील	बीजों की गिरी, पत्ते तथा मूल	कफवातनाशक, शोथहर, वेदना स्थापक, दीपक तथा उन्मोलक, यकृदुत्तेजक, रेचक, कटुपौष्टिक कृमिघ्न, रक्तशोधक, कफघ्न श्वासहर, गर्भाशयोत्तेजक, मूत्रल, ज्वरघ्न, कुष्ठघ्न तथा यकृत प्लीहोदरनाशक। इससे बीज नियतिकालिक - ज्वरहर होते हैं तथा कुनैन का प्रतिनिधित्व करते हैं। सूतिकावस्था में सूतिका ज्वर न भी हो तब भी इसका प्रयोग उपयोगी होता है।

एरोमा हाउस (A Centre for Medicinal and Aromatic Plants)
विभिन्न औषधीय एवं सुगंधीय पौधों जैसे लेमनग्रास, सिट्रोनेला, जामारोजा आदि के • उत्पादक • प्रोसेसर्स • खरीददार • प्रदायकर्ता • कृषि कार्य हेतु परामर्शदाता • डिस्टीलेशन प्लांटस के प्रदायकर्ता तथा प्लांटिंग मटेरियल प्रदायकर्ता
सम्पर्क करें : श्री मुईन अहमद खान, एरोमा हाउस, 337-338 दानिश कुंज-2, दानिश हाऊसिंग कालोनी, कोलार रोड, भोपाल-462016 मोबाइल : 98270-57335

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

30. कंटहारी अथवा छोटी कंटकारी अथवा भटकटैया	Solanum Surattense Burm	भूमि पर फैले हुए छोटे कंटीले पौधे (क्षुप)	पंचांग	प्रतिश्वाम, श्वास, खांसी, पार्श्वशूल तथा स्वर भेद में उपयोगी
32. कपूर कचरी	Hedychium Spicatum	सुन्दर क्षुप पत्तियाँ एक फीट तक लम्बी	कंदाकार मूल स्तम्भ (Root Stock)	सिर पर लगाए जाने वाले तेल योगों में सुगन्धि के लिए कपूर कचरी डाली जाती है। यह शोथहर, दुर्गन्धिनाशक, कासहर, श्वासहर, ज्वरघ्न, त्वगदोषहर, वेदनास्थापक, तथा शूल प्रशामक है।
33. करंज अथवा डिठोरी (Indian Beech)	Pongamia Pinnata	बड़े-बड़े बहुशाखीय छायादार वृक्ष (50 से 60 फीट ऊँचे)	पत्ते, बीज, फूल, बीजों से प्राप्त तेल (पोंगेमिया ऑयल) तथा छाल	वातकफनाशक, रक्तशोधक ब्रजशोधक, शोथनाशक तथा कासहर
34. कायफल (The Box Myrtle)	Myrica Nagi Thumb	मध्यम ऊँचाई के सदाहरित वृक्ष	छाल	शिरोविरेचक, श्वासकासनाशक, रक्तस्तम्भक तथा कण्ठरोग में उपयोगी
35. कालादाना अथवा कृष्णबीज (Pharbitis Seeds)	Ipomoea Hederacea Jack	एकवर्षीय आरोहणी लता	बीज (कालादाना)	तीब्ररेचक तथा वातकफनाशक
36. कासनी (Endive)	Cichorium Intybus	एक से चार फुट तक ऊँचे वहुवर्षीय कोमल पौधे	पंचांग (बीज, जड़ तथा पुष्प)	कफपित्तशामक, दाहप्रशमक, शोथहर, निद्राजनक, यकृदुत्तेजक पित्तसारक, मूत्रल, कटु-पौष्टिक, दाह प्रशमक)
37. जमाल गोटा अथवा जयपाल (Croton Seeds)	Crotonis Semen	15 से 20 फुट ऊँचे सदाहरित वृक्ष	बीज एवं बीजों से प्राप्त तेल	तीब्र एवं उग्र स्वरूप की रेचक औषधि, शोथहर, ज्वरघ्न, विषघ्न एवं सफोटजनक
38. तालीसपत्र (Yew)	Taxus Baccata Linn.	मध्यम ऊँचाई के सदाहरित वृक्ष	पत्ते	कफवातशामक, वेदनास्थापक, रेचक, दीपक, वातानुलोमक ज्वरघ्न, श्वास-कासहर, मूत्रल एवं बलवर्धक।
39. धवई अथवा धाय (Downy Grislea)	Wood Fordia Fruticosa	मध्यम आकारीय लम्बी फैली हुई शाखाओं वाले पौधे	फूल अथवा पुष्प	कफ पित्तशामक, मूत्र विरजनीय ज्वरघ्न, दाहप्रशमक, रक्तस्तम्भक तथा शीतग्राही

मेन्था, तुलसी, जर्मन चमेली तथा जामारोज़ा के प्लांटिंग मेटेरियल हेतु सम्पर्क करें

माहेश्वरी एरोमेटिक्स

बागचीनी चौराहा, एम.एस. रोड, मुरैना (म.प्र.) फोन (07537) 55351.

सम्पर्क सूत्र : अखिल माहेश्वरी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

40. नागकेसर (Iron Wood Tree)	Mesua ferra Linn	मध्यम कद के सदाहरित वृक्ष	पुष्प	कफपित्तशामक, दुर्गन्धिनाशक, स्वेदापनयन, दीपन-पाचक, ग्राही, रक्तस्तम्भक, बल्य, बाजीकारक, मूत्रजनक, मेध्य
41. निर्मली (Clearing Nut)	Strychnos Potatorum Linn	मध्यम कद के (कभी-कभी 40 फुट तक ऊँचे वृक्ष)	बीज	जलशोधक, कफवातशामक स्तम्भक, रेचक, मूत्रजनक, (जल को शुद्ध करने में यह अत्यंत प्रभावी है। इसके बीजों को उपयोग वमन कराने के लिए किया जाता है।)
42. नील (Indigo)	Indigofera Tinctoria Linn	एकवर्षीय 6 फुट तक के पौधे	पंचांग (विशेषतया, बीज, पत्ते तथा मूल)	केशरंजक, केशवर्धक, दीपन-पाचक, स्वेदजनक, ज्वरघ्न, बलवर्धक, बाजीकारक, मूत्र, कफघ्न तथा विषघ्न। इसके स्वरस का उपयोग पागल कुत्ते के विष के शमन हेतु, मूलक्वाथ संखिया विष के निवारण हेतु तथा पत्तों का उपयोग खिजाब में डालने हेतु किया जाता है।
43. पलास अथवा पलाश (Bastard Teak)	Butea Monosperma	मध्यम कद के बहुवर्षीय वृक्ष	फूल बीज, गोंद, पत्ते एवं क्षार	इसके बीजों से आंत्रकृमिघ्न औषधियाँ तथा गोंद से शुक्रमेह निवारण हेतु औषधियां बनती हैं। इसकी छाल मूत्रजनक तथा वीर्यपुष्टिकर होती है, गोंद अम्लतानाशक तथा रक्तस्तम्भक होती है तथा फूल मूत्रल, दाहप्रशमक तथा श्वेतप्रदरनाशक होते हैं।

Vaidyaraj Zandu Bhavan
National Ayurvedic Libra
Punjabi Bagh, New Delhi-
Call No.......................
Book No.......................
Acc No.......................

इबोनी डिस्टिलरी प्रा. लि.
(EBONY DISTILLARY Pvt. Ltd.)
कार्या : 342, पूर्वी बेलबाग मेन रोड, जबलपुर (म.प्र.) - 482002 फोन (0761) 344504 (नि.).
(सम्पर्क सूत्र : श्रीमती मधु शुक्ला)
मेन्था, लेमनग्रास, सिट्रोनेला, पामारोजा आइल के उत्पादक तथा
उपरोक्त पौधों की खेती हेतु उत्कृष्ट प्लांटिंग मेटेरियल के प्रदायकर्ता

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पुस्तक के विषय में

परम्परागत खेती की अपेक्षा प्रत्येक दृष्टि से अत्यधिक उपयोगी होने के कारण पिछले 2-3 वर्षों से औषधीय एवं सुगंधीय पौधों की खेती की ओर समाज के प्रत्येक वर्ग का रुझान आश्चर्यजनक रूप से बढ़ा है। आज न केवल ग्रामीण क्षेत्रों का युवा वर्ग तथा कृषक, बल्कि शहरी युवाओं के साथ-साथ ऐसे व्यक्ति भी औषधीय पौधों की व्यवसायिक खेती की ओर आकृष्ट हो रहे हैं जो अभी तक इस प्रकार की खेती को एक शौक के रूप में लेते रहे हैं। इस प्रकार एक तरफ जहां यह इस क्षेत्र के लिए एक शुभ संदेह है, वहीं यह उन समस्त संस्थाओं एवं व्यक्तियों के लिए चुनौती का विषय भी है जो इस क्षेत्र के विकास के लिए कार्य कर रहे हैं क्योंकि अब प्रत्येक व्यक्ति इन्हें शौक के रूप में न अपना करके व्यवसायिक रूप में अपनाना चाहता है तथा इनकी खेती के क्षेत्र में पर्दापण करने से पूर्व इनके प्रत्येक पहलू पर ज्यादा से ज्यादा जानकारी प्राप्त करना चाहता है। इस दृष्टि से यद्यपि उद्यमिता विकास केन्द्र मध्यप्रदेश (सेडमैप) द्वारा अपने प्रशिक्षण कार्यक्रमों के माध्यम से इस क्षेत्र में व्यापक जागरूकता लाने का प्रयास किया गया है परन्तु इनके साथ-साथ ऐसे साहित्य की भी नितान्त आवश्यकता महसूस की जा रही थी जिसमें जड़ी-बूटियों के विभिन्न पहलुओं पर नवीनतम, व्यवहारिक तथा आम बोलचाल की भाषा में जानकारियां संकलित हों ताकि यह उनके लिए एक संदर्भ ग्रन्थ का कार्य कर सके। इस क्षेत्र में कार्य करने के इच्छुक व्यक्तियों तथा जनसामान्य की इसी इच्छा का प्रतिफल है यह पुस्तक ***"व्यवसायिक खेती के लिए उपयुक्त औषधीय एवं सुगंधीय पौधे"*** जिसके इस द्वितीय संस्करण में ऐसे 61 औषधीय पौधों की खेती तथा उनके अन्य पहलुओं पर जानकारियां प्रस्तुत की गई हैं जिनकी खेती के लिए मध्यप्रदेश तथा आस-पास के प्रदेशों की जलवायु काफी उपयुक्त है तथा जिनके उत्पादों के लिए बाजार आसानी से उपलब्ध है। विभिन्न पौधों की सामान्य जानकारी के साथ-साथ इनकी खेती के लिए उपयुक्त भूमि, जलवायु, पानी, खाद तथा कीट प्रबंधन आदि जैसे पहलुओं पर विस्तार से प्रकाश भी इस पुस्तक में डाला गया है। इसके साथ-साथ इनके प्रक्रियाकरण तथा विपणन की संभावनाओं पर चर्चा भी पुस्तक में की गई है। पुस्तक में संकलित लेख मुख्यतया उन्हीं विशेषज्ञों द्वारा रचित हैं जो स्वयं इन पौधों की खेती व्यवसायिक स्तर पर कर रहे हैं तथा इनके बारे में व्यवहारिक जानकारियां रखते हैं। जड़ी बूटियों की खेती के क्षेत्र में पर्दापण करने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए यह पुस्तक निश्चित ही उपयोगी सिद्ध होगी।

उद्यमिता विकास केन्द्र मध्यप्रदेश (सेडमैप)

मध्यप्रदेश शासन, अखिल भारतीय वित्तीय संस्थाओं, राज्य के अग्रणी व्यवसायिक बैंकों तथा राज्य निगमों द्वारा प्रवर्तित एक स्वायत्तशासी संस्थान के रूप में वर्ष 1988 से स्थापित संस्थान उद्यमिता विकास केन्द्र मध्यप्रदेश (सेडमैप) की स्थापना का मूल उद्देश्य प्रत्येक स्तर पर उद्यमिता के प्रसार हेतु कार्य करना है। इस संदर्भ में एक ओर जहां संस्थान द्वारा शिक्षित बेरोजगार युवाओं को विभिन्न उद्योगों/व्यवसायों की स्थापना हेतु प्रशिक्षण तथा मार्गदर्शन प्रदान किया जाता है वहीं पूर्वतया स्थापित उद्यमियों की कार्यदक्षता में सुधार लाने हेतु भी प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं। संस्थान द्वारा विभिन्न श्रेणियों के युवाओं हेतु संचालित किए जाने वाले विभिन्न प्रशिक्षण कार्यक्रमों में अभी तक 40,000 से अधिक युवक-युवतियां प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके हैं।

औषधीय एवं सुगंधीय पौधों की खेती को प्रोत्साहित करने की दिशा में संस्थान द्वारा गत तीन वर्षों में किए गए कार्य को सर्वत्र प्रशंसा प्राप्त हुई है तथा इससे प्रदेश में औषधीय एवं सुगंधीय पौधों की खेती को एक नई दिशा मिली है। संस्थान द्वारा अपने प्रशिक्षण कार्यक्रमों के माध्यम से अभी तक 5000 से अधिक व्यक्तियों को जड़ी-बूटियों की खेती हेतु प्रशिक्षण प्रदान किया जा चुका है तथा लगभग 500 व्यक्ति इस क्षेत्र में सफलतापूर्वक कार्य प्रारंभ कर चुके हैं। प्रशिक्षण कार्यक्रमों के साथ-साथ संस्थान के प्रकाशनों तथा संस्थान के प्रशिक्षकों द्वारा दिए गए मार्गदर्शन ने भी इस क्षेत्र को लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। जड़ी-बूटियों की खेती के प्रति जनसामान्य के रूझान को देखते हुए इस क्षेत्र को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से संस्थान द्वारा इसे अपनी गतिविधियों में सर्वोच्च प्राथमिकता दी जा रही है

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection